धर्मबिन्दु

[टीकानुसारी-हिंदी भाषांतर]

मूल कर्ता

आचार्यवर्य श्रीमद् हरिभद्रसूरि

मूल्य
४-०-०

ग्रंथप्राप्तिस्थान
सार्वजनिक पुस्तकालय
नागजी भूधरकी पोल-अहमदाबाद.

प्राग्वचन

पूज्य आचार्यवर्य श्रीमद् हरिभद्रसूरिजीने रचा हुआ 'धर्मबिन्दु' ग्रन्थका यह भाषान्तर है। श्रीहरिभद्रसूरिजीके जीवन और कवन विषयमें उपोद्घातमें काफी प्रकाश डाला गया है। अत एव यहां उस विषयमें न लिखते हुए इस ग्रन्थका हिंदी भाषान्तर प्रगट करनेको हम क्यों उद्यत हुए इस विषयमें कुछ कह देना उचित है।

उपोद्घातमें कह ही दिया है कि जैन तत्त्वज्ञानके विषय-सागरको मानो गागरमें भर दिया हो वैसा इस ग्रंथमें प्रतीत होता है। इसमें प्रावेशिक ज्ञानके लिये जीवनके हर पहलु पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थकी निरूपण शैली ही ऐसी है कि जैन, जैनेतर कोई भी इसका अध्ययन करे तो सरलतासे जैन पदार्थोंका और विवेकपूर्वक जीवन कैसे बीताया जाय उसका पूरा ख्याल आ सकता है। महात्मा गांधीजीने भी जैनधर्मका वास्तविक ज्ञान इस पुस्तकसे ही प्राप्त किया था, दूसरे विद्वानोंने भी इसीको पढके जैन दर्शनका रहस्य प्राप्त किया है। इसलिये ऐसे ग्रन्थको प्रगट करना हमारे लिये परम आवश्यक प्रतीत हुआ।

पूज्य त्रिपुटी महाराजोंने मेरठ जिल्ला, यू. पी. आदि प्रदेशोंमें भ्रमण करके जो नये जैन बनाये उन लोगोके पठनके लिये हिंदी पुस्तकोका प्रगट करना आवश्यक था और इसीलिये पू. मुनिराज श्रीज्ञानविजयजी और स्व. पू. मु श्रीन्यायविजयजी महाराजने, अमदावादके नागजी भूधरकी पोलके संघने सं० १९९९ भाद्रपद सुदि ४ के रोज फंड इकट्ठा करके 'हिंदी जैन साहित्य प्रचारक

मंडल'की स्थापना की थी, इस मण्डलने उपर्युक्त हेतुसे यह पुस्तक प्रगट करनेका निश्चय किया।

पं. श्री अमृतलाल मोदीने इसका हिंदी भाषांतर किया है और पं. अम्बालाल प्रेमचंद शाहने इसे संशोधित करके प्रुफ संशोधन भी किया है। शारदा मुद्रणालयके संचालकोंने इसे बडी चावसे छाप दिया है एतदर्थ उन सबको धन्यवाद दे रहे हैं।

अंतमें हिंदी भाषाप्रेमीवर्ग इस ग्रन्थका प्रचार करके हमें ऐसे कार्यमे प्रोत्साहित करते रहें ऐसी आशा रखते हैं और पाठकवर्ग इस ग्रन्थको पढ कर सत्य ज्ञान प्राप्त करके आत्मकल्याणमें प्रवृत्ति करें तो हमारा यह प्रयत्न सफल हुआ समझेंगे।

वि सं. २००७
पोष वदि ११
असदाबाद
नागजी भूधर की पोल

मंत्री,
हिंदी जैन साहित्य प्रचारक मंडल

विषयानुक्रम

उपोद्घात

यह प्रकरण ग्रन्थ आ० हरिभद्रसूरिजीने बनाया है। उसका नाम है धर्मबिन्दु। वास्तवमें देखा जाय तो आज यह ग्रन्थ 'गागरमें सागर' सा मालूम पडता है। आ० हरिभद्रसूरिजीके सामने धर्मका मान-प्रमाण कितना होगा यह उनके दिये हुए नामसे ही प्रगट हो जाता है। जो कुछ हो, आज तो यह ग्रन्थ हमारे सामने बिन्दुमें ही सागरसा मालूम देता है और उसको देखते हुए आ० मुनिचन्द्रसूरिजीको उस पर टीका लिख कर इस ग्रन्थका गांभीर्य समझाना पडा है। आठ अध्यायोंमें विभाजित यह सूत्रबद्ध ग्रन्थ व्रती-जीवनके लिये पूरा और गहरा उपदेश देता है। प्रथम गृहस्थोंकी आचारविधि सामान्य और विशेष रूपसे दिखाकर साधुजीवनकी सामान्य और विशिष्ट विधि बता दी है। मनुष्यमें कहां कौनसी ऊणप है उसका व्रतपालनके लिये मानो अपने सामने एक आदर्श अरीसा धर दिया है। गृहस्थ और साधुजीवनकी छोटी-मोटी चर्या पर भी उन्होंने कुछ उठा नहीं रखा। सचमुचमें कहा जाय तो यह ग्रन्थ प्रतिदिन, प्रतिक्षण स्मरणमें रखने योग्य पाठ्य ग्रन्थ है। इसलिये मैं तो जिसमें सागरसे भी बडे धर्मको बिन्दुरूपसे ठान लिया है और जिसके

हरएक सूत्र पर एक एक ग्रन्थ सा विस्तार हो सकता है ऐसा अनूठा ग्रन्थ मानता हूं।

आ० श्रीमुनिचन्द्रसूरिजीने इन सूत्रोका विशद रूपसे स्पष्टीकरण किया है। धर्मके विषयमें जो सूचक अंश सूत्रकारने दर्शाये हैं उनको वृत्तिकारने अपनी प्रतिमासे पल्लवित करके उस विषयको और कृतिकारके मन्तव्यको समझानेमें बडी कुशलतासे निरूपण किया है। इतना ही नहीं प्रामाणिक ग्रन्थोके अवतरण देकर अपने प्रतिपादनको प्रतिष्ठाकी महोर लगा दी है और अपने बहुश्रुतत्वका इस तरहसे भी परिचय दिया है।

आठ अध्यायोमें–१ गृहस्थविधि, २ देशनाविधि, ३ गृहस्थधर्म, विधि, ४ यतिविधि, ५ यतिधर्मविधि, ६ यतिधर्म. ७, धर्मफलविधि, और ८ तीर्थंकर पदप्राप्तिविधि व सिद्धस्वरूप–इत्यादि विषयोका बडी कुशलतासे ऊहापोह करके उन विषयोका मार्मिक स्वरूपदर्शन कराया गया है।

अब हम इस ग्रन्थके कर्ताके विषयमें कुछ परिचय दे रहे हैं जिससे वाचक वर्गको श्रीहरिभद्रसूरिजीके महत्त्वका ख्याल आ सके।

आचार्य श्रीहरिभद्रसूरि :

उपक्रम

जैन शासनमें आचार्य हरिभद्रसूरि बडे प्रभावक और महान ग्रन्थकार हुए हैं। उनका विपुल साहित्यराशि आज भी संस्कृत और प्राकृत भाषासाहित्यके गगनमें उज्ज्वल सुधाकर सा प्रकाशमान है। उनकी प्रकांड विद्वत्ता, अपूर्व ज्ञानसंग्राहिता, समभाववृत्ति, निष्पक्ष

आलोचना और प्रवाहशील भाषाप्रमुख भारतीय साहित्यके इतिहासमें सुवर्णाक्षरोंसे उल्लिखित है, जिससे आधुनिक विद्वान आश्चर्य पुलकित हो उठते है। हर्मन जेकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वानने उनकी 'समराइच्चकहा' नामक ग्रन्थका संपादन किया है, जिसकी प्रस्तावनामें हरिभद्रसूरिजीके लिये आपने जो लिखा है वह इस वातको प्रमाणित करता है—

"हरिभद्रसूरिने तो श्वेतांबरोंके साहित्यको पूर्णताके ऊचे शिखर पर पहुंचा दिया है।"

इस अभिप्रायमे उनकी ज्ञानगरिमासे वे जैनशासनके महान स्तम्भरूप दिखाई दे रहे हैं। ऐसे प्रकाड पुरुषके चरितके विषयमें वहुत कम सामग्री उपलब्ध है और जो है उसमें भी ऐकमत्य नहीं है। तो भी प्रवन्धग्रन्थोंमेंसे जो कुछ प्रामाणिक सूचनायें मिलती हैं उसको वटोर कर, उस पर एक विहंगात्मक दृष्टि डाल देना अवसरोचित है।

उनका जन्मस्थान और परिचय

'कथावली'कारके कथन मुजब पिर्वगुइ नामकी कोई ब्रह्मपुरीमें उनका जन्मस्थान था। उनके पिताका नाम शंकरभट्ट और माताका नाम गंगादेवी था। उनका खुदका नाम हरिभद्र भट्ट था। जातिसे वे अग्निहोत्री ब्राह्मण थे। वाल्यकालमें जन्मगत संस्कारोसे विद्याओंका अध्ययन करनेमें वे वडे उत्साही थे। उन्होंने क्रमशः चौदह विद्यायें प्राप्त कर ली थी।

'प्रभावकचरित 'कारके कथनसे ज्ञात होता है कि इतिहास प्रसिद्ध मेवाड देशके चितोड (चित्रकूट)के राजा जितारिने हरिभद्र भट्टकी विद्वत्ताकी कदर की और अपने राज्यमे उस महापंडितको पुरोहितके सम्मान्य पद पर नियुक्त किया। ज्ञान और सम्मानके साथ सत्ताका योग होता है तब आदमीको गर्वका नशा आ जाता है। हरिभद्र भट्ट इस साहजिक वृत्तिसे बचे नहीं थे। हरिभद्र भट्टको अपने ज्ञानवैभवका बडा मद था। उन्होने बडे बडे वादियोको शास्त्रार्थमे जीत कर वादिविजेताकी ख्याति कमा ली थी। यही कारण था कि वे अपने हृदमें विश्वास कर बैठे कि 'इस जगतमें मेरे जैसा समर्थ विद्वान वेशक कोइ नहीं होगा।' ऐसी स्थितिमें वे खुदको कलिकाल-सर्वज्ञ मानते–मनवाते थे। ऐसा होने पर भी उनकी जिज्ञासावृत्ति कुछ कम नहीं थी। वे नये विद्वानोंके संसर्गमें आते थे और अपनी विद्याकी जांच पडताल करते रहते थे। निखालसवृत्तिसे अपनी हृदय-गत सरलताका परिचय भी देते रहते थे। इसलिये उन्होने अपने गर्वकी मर्यादास्वरूप प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि–'इस पृथ्वी पट पर जिस किसीका वचन मैं न समझ सकूं उसका शिष्य बनूंगा।'

जन्मसंस्कार–जैनधर्म प्रति विरोधी कट्टर ब्राह्मणता :

एक समयकी बात है जब हरिभद्र भट्ट पालखीमें बैठ कर राजसभामें जा रहे थे और उनकी परिचर्या करनेवाला विद्यार्थीगण उनकी स्तुतिस्वरूप जयघोष करता हुआ जा रहा था कि रास्तेमें राजाका एक विशालकाय मदोन्मत्त हस्ती निरंकुश होकर भाग छूटा। रास्तेमें चलनेवाले मानवसमुदायमें इस घटनासे भयका वातावरण जम

गया। मामला तंग था। ऐसे अवसर पर हरिभद्र पंडित पालखीमेंसे कूद कर अपने शिष्योंके साथ पासके किसी मकानमें घुस पडे। वह मकान एक जैनमंदिर था। उसमें विराजमान देवाधिदेव वीतराग परमात्माकी भव्य और प्रशांतमूर्ति पर उनकी दृष्टि पडी। अपने जन्मगत संस्कारमे ब्राह्मण और श्रमण जैन संस्कृतिके बीच परापूर्वसे चला आता दृष्टिविष घुलने लगा। वीतराग परमात्माकी प्रशमरसनिमग्न मूर्तिको देख कर हंसते हुए वे कटाक्षमें बोल पडे :

" वपुरेव तवाचष्टे, स्पष्टं मिष्टान्नभोजनम्।
नहि कोटरसंस्थेऽग्नौ, तरुर्भवति शाड्वलः॥"

[—तेरा शरीर अपने आप मिष्टान्न भोजनको अवश्य कह रहा है, क्योकि वृक्षकी बखौलमें अग्नि हो तो वृक्ष हराभरा नहीं रह सकता।]

इस श्लोकमें उनकी विकृत दृष्टि स्पष्ट थी। सर्वज्ञताके गर्वमें भला, वह प्रकाश उस वख्त उनको कहांसे मिल सकता जिसके द्वारा वे बोले हुए वचन दूसरे समय उनको सुधारने पडेंगे!। सचमुच, ऐसा कहनेमें हरकत नहीं है कि मानो हस्तिघटना उनके गर्वखंडनका एक सूचक प्रसंग थी जो उनकी प्रतिज्ञाका बीडा ऊठानेकी भूमिका स्वरूप जान पडता है; वह प्रसंग दूर न था।

जैनधर्म प्रति अनुरागकी भूमिका :

एक दफेकी बात है-पंडित हरिभद्र राजमहेलसे नीकल कर अपने घर जा रहे थे कि रास्तेमें अचानक किसी बूढी स्त्रीका मधुर

स्वर उनके कर्णसे टकराया। तद्दन अपरिचित और गूढार्थमय स्वरमें घोंटते हुए शब्दोंमें उनको नूतनता भासने लगी, वे वहीं स्थिर हो गये और उन शब्दोंको समझनेका प्रयत्न करने लगे, लेकिन, निष्फल। दूबारा उन्होंने वे शब्द सुने:

" चक्कीदुग हरिपणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव, दुचक्की केसव चक्की य॥"

[—क्रमश. एक पीछे एक २ चक्रवर्ती, ५ वासुदेव, ५ चक्री, १ केशव, १ चक्री, १ केशव, १ चक्री, १ केशव, २ चक्री, १ केशव और १ चक्री हुए हैं।]

वे शब्दकोशोंका स्मरण करते हुए भी जब उसका अर्थ कुछ भी न लगा सके तब उनको अपना आत्माभिमान खंडित होनेका भास हुआ। अभिमान खंडित होता है तब आदमीमे उश्केराट आ जाता है। हरिभद्र भट्ट क्रोधसे धूंआफूंआ होकर बोले: "किं चक्की चकचकायते ?" [यह चकली क्या चकचक करती है ?] यह शब्द उपाश्रयमे गाजने लगे। उपर्युक्त गाथाको गोखनेवाली एक याकीनी नामकी विदुषी साध्वी थी। हरिभद्रके ऐसे मखौल ऊडाते शब्दोको वह सहन करनेवाली न थीं। दोनोका पांडित्य आपसमें टकराने लगा। आर्याजीने शिष्टतासे प्रत्युत्तर दिया' 'वत्स ! यह गीले गोबरसे पोता हुआ नहीं है, जो चटसे मालूम पडे।'

हरिभद्र भट्ट साध्वीजीके इस अद्भुत प्रत्युत्तरसे चोक ऊठे। आज तक किसीने उनको ऐसी निडरतासे जवाब दिया न था।

उन्होंने ऐसे जवाबकी आशा भी रखी न थी। उनके मनमे हुआ कि, न तो इस गाथाका मर्म समझमें आया और जो प्रत्युत्तर मिला वह भी मेरे ज्ञानको चुनौती दे रहा है। वास्तवमे इसमे कुछ गांभीर्य है। उनकी जिज्ञासावृत्तिने उनको नम्र बना दिया। वे उपाश्रयमें जाकर साध्वीजीके सामने विवेकपुरस्सर बैठ कर पूछने लगे. "आर्याजी! मुझे इस गाथामें शृंखलाबद्धता और कृतिपटुत्व तो स्पष्ट जान पडता है लेकिन उसका रहस्य सुननेकी बडी उत्कंठा है, कृपया समझाईए।"

आर्या याकिनी महत्तरा उसका अर्थ समझा सकती थी पर उन्होंने हरिभद्रको ज्यादह धर्मलाभ होनेकी दृष्टिसे कहाः 'महानुभाव! इस गाथाका अर्थ समझना हो तो हमारे गुरुमहाराज जो बडे ज्ञानी है, उनके पास जाकर आप पूछ सकते हैं। हमारा यह आचार है, इसलिये आप श्रीजिनभट्टसूरिजीके पास जाईए।'

हरिभद्र पंडित पर आर्याजीकी नम्र, आचारपूत और विवेकशील वाणीने असर किया। आर्याजीकी तप प्रभा और स्वाध्यायशील चर्या उनकी आंखोसे अछूती नहीं रही। उस तेजोमूर्तिने हरिभद्रके हृदय पट पर पावनकारी आसन जमाया। तपस्तेजके थोडे ही तापसे मानों मोम पिघलने लगा। उनके स्मरणमे वह प्रत्युत्तर चित्रवत् बना रहा और विचारशील दिमागमें उस निखालस और जिज्ञासावृत्तिने उनको ऐसा प्रभावित कर दिया कि वे दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही गुरुमहाराजके पास चल पडे। उपाश्रयमें जाते समय जिनमंदिर बीच पडता था। उसमें उन्होंने वही मनोहर जिनमूर्तिके दर्शन किये।

जैनधर्म स्वीकारकी तैयारी :

आज उनका गर्व खंडित हो चुका था। उनको अपना पांडित्य-मद चुभने लगा था क्योंकि उनके दृष्टिविष पर संजीवनसा वह सिंचन नया जीवनपरिवर्तन कर रहा था। उनकी विचारपूत दृष्टिमें वह मूर्ति आई और वह बोल पडे–बोल पडे क्या लेकिन उस श्लोकको जो जिनमूर्तिके प्रथम दर्शनके समय मखौल ऊडाते हुए बोले थे उनको ही लज्जासे सुधारने लगेः

" वपुरेव तवाचष्टे, भगवन् ! वीतरागताम् ।
नहि कोटर संस्थेऽग्नौ, तरुर्भवति शाड्वलः ॥ "

[—भगवन् ! आपका शरीर ही वीतरागताको स्पष्ट कह रहा है, क्योंकि वृक्षकी वखौलमें अग्नि हो तो वृक्ष हराभरा नहीं रह सकता।]

क्या अद्भुत परिवर्तन था ! उस परिवर्तनकी आंधीमें उनके ज्ञानगर्वका वह बोजा ही ऊठ गया था, और पहिले सहसा बोले हुए कटाक्षोने उनको लज्जावनत कर दिया था।

वे आचार्यजीके पास वैठ कर विवेकशील वाणीसे उस गाथाका अर्थ पूछने लगे। आचार्यजीने हरिभद्रके हृदयको समाधान करते हुए जैन संस्कृतिकी इतिहासपरंपरा समझा दी, जैनदर्शनकी वह चमत्कृति, गांभीर्य और लाक्षणिकता सुनाई तब उस गाथाका अर्थ उनके लिये सहज हो गया। उनके ज्ञानके छोर पर जैनदर्शनके तत्त्वज्ञानकी तरंगे झपटाने लगी, इतना ही नहीं उनको ललकारने लगीः 'तुम भूले हो, तुम्हारी विद्याने विकृतरूप लिया था, उसको

वास्तवमें प्रतिष्ठित करनेके लिये यह सुहावना समय मत गुमाना।' वे उत्कंठित होकर पूछने लगे: "भगवन्! धर्मका फल क्या? वैदिक धर्मके और जैनधर्मके फलमें क्या अंतर है?"

आचार्यजीने समाधान किया: "वत्स! सकामवृत्तिवाले मनुष्यको धर्मके फलस्वरूप स्वर्गकी प्राप्ति होती है और निष्कामवृत्तिवालेको 'भवविरह' याने संसारका अंत होता है। जैनधर्म भवविरहका मार्ग दिखलाता है।"

उनको अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण हो आया। वे उत्कंठासे चिल्ला ऊठे: "भगवन्! मुझे 'भवविरह' चाहिए।" आचार्य महाराजने कहा: "वत्स! श्रमणत्वके विना 'भवविरह' प्राप्त नहीं हो सकता; इसलिये प्रथम श्रमणमार्ग अंगीकार करना चाहिए।"

श्रमणत्वका स्वीकार और अध्ययन:

बस, तब क्या था! हरिभद्रने उसी वख्त जैन मुनि होनेका निश्चय किया और दीक्षाका प्रसंग बडे समारोहके साथ पूर्ण हुआ। जैनेतर विद्वानों—उनके पराजित वादी पंडितगण भी अपने मुंहमें उंगलि डाल कर आश्चर्यमुग्ध हो ऊठे। जैनधर्मके लिये यह प्रसंग कैसा अद्भुत होगा जिसका अनुमान पाठकको सहजमे ही हो सकता है।

उनके जीवनके यह क्रांतिपूर्ण अध्यायके मंगल चिह्नरूप श्री-याकिनी महत्तराको उन्होंने अपनी धर्मजननीके स्वरूप स्वीकार किया। उन्होंने अपनी कृतियोंमें खुदको 'याकिनी महत्तरासूनु' रूप उस अक्षरदेहको चिरस्मरणीय बना कर मानो उनके उपकारका बदला चुकाया है।

हां, तो अब उन्होने दीक्षा लेनेके बाद शास्त्रोका मार्मिक अभ्यास किया। वे वेदपारगत तो थे ही और जैन शास्त्रोंके नये दृष्टिकोणसे उनमें तुलनावृत्ति जागृत हो ऊठी। उनके हृदयमें जैन-धर्मके प्रति अनुराग बढनेके साथ साथ जैन तत्त्वज्ञानकी अनेकात-दृष्टिकी उत्कृष्टता बस गई। श्रमणत्वके संयमपूर्ण आचारोको पालते हुए वे आचार्य पदके योग्य भी हो चुके थे।

उन्होंने जैन शासनकी सेवामे अपने आपको सोप दिया। उन्होंने सर्व दर्शनोंके सिद्धान्तरहस्यको अपने हृदयमें पचा लिये थे और उनके उस ज्ञानका निर्मल गंगोत्री प्रवाह जो उसमेसे बहने लगा उससे बहुत जिज्ञासु लोग अपनी तृपा छिपाने लगे।

अनेकान्तवादकी वह समन्वयपूत दृष्टिसे उन्होंने जैन तत्त्वज्ञानका खजाना प्रत्यक्ष कर लिया था। उस समभाव दृष्टिका परिचय देने-वाला अनेकान्तवादका झंडा लेकर वादियोंमे अब वे घुमने लगे और उन वादियोंके ,अखाडेमे विजयी मल्लकी ख्याति पाने लगे। कहते हैं कि–उन्होने बौद्धवादियोका पराभव किया और दिगंवर आचार्योंको भी परास्त किया। उन्होने श्वेताम्बरोंमें शिथिल बने हुए चैत्यवावासियोको तीखे शब्दोसे कठोर प्रहार किया और संयमकी शुद्ध विवेक दृष्टिका दीप सकोरा।

शिष्यरत्न हंस और परमहंसकी घटनाः

सूरिजीके शिष्य परिवारमें हंस और परमहंसका नाम उल्लेखनीय है। वे दोनो उनके भानजे थे। उन्होंने सूरिजीका उपदेश सुनकर

उनके पास दीक्षा ली थी। सूरिजीने स्वयं उनको व्याकरण साहित्य और दर्शन शास्त्रोंका अभ्यास करवा कर निपुण बनाये थे।

सूरिजीके सत्ताकालमें बौद्ध दर्शनकी प्रबलता थी। कितनेक देशोंमें बौद्ध धर्मने राजाश्रय प्राप्त कर लिया था। मंत्र और तंत्रके प्रभावसे बौद्ध दर्शनका प्रसार उस कालके जनसमुदायमें बडी शीघ्रतासे हो चुका था। जैनोके साथ वे बडी स्पर्धा कर रहे थे। युक्ति जब लाचार हो जाती थी तब वे तान्त्रिक प्रयोग जुटाते थे और अपनी बोलबाला उडाते थे। बौद्ध दर्शनके अभ्यासके लिये बौद्ध विद्यापीठोंमें सब प्रकारकी सुविधा मिलती थी और इसलिये विद्यार्थीगण बडी संख्यामें आकर वहीं विद्याध्ययन करता था। उसमें पढे हुए विद्यार्थीकी प्रतिष्ठा सर्वमान्य होती थी। सूरिजीके शिष्य हंस और परमहंसको भी इस कारण बौद्ध विद्यापीठमें जाकर बौद्ध दर्शनका ज्ञान प्राप्त करनेकी बडी आतुरता होने लगी। उन्होंने अपनी मनोगत भावना सूरिजीको व्यक्त की। निमित्तशास्त्रके ज्ञानसे उन्होंने भाविकालमे आनेवाला अपाय जानकर उनको अनुमति नहीं दी। भवितव्यताकी आंधी विवेकशील आत्माको भी चकाचौंध कर घीसट ले जाती है। वे अपनी धूनमें सवार होकर बौद्ध विद्यापीठमे चल पडे

बौद्ध विद्यापीठमें बौद्ध भिक्षुका वेष बदल कर ही वे रह सकते थे। हंस और परमहंस क्रमशः बौद्ध दर्शनका अभ्यास करने लगे। वे विद्वान तो थे ही और दर्शनोका अभ्यास भी उन्होने किया था, इसलिये बौद्ध ग्रन्थोके मर्म पर उन्होने अपना ध्यान जुटाया। अपनी अतुल बुद्धिप्रभासे थोडे समयमें रहस्य ग्रंथोको उन्होंने कंठस्थ कर

लिये और अवसर पाकर उन शास्त्रोंमें आये हुए जैन शास्त्रके खंडनको भी वे छोटे पन्नोंमें नोध करने लगे। इन पन्नोंको वे अपनी पास छुपाके रख रहे थे। जैन शासनका उत्कट अनुराग और बौद्ध दर्शनके मार्मिक स्थलोकी उत्कट जिज्ञासा वृत्तिके तुमुल आतर युद्धके विजयमें एक दिन–एक क्षणका प्रमाद सा हो गया हो या ज्ञानकी चोरीने उनको शिक्षापाठ देना हो–जो कुछ हो-सूरिजीके निमित्त-शास्त्रीय अपायका वह करुण घटनानाटकका पडदा आज खुल गया।

बात यह थी कि–एक दिन अचानक वे पन्ने पवनसे ऊडते ऊडते किसी बौद्ध भिक्षु–आचार्यके हाथमें पडे। आचार्य उनको पढते ही चौंक पडे। उनको निश्चय हो गया कि कोइ जैन श्रमण यहां पढने आया है। और बौद्ध सिद्धान्तके खडनके मार्मिक स्थलोंको उसने इस तरह बटोर रक्खा है। इतने बडे विद्यार्थीसमुदायमेंसे उनको पहेचान लेना कुछ सामान्य बात न थी। कुशल आचार्यने उनको ढूंढनेके लिये एक तरकीब रची। प्रत्येक वर्गके आचार्यको इस तरकी-बकी इत्तला दे रक्खी।

प्रत्येक विद्यार्थीको पुस्तकालयके ऊपले कमरेमेंसे पुस्तक लानेकी क्रमश' अनुज्ञा हुई। उपर जाते हुए सीडीके प्रत्येक सोपानमें महा-वीरका चित्र इस तरह कुशलतासे अंकित किया गया कि सोपानका कोई कोना भी खाली न रक्खा। इस चित्रमूर्ति पर पैर रख कर ही ऊपले कमरेमें कोई भी जा सकता था। हंस और परमहंसके लिये यह बडी कसौटीका प्रसंग था। भयके आतंकने उनको उस क्षण तो कायर

बना लिया, लेकिन समयसूचक इन श्रमणोंने बडी हिम्मतसे उस चित्र-मूर्तिमें जनोऊकी लकीर खींचकर उसको ही बुद्धकी चित्रमूर्तिमें परिवर्तित कर दिया। पुस्तक देकर वे वहासे नीकल कर चुपकीसे भागने लगे।

बात प्रगट हो गई। हंस और परमहंसका पीछा करनेके लिये बौद्ध राजाकी मददसे सैनिक भेजे गये। हंस और परमहंस दूर न रहे। ये दोनों जैसे शास्त्रकुशल थे वैसे ही शस्त्रकुशल योद्धा भी थे। दोनोंमें झपाझपी हुई। निहत्थे ये श्रमण शस्त्रोंके सामने भला, कहां तक टक्कर झेल सकते थे? शस्त्रोंके जख्मोंसे चालणीसा बना हुआ हंसका देह धरणी पर ढुलक पडा। हंसका आत्महंस उस देहमेंसे ऊड गया।

सोच-विचार करनेका समय था नहीं। खुदको बचानेके लिये परमहंस वहींसे बडी तेजीसे भागकर पासके नगरमें पहुंचा और वहांके सुरपाल राजाको इस करुणघटनाका प्रसंग सुनाया। उस शरणागत-वत्सल राजाने बौद्ध राजाके सैन्यका सामना किया और परमहंसको रक्षण दिया। बडी कठनाईयां झेलता हुआ परमहंस गुरुमहाराज श्रीहरिभद्रसूरिजीके पास पहुंचा, और गुरुजीके अंतिम दर्शनकी इच्छासे ही मानों परमहंस अपना छेल्ला श्वास घोटता हुआ, आक्रंद स्वरसे, अविनयकी क्षमा मांगता हुआ सूरिजीके पास पहुचा उसने सूरिजीको सब हाल सुनाया। थोडे समयके बाद परमहंस भी समाधिपूर्वक अपने भाईके पीछे चल बसा।

सूरिजीका विषाद और भीषण प्रतिज्ञा:

यह कितना करुण प्रसंग था ! शिष्यस्नेहकी प्रबलताने हरिभद्र-सूरि जैसे तेजस्वी ज्ञानराशिको घेर लिया। उनके हृदयमें इस चोटने उनको इतना बेवस कर लिया कि उनके क्रोधके प्रखर तापको कोई भी उस वक्त नहीं झेल सकता था। इस प्रतिक्रियाके तांडवने उनके निर्मल हृदयको क्षुब्ध बना लिया। सचमुच, कर्मोंकी गहन गतिको कौन पा सका है ? स्पष्ट दिखाई पडता था कि समर्थ श्रुतधर भी ऐसे अवसरमे आत्मजागृति गूमा रहे थे। फलत. वे बौद्धोके ऐसे घातकी कृत्यका बदला चुकानेको ऊतारु हो गये। सूरिजी बडे वेगसे विहार करके सुरपाल नगरके राजाके नगरमें आ पहुंचे। सुरपालको यह सब बात कह सुनाई। सुरपाल राजाने सूरिजीकी उत्कट इच्छाको जानकर बौद्ध भिक्षुओंको वादके लिये दूतोंद्वारा बुलावा भेजा। बौद्ध भिक्षु सुरपालकी राजसभामें वाद करने आ जमे। सूरिजी और बौद्ध भिक्षु-ओके बीच इस वादकी शरत, जो सूरपाल राजाने दोनोंकी सम्मति-पूर्वक निश्चित की थी, बडी कठोर और घातकी थी। सूरिजीने अपने शिष्योंके दु:खद अवसान और बौद्धों परके प्रबल रोषसे कषायके वशीभूत होकर ऐसी शरत भी मंजूर रक्खी थी कि 'इस वादमें जो पक्ष पराभूत हो जाय उस पक्षके आदमी अतिशय गरम किये हुए तेलकी कढाईमें जल कर मर जाय।' कितने हत-भाग्यकी यह घटना थी। अहिंसाके परम उपासक दोनों संप्रदायके आचार्योंने कैसा उल्टी गगाका राह पकड रक्खा था। यह वाद क्या था आदमीका नहीं, प्रत्युत सिद्धांतका गला घोटा जा रहा था।

मोहकी ऐसी विचित्रताका जीवंत चित्र और क्या हो सकता था !।

सुरपाल राजाकी राजसभामें कितने ही दिनों तक यह वाद-विवाद चालु रहा। सूरिजीने अंतमें अपने अद्भुत तर्कसामर्थ्य और असाधारण ज्ञानवैभवसे बौद्ध भिक्षुओको वादमे जीत लिया। बौद्धोंका मंत्रप्रभाव या तांत्रिक शक्ति भी हरिभद्रसूरिजीके सामने लाचार बन गई थी। 'प्रभावक चरित'कार इस प्रसंगको स्मरण कराते हुए नोंध करते हैं कि–' हरिभद्रसूरिजी वादमें जय प्राप्त कर लेनेके बाद अपने मन्त्रसामर्थ्यसे उस तेलकी कढाईमें बौद्ध भिक्षुओको खींच कर लाये थे, ऐसा कितनेक मनुष्योंका मानना है।'

सूरिजीका शुद्धिमार्गः

हरिभद्रसूरिजीके परम गुरु आचार्य श्रीजिनभट्टसूरिजीको इस बातका पता लगा तब उन्होने शीघ्र दो विद्वान साधुओको तैयार कर उनके कषायके उपशमके लिये तीन गाथायें देकर हरिभद्रसूरिजीके पास भेजे। प्रसंगने पलटा खाया। सूरिजीके उत्तप्त क्रोध पर इन गाथाओ ने शान्त रसका सुधासिंचन किया। अपने कषायकी विवशतासे आचरण किये हुए इन दुष्कृत्योंका उनके हृदयमें तीव्र पश्चाताप होने लगा और गुरु महाराजके पास अपने दुष्कृतोंकी आलोचना करके शुद्धिका मार्ग अपनाया और वे संयमकी तीव्र धार पर चलने लगे।

यह प्रसंग 'कथावली' में कुछ दूसरी तरहसे बतलाया गया है। जो कुछ हो, लेकिन हरिभद्रसूरिजीको इन शिष्योके विरहसे बडा दुःख हो आया था यह बात निर्विवाद है। इस दुःखको भूलनेके लिये

और संयमकी शुद्धिके लिये उन्होने जो मार्ग पसंद किया वही उनके जीवनकी अणमोल निधि था, जो आज हमको विरासतमें मिला है। अपने शिष्योंके स्मरण चिह्नरूप उन्होने अपने ग्रन्थोको अन्तमें 'विरह' शव्दसे अंकित किये है। कहा जाता है कि उन्होने १४४४ ग्रन्थ निर्माण करनेकी प्रतिज्ञा की थी और उसके फलस्वरूप १४०० ग्रन्थोकी तो उन्होने रचना कर ली परतु अपने जीवनका अतिम समय जानकर बाकीके चार ग्रन्थोके बदलेमें उन्होंने 'संसारदावानल' नामक स्तुति के ३ पद्य और ४ थे पद्यका १ चरण इन चार पद्योंको ही चार ग्रन्थ मान कर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। छेदसूत्रमें गिनाया गया 'महानिशीथसूत्र' का उद्धार श्रीहरि-भद्रसूरिने ही किया था। उनका जो ग्रन्थराशि आज प्राप्त है उसका निर्देश ही यहां कर देना पर्याप्त होगा।

आ० हरिभद्रसूरिजीका ग्रन्थराशिः

(१) अनुयोगद्वारसूत्र-विवृति याने शिष्यहिता– यह 'अणुओगदार' नामक आगमकी संस्कृतमें विवृति है।

(२) अनेकान्तजयपताका– इसमें अनेकान्तवादका निरूपण है। योगाचार नामक बौद्ध शाखाके मन्तव्यका इसमें खंडन है।

(३) अनेकान्तजयपताकोद्द्योतदीपिका– ग्रंथाक(२,की यह स्वोपज्ञ वृत्ति है।

(४) अनेकान्तप्रघट्ट– इसके विषयमें कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

(५) अनेकान्तवादप्रवेश– ग्रंथाक(२)का यह संक्षेप मालूम पडता है।

(६) अनेकान्तसिद्धि– ग्रंथांक(२)में इसका उल्लेख आता है।

(७) अर्हच्छ्रीचूडामणि– श्रीसुमतिगणिने इसकी नोंध दी है।

(८) अष्टकप्रकरण (विरहांकित)– इसमें क्षणिकवाद, नित्यवाद आदिका विवेचन है।

(९) आत्मसिद्धि– इसमे आत्माकी सिद्धि की गई होगी। जिसका दूसरा नाम 'आत्मानुशासन' (संस्कृतमें) है।

(१०) आवश्यकसूत्र-बृहद्वृत्ति– यह 'आवस्सय' नामक आगमकी बडी विवृति है। यह प्राप्य नहीं है; ग्रं ८४०००।

(११) आवश्यकसूत्र विवृति याने शिष्यहिता– यह 'आवस्सय' की टीका है, श्लो २२०००।

(१२) उवएसपयपगरण (विरहांकित)– इसमें १०३९ पद्य आर्यामें हैं। धर्मकथाकी यह उत्तम कृति है।

(१३) ओघनिर्युक्ति वृत्ति– यह 'ओहनिज्जुत्ति'की वृत्ति है जो मिलती नहीं। श्रीसुमतिगणिने इसको गिनाया है।

(१४) कथाकोश– श्रीसुमतिगणिकी नोंधमें है।

(१५) कर्मस्तव-वृत्ति।

(१६) क्षमावल्ली-बीज।

(१७) क्षेत्रसमास-वृत्ति– यह 'क्षेत्रसमास-प्रकरण'की टीका है। जेसलमेरके भंडारमें इसकी पोथी है।

(१८) चतुर्विंशतिस्तुति।

(१९) चैत्यवन्दनभाष्य– श्रीसुमतिगणिकी नोंधमें है। यह 'ललितविस्तरा'से भिन्न होगा[२]।

(२०) जंबूदीवसंगहणी– इसमें जम्बूद्वीपका अधिकार होगा।

(२१) जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति-टीका– यह 'जंबूद्दीवपण्णत्ति' की टीका है।

(२२) जिणहरपडिमाथोत्त (जिनगृहप्रतिमास्तोत्र)– इसमें त्रिलोकमें रही हुई प्रतिमाओंका निर्देश है।

(२३) जीवाजीवाभिगमसूत्र-लघुवृत्ति– यह 'जीवाजीवाभिगम नामक आगमकी वृत्ति है।

(२४) तत्त्वतरङ्गिणी।

(२५) तत्त्वार्थसूत्र-लघुवृत्ति याने डुपडुपिका– यह 'तत्त्वार्थसूत्र' की अपूर्ण टीका है।

(२६) त्रिभंगीसार।

(२७) दंसणसुद्धि (दर्शनशुद्धि) याने सम्यक्त्वसप्ततिका– इसमें सम्यक्त्वका अधिकार है।

(२८) दंसणसित्तरि (दर्शनसप्तति) याने सावगधम्मपगरण– इसमे श्रावकधर्मका वर्णन है।

(२९) दशवैकालिकसूत्र-टीका याने शिष्यबोधिनी– यह 'दसवेयालिय' नामक आगमकी बडी वृत्ति है।

(३०) दशवैकालिकसूत्र-लघुवृत्ति– यह 'दसवेयालिय' नामक आगमकी छोटी वृत्ति है।

(३१) दिनशुद्धि (?)।

(३२) देवेन्द्र-नरकेन्द्रप्रकरण।

(३३) द्विजवदनचपेटा– इसमे वैदिकोकी हास्यास्पद बावतोका खंडन होगा। इसका दूसरा नाम वेदांकुश है।

(३४) धम्मसंगहणि (धर्मसंग्रहणी) (विरहांकित)– इसमे चार्वाक मतोंका खंडन और पांच प्रकारके ज्ञान, सर्वज्ञताकी सिद्धि, मुक्तिमें सुख इत्यादि बावतोका निरूपण है।

(३५) धर्मबिन्दु (विरहांकित)– इसमें गृहस्थ-श्रावक और साधु-ओंकी धर्मविधि बताई हुई है–यह प्रस्तुत पुस्तक ।

(३६) धर्मलाभसिद्धि– श्रीसुमतिगणिने इसकी नोध की है ।

(३७) धर्मसार– पुरुषार्थ पर प्रकाश देनेवाली यह पुस्तक पर श्रीमलयगिरि आचार्यने टीका रची है।

(३८) धुत्तक्खाण (धूर्ताख्यान)– वैदिक देवोंका और मंतव्योंका इसमें विनोदपूर्ण उपहास किया है।

(३९) ध्यानशतक-वृत्ति– यह आवश्यकसूत्र विवृतिका भाग है ।

(४०) नन्दीसूत्र टीका याने नन्द्यध्ययनटीका– यह 'नन्दी' नामक आगमकी टीका है।

(४१) नाणपंचगवक्खाण (ज्ञानपंचकव्याख्यान)– इसमें पांच ज्ञानका अधिकार है।

(४२) नाणायत्त– (ज्ञानादित्य प्रकरण) 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' में इसका नाम गिनाया है।

(४३) नाणाचित्तपयरण (नानाचित्रप्रकरण)– इसमे धर्मका स्वरूप बताया गया है।

(४४) न्यायप्रवेशक-व्याख्या याने शिष्यहिता– यह न्याय प्रवेशक नामक बौद्ध ग्रन्थकी टीका है।

(४५) न्यायावतारवृत्ति ।

(४६) पंचनियंठी ।

(४७) पंचलिंगी।

(४८) पंचवत्थुग (पंचवस्तुक)– इसमें दीक्षा, साधुओंका दैनिक आचार, गच्छावास आदि बातोंका निरूपण है।

(४९) पंचवस्तुक-टीका (विरहाकित)– यह 'पंचवत्थुग' की टीका है।

(५०) पंचसूत्र-व्याख्या– यह 'पंचसुत्त' नामक प्राचीन प्राकृत ग्रन्थकी टीका है।

(५१) पंचस्थानक।

(५२) पंचासग (पंचाशक) (विरहांकित)– इसमें श्रावकधर्म, दीक्षा, चैत्यवन्दन, पूजा आदि विविध बातोंका निरूपण है।

(५३) परलोकसिद्धि– श्रीसुमतिगणिने इसका उल्लेख किया है।

(५४) पिण्डनिर्युक्ति-वृत्ति– यह 'पिंडनिज्जुत्ति'की टीका है।

(५५) प्रज्ञापनासूत्रप्रदेश-व्याख्या– यह 'पण्णवणा' सूत्रकी टीका है।

(५६) प्रतिष्ठाकल्प।

(५७) बृहन्मिथ्यात्वमथन– इसको सुमतिगणिने गिनाया है।

(५८) बोटिकप्रतिषेध– इसमें दिगंबर मतका खडन है।

(५९) भावनासिद्धि– इसमें भावना या वैराग्यका अधिकार होगा।

(६०) भावार्थमात्रावेदिनी– यह अपने रचे हुए 'अनेकान्त-जयपताका'की टीका है।

(६१) **मुनिवइचरिय**– इसमें मुनिपतिका चरित्र है।

(६२) **यतिदिनकृत्य**।

(६३) **यशोधरचरित**– इसमें यशोधरका वृत्तांत होगा।

(६४) **योगदृष्टिसमुच्चय**– इसमें इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्य-योगका निरूपण है।

(६५) **योगदृष्टिसमुच्चय-वृत्ति**– यह अपने रचे हुए 'योगदृष्टि समुच्चय'की वृत्ति है।

(६६) **योगविन्दु** (विरहांकित)– इसमें अध्यात्मका विषय है।

(६७) **योगशतक**– 'चतुर्विंशति प्रबन्ध'मे इसका नाम मिलता है।

(६८) **लग्गकुंडलिया (लग्नकुंडलिका) याने लग्नशुद्धि**– यह ज्योतिष विषयक ग्रन्थ है।

(६९) **लघुक्षेत्रसमास-वृत्ति**– यह 'लघुक्षेत्रसमास'की टीका होगी।

(७०) **ललितविस्तरा याने चैत्यवन्दनस्तववृत्ति** (विरहांकित)– यह चैत्यवन्दन सूत्रकी वृत्ति है। इसमें अनेक अजैन मतोंका खंडन है।

(७१) **लोकतत्त्वनिर्णय याने नृतत्त्वनिगम**– इसमे विष्णु आदि वैदिक देवोंके दुष्कृत्योकी नोंध है और लोकका स्वरूप समझाया गया है।

(७२) **लोकविन्दु**।

(७३) वर्गकेवलि-वृत्ति– हरिभद्रसूरिजीने इसकी रचना करके संघकी विनतिसे इसका नाश किया था।

(७४) विशेषावश्यक-वृत्ति– यह 'विसेसावस्सय'की वृत्ति है।

(७५) वीरथयं।

(७६) वीरांगदकहा।

(७७) वीसवीसिया (विंशतिर्विंशिका)– इसमें दान, पूजा आदि बातोंका निरूपण है।

(७८) वेदबाह्यतानिराकरणता।

(७९) व्यवहारकल्प-वृत्ति– 'ववहारकप्प' नामक आगमकी यह टीका है।

(८०) शास्त्रवार्तासमुच्चय– इसमें आत्मा, हिंसा, सर्वज्ञता इत्यादि विषयक जैन मान्यताका निरूपण है और वैदिक, बौद्ध, सांख्य, ब्रह्माद्वैतवादियोंके कितनेक मन्तव्योंका खंडन है।

(८१) शास्त्रवार्तासमुच्चय-टीका याने दिक्प्रदा– यह 'शास्त्र-वार्तासमुच्चय'की टीका है।

(८२) श्रावकधर्मसमास वृत्ति– यह 'सावगधम्मसमास' की टीका है।

(८३) श्रावकप्रज्ञप्ति।

(८४) श्रावकप्रज्ञप्ति टीका– यह 'श्रावकप्रज्ञप्ति'की टीका है।

(८५) षड्दर्शनसमुच्चय– इसमें बौद्ध, नैयायिक, सांख्य आदि दर्शनोका संक्षेपसे पद्योंमें परिचय दिया है।

(८६) षोडशक–इसमें धर्म, लोकोत्तरतत्त्व, जिनमंदिर, मूर्ति, पूजा, ज्ञान, दीक्षा, विनय, योग इत्यादि विषयोंका विवरण है।

(८७) संसारदावानलस्तुति।

(८८) संस्कृतात्मानुशासन– श्रीसुमतिगणिने इसको गिनाया है।
आत्मानुशासन

(८९) संकितपंचसी।

(९०) संग्रहणी-वृत्ति– यह 'संग्रहणी' की वृत्ति है।

(९१) समराइच्चकहा (समरादित्यचरित्र)– इसमें समरादित्यका चरित्र है। इसमें वैरकी परंपराका चितार है।

(९२) संपंचसित्तरि– इसकी पं. हरगोविंददासने नोध की है।

(९३) संबोधसित्तरि।

(९४) संबोहपयरण (संबोधप्रकरण) याने तत्त्वप्रकाशक– इसमें देव, गुरु आदिका विवरण है।

(९५) सर्वज्ञसिद्धि– इसमें सर्वज्ञकी सिद्धि की गई है।

(९६) सर्वज्ञसिद्धि-टीका– यह 'सर्वज्ञसिद्धि' की टीका है।

(९७ सावगधम्म (श्रावकधर्म)– इसमें सम्यक्त्व और श्रावकके बारह व्रतोंका निरूपण है।

(९८) सावगधम्मसमास (श्रावकधर्मसमास)– इसमें श्रावकोंके कर्तव्यका स्वरूप समझाया गया है।

(९९) सासयजिणकित्तण।

(१००) स्याद्वादकुचोद्यपरिहार– इसमें स्याद्वाद पर किये गये आक्षेपोंका खंडन है।

(१०१) हिंसकाष्टकावचूरि– यह 'हिंसाष्टक' की छोटी टीका है।

आ० हरिभद्रसूरिजीका समयः

अब हम उनके समयके विषयमें जो जो मत प्रवर्तित है उस पर दृष्टि डाल दें और उसमें क्या तथ्य है उसका विचार करें।

आ० हरिभद्रसूरिजीके समयके विषयमें विद्वानोंमें काफी ऊहापोह हो चुका है। उसमें खास दो मत उल्लेख्य है। एक मतके मुताबिक उनका स्वर्गगमनकाल वि. सं ५८५ बताया जाता है, जिसके प्रमाण इस तरह देते हैं—

१. 'पट्टावली' ग्रन्थोंमें यह गाथा मिलती है—

"पंचसए पणसीए, विक्कमकालाओ झत्ति अत्थमिओ।
हरिभद्दसूरिसूरो, भवियाणं दिसउ कल्लाणं॥"

—वि. सं ५८५ में हरिभद्रसूरि स्वर्गस्थ हुए। वे भव्य मनुष्योंका कल्याण करो।

२ आ० धर्मघोषसूरि 'दुस्समकालसमणसंघथयं' की अवचूरिमें लिखते है—

" सत्यमित्र ७ हारिल ५४ ॥ पचसए पणसीए (गाथा) ॥
जिनभद्रगणिः ६० ॥ "

—आ० सत्यमित्र ७ वर्ष, आ० हारिल ५४ वर्ष युगप्रधान रहे, वि. सं. ५८५ में आ० हरिभद्रसूरिजीका स्वर्ग, आ० जिनभद्र-गणि ६० वर्ष युगप्रधान।

३ आ० मेरुतुंगसूरि अपनी ' विचारश्रेणि ' में लिखते हैं—

" श्रीवीरमोक्षाद् दशभिः शतैः पञ्चपञ्चाशदधिकैः (१०५५) श्रीहरिभद्रसूरेः स्वर्गः। उक्तं च, पचसए पणसीए (गाथा)॥ ततो जिनभद्रक्षमाश्रमणः ६५ ॥ "

--वीर संवत् १०५५–वि सं ५८५ में आ० हरिभद्रसूरि-जीका स्वर्ग, उसके बाद आ० जिनभद्र क्षमाश्रमण हुए। उनका युगप्रधानत्व ६५ वर्ष।

४. आ० प्रभाचन्द्रसूरि 'प्रभावकचरित' में लिखते हैं-- आचार्य हरिभद्रसूरिजीने ' महानिशीथसूत्र 'का जीर्णोद्धार किया और आ० जिनप्रभसूरि ' विविधतीर्थकल्प ' में लिखते हैं कि– आ० जिन-भद्र क्षमाक्षमणने मथुरामें 'महानिशीथसूत्र'का उद्धार किया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों आचार्य समकालीन हैं।

५ आ० प्रद्युम्नसूरि ' विचारसार ' में कितनीक गाथाओंका अवतरण देते हैं—

" पचसए पणतीए, विक्कमभूवाओ झत्ति अत्थमिओ।
हरिभद्दसूरिसूरो, धम्मरओ देउ मुक्खसुहं ॥
अहवा– पणवन्न दससएहिं, हरिसूरी आसी तत्थ पुव्वकई।
तेरसवरिससएहिं, अईएहि वप्पहट्टि पहू ॥ "

—एक उल्लेख ऐसा है कि वि. स ५३५ में धर्मरत आ०

श्रीहरिभद्रसूरिजी स्वर्गस्थ हुए। वे मोक्षका सुख दो। मतान्तरसे ऐसा भी पाठ मिलता है कि वीर सं. १०५५ में श्रीहरिभद्रसूरिजी हुए और वीर नि. सं. १३०० में आ० वप्पभट्टिसूरिजी हुए।

इन दो गाथाओंसे दो मतांतरोंके संवत् दिये गये हैं। यदि 'पणतीए'की जगह 'पणसीए'का पाठ मान लिया जाय तो मतांतर रहता नहीं है। यहा जो वप्पभट्टसूरिजीका स्वर्गगमन सं. १३०० में बताया गया है वह भी मतांतरके रूपमे ही है, क्योंकि 'विचारश्रेणि' मे वीर सं. १३०० में, १३६० मे रत्न संचयमें वी. सं. १३२० में और 'तपागच्छीय पट्टावली'ओंमें वीर सं. १३६५ मे आ० वप्पभट्टिसूरिजीका स्वर्गगमन बताया है।

६. बृहद्गच्छीय सूरिविद्या प्रशस्तिमें निम्नलिखित गाथायें हैं—

"दिन्नो हरिभद्देण वि, विज्जाहरवायणाए तया ॥ ३ ॥
चिरमित्त पीइतोसा, दिन्नो हरिभद्दसूरिणा विइओ।
विज्जाहरसाहिणो, मंतो सिरिमाणदेवस्स ॥ ४ ॥"

यह प्रशस्तिका पूर्वापर संबंध और सार इस प्रकार है।

—आचार्य मानदेवसूरि जो आ० समुद्रसूरिके पट्टधर और हरिभद्रसूरिजीके वयस्य थे, उनके गुरुजीने सं. ५८२ में चंद्रकुलका सूरिमन्त्र दिया और चिरमित्र आ० हरिभद्रसूरिने सप्रेम विद्याधर कुलका सूरिमंत्र दिया लेकिन वे उन मन्त्रपाठोंकी समानता, दुष्काल, लोगोंका संहार और रोगके कारण मन्त्रको भूल गये और पीछेसे उन्होंने गिरनार पर तप करके श्रीसीमंधरस्वामीने उपदिष्ट किया हुआ मंत्र अंबिकादेवीको प्रसन्न करके प्राप्त किया आदि (गाथा १–१२)

इससे निश्चय हो जाता है कि आ० हरिभद्रसूरिजी और आ० मानदेवसूरिजी सं ५८२ मे हुए थे और दोनों समकालीन थे।

७. 'गुर्वावली' और 'पट्टावलियो'में आ० हरिभद्रसूरि और आ० मानदेवसूरिजीको समकालीन आचार्य बताया गया है।

फलतः इन सब पाठोंसे स्पष्ट हो जाता है कि आ० हरिभद्रसूरिजी वि सं ५८५ मे स्वर्गस्थ हुए हैं।

आ० हरिभद्रसूरिजीके समयनिर्णयमे दूसरे मतके मुताबिक वे वि सं. ७८५ लगभगमे स्वर्गस्थ हुए। इससे सिद्ध है कि ऊपरके जो पाठ दिये गये हैं वे सव इसके विरुद्ध जाते हैं। इसके लिये खुलासा किया जाता है कि ऊपर दर्शाये हुए सब पाठ युगप्रधान आ० हारिलसूरि कि जिनका नाम हरिगुप्त और आ० हरिभद्र भी है और जो वी नि सं. १०५५ वि. स ५८५ में स्वर्गस्थ हुए हैं उनकी जीवनघटनाके साथ संगत होते हैं। अर्थात्—

(१) 'पचसए' वाली पट्टावलियोकी गाथा आ० हारिलका स्वर्गसंवत् बताती है। वस्तुत 'पंचसए' के बदले 'सत्तसए' पाठ मान लिया जाय तो वह गाथा हरिभद्रसूरिजीके स्वर्गवास समयके साथ लागू पड सके।

(२) 'दुस्समकालथय'की अवचूरिमे आ० हारिलके पीछे 'पचसए' वाली गाथा दी है और उसके पीछे जिनभद्रसूरिजीका समय बताया गया है वहां भी हारिल और हरिभद्रसूरिको एक माना जाय तो हीं उनके पीछे आ० जिनभद्रसूरिजी होनेका संगत हो सकता है।

(३) 'विचारश्रेणी'के पाठके लिये भी ऊपरका ही समाधान है।

(४) परंतु आ० हरिभद्रसूरिजीने ' महानिशीथसूत्र 'का उद्धार किया उस सूत्रकी संस्कृत प्रशस्तिमें समकालीन आचार्योंके नाम दिये हैं उनमें आ० हरिभद्रसूरिजीका नाम है। आ० जिनदासगणि क्षमाश्रमणका नाम है, लेकिन आ० जिनभद्रगणिका नहीं है। अतः 'विविधतीर्थकल्प'के उल्लेखको दूसरे पुख्त प्रमाणकी अपेक्षा रहती है।

(५) ' विचारसार 'में मतांतर है वही वि. सं. ५८५ में आ० हरिभद्रसूरिजीके स्वर्गवासकी बातको कमजोर बनाता है और गाथा ३० में दिया हुआ ' धम्मरओ ' विशेषण आ० हारिलके साथ ज्यादः लागू होता है। ' पणतीए 'के स्थानमें ' पणसीए ' माना जाय और फिर ' पंचसए पणसीए के स्थानमें ' सत्तसए पणसीए ' माना जाय तो बराबर कालसंगति हो जाती है। बाकीके चाल्द स्थितिके पाठ भी आ० हारिलसूरिजीके साथ संबध रखते हैं।

(६) ' सूरिविद्या ' पाठकी प्रशस्तिमें आ० हरिभद्रसूरिजी और आ० समुद्रसूरिजीके पट्टधर आ० मानदेवसूरिजीको एककालीन बताये गये हैं। यह एक सबल पूरावा है। इससे इस घटना आ० समुद्रसूरिजीके शिष्य आ० मानदेवसूरिजीके साथ संबध रखनेवाली है ऐसा मानना ज्यादा उचित है। यदि प्रशस्ति उसी समयकी हो तो आ० हारिल और आ० मानदेवसूरिजी (दूसरे) समकालीन हैं यह बात निश्चित हो जाती है परंतु यह प्रशस्ति पश्चात्कालकी हो तो आ० आ० हरिभद्रसूरि और आ० प्रद्युम्नसूरिजीके शिष्य मानदेवसूरिजी (तीसरे) समकालीन हैं ऐसा मानना पडेगा।

(७) 'गुर्वावली' आदिके पाठोंका भी समाधान उक्तरीत्या समझना चाहिए।

इस तरह उपर मुजब खुलासा हो जाता है। यह तो हुआ पाठोका समाधान लेकिन श्रीहरिभद्रसूजी वि. स ७८५ के अरसेमे स्वर्गस्थ हुए उसका पाठ नीचे मुजब है।

१. बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति, शैवाचार्य भर्तृहरि और मीमांसक कुमारिल भट्ट आदि विद्वान विक्रमकी आठमी सदीमे हुए हैं। आ० हरिभद्रसूरिजीने अपने ग्रन्थोमे उनके नाम और उनके ग्रन्थोके नामका उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि आ० हरिभद्रसूरिजी उनके पीछे हुए हैं।

२ आ० जिनभद्रसूरिजीने वि सं. ६६६ में 'विशेषावश्यक-भाष्य'की रचना की है। उसमें एक 'ध्यानशतक' की रचना है और उस पर आ० हरिभद्रसूरिजीने टीका बनाई है जिससे निश्चित हो जाता है कि आ० हरिभद्रसूरि उस रचना संवत् पीछे हुए हैं।

३ आ० जिनदासगणि महत्तरने वि. सं. ७३३ लगभगमे चूर्णिग्रन्थोंकी रचना की है। आ० हरिभद्रसूरिजीने उन चूर्णियोके आधार पर 'आवश्यक–निर्युक्ति टीका, नन्दीसूत्र टीका' आदिकी रचना की है। आ० हरिभद्र रिजीने 'महानिशीथसूत्र' का जो जीर्णोद्धार किया था उसका प्रथम आदर्श आ० जिनदासगणिको वांचनेको दिया था। इससे अब कहनेकी जरूरत नहीं है कि आ० हरिभद्रसूरिजी वि. स ७३३ के पीछे हुए हैं।

४. आचार्य गुणनिधानसूरि शिष्य आ० हर्षनिधान 'रत्नसंचय' में यह अवतरण गाथा देते हैं—

पणपन्नबारससए, हरिभद्रसूरी आसीऽपूव्वकई
तेरससय वीस अहिए, वरिसेहिं वप्पभट्टिपहू ॥२८२॥

—वीर नि स. १२१५ वि. सं ७८५) में महान ग्रन्थकार आ० हरिभद्रसूरिजी हुए। वीर नि. सं. १३२० (वि. सं. ८५०)में आ० वप्पभट्टिसूरि हुए।

५. दाक्षिण्यचिह्न आ० उद्योतनसूरिजी वि. सं. ८३५में अपनी रची हुई 'कुवलयमाला'की प्रशस्तिमे लिखते हैं—

सो सिद्धन्तेण गुरू, जुत्तिसत्थेहिं जस्स हरिभद्दो।
बहुसत्थगन्थवित्थरपत्थारिय पयडसच्चत्थो ॥१५॥

—मेरे सिद्धांत गुरु आ० वीरभद्रसूरिजी हैं और न्यायशास्त्रके गुरु एवं अनेक ग्रन्थोंके निर्माता आ० श्रीहरिभद्रसूरिजी हैं। अर्थात् यह श्रीउद्योतनरसूरि वि. सं ८३५ में विद्यमान थे और आ० हरिभद्रसूरिजी उससे पहले वि. सं ७८५ के अरसेमे थे यह अति विश्वस्त प्रमाण है।

६. आ० सिद्धर्षिगणि अपनी 'उपमितिभवप्रपञ्चाकथा' में लिखते हैं कि—

"नमोऽस्तु हरिभद्राय, तस्मै प्रवरसूरये।
मदर्थे निर्मिता एव, वृत्तिर्ललितविस्तरा॥"

—मुझे धर्ममे प्रवेश करानेवाले धर्मबोधकर आ० हरिभद्रसूरि हैं, जिन्होंने अपनी समयसूचकतासे मानो मेरे ही लिये चैत्यवन्दन पर 'ललितविस्तरा' नामकी टीका बनाई न हो ऐसे हरिभद्रसूरिजी-को नमस्कार हो।

यद्यपि इस पाठसे आ० हरिभद्रसूरि सिद्धर्षिसूरिजीके साक्षात् गुरु हो ऐसा भ्रम उपस्थित हो जाता है किन्तु श्रीसिद्धर्षिसूरि वि. सं. ९६२ मे हुए हैं और उन्होने 'समयसूचकता' का निर्देश भी किया है इससे आ० हरिभद्रसूरि आ० सिद्धर्षिसूरिजीके साक्षात् गुरु नहीं परन्तु उनके शास्त्रों द्वारा विवेकचक्षु खोलनेवाले सत्यपथ प्रदर्शकके रूपमें परंपरासे गुरु है–ऐसा यहां भ्रमस्फोट किया जाता है। मतलब कि आ० हरिभद्रसूरिजी उनसे पहिले लेकिन कुछ नजदीकमें ही हो गये हैं ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

इन उपर्युक्त प्रमाणोंसे निर्णीत है कि आ० हरिभद्रसूरिजी वि. सं. ७८५ के अरसेमें विद्यमान थे।

इस तरह आ० हरिभद्रसूरिजीके समयके बारेमे दो मत प्रचलित हैं और उसमें करीब २०० वर्षका अंतर है 'सूरिविद्या' पाठ प्रशस्तिका वि. स. ५८५ का सबल प्रमाण है किन्तु वह प्रशस्ति उस समयकी नहीं अर्थात् पश्चात् कालमें लिखे हुए परिचय रूप है इससे यह मानना सर्वथा उचित है कि आ० हरिभद्रसूरिजी वि. सं. ७८५ करीब हुए हैं।

इस तरह इस ग्रन्थ और उनके रचयिताके बारेमे हमने जो कुछ संक्षेपमें निर्देश किया है उसमे विद्वानोकी प्रगट सामग्रीका काफी उपयोग किया है। उन सब एकका साथ आभार मानते हुए यह उपोद्घात समाप्त करता हूं।

नागजी भूधरनी पोल
जैन उपाश्रय : अमदावाद
वि स. २००६

मुनि दर्शनविजय
(त्रिपुटी)

श्रीसर्वज्ञाय नमः ॥

श्रीमुनिचन्द्रसूरि रचित टीकाद्वारा अलङ्कृत

श्रीमद्‌हरिभद्रसूरि-विरचित

धर्मबिन्दु प्रकरण

॥ प्रथम अध्याय ॥

शुद्ध न्यायका अनुसरण करके जिन्होने ज्ञानादि संपत्तिको अपने वशीभूत कर लिया है, और जो परम पद (मोक्ष) को प्राप्त हो चुके हैं; ऐसे श्रीजिनप्रभु[1]-तीर्थंकर भगवानको नमस्कार हो।

अथाह सागर समान महान् शास्त्रका पारायण कर (शास्त्र रूप सागरके रहस्यरूप जलको पीकर) के जिन्होंने अपने स्वरूपको पुष्ट व गंभीर कर लिया है तथा ऐसे प्राचीन आचार्यस्वरूप मेघोने इस संसारके तापका हरण कर लिया है उन आचार्य मेघोंकी सदा जय हो।

जिसके स्मरणरूप अंजनको सज्जन पुरुष अपने चित्तरूप चक्षुमें लगाकर दिव्य आलोक प्राप्त करके हृदयरूप भूमिके मध्यमें समाये हुए गंभीर अर्थवाले प्रवचनरूप रत्नभंडारको शीघ्र ही देख कर निकाल सकते है ऐसी भारती देवी (परमात्माकी वाणीरूप सरस्वती) को मैं नमस्कार करता हूं।

---

१. यहां टीकाकारने जिनप्रभ नामक अपने गुरुको भी नमस्कार कर लिया है।

मैं अपने ज्ञानसे भव्य जनोंके उपकारार्थ इस 'धर्मबिन्दु प्रकरण' नामक ग्रन्थकी, जिसके पदोंमें अति विरल[२] अर्थ समाये हुए हैं, उस टीकाकी रचना करता हूं ॥

प्रणम्य परमात्मानं, समुद्धृत्य श्रुतार्णवात् ।
धर्मबिन्दुं प्रवक्ष्यामि, तोयबिन्दुमिवोदधेः ॥१॥

मूलार्थ—श्रीअरिहन्त परमात्माको नमस्कार करके समुद्रमेंसे जलबिन्दुकी भांति, शास्त्र सिद्धान्तरूपी समुद्रमेंसे 'धर्मके बिन्दु'को निकाल कर इस 'धर्मबिन्दु प्रकरण' नामक ग्रन्थकी रचना करता हूं ॥१॥

विवेचन—प्रणम्य—त्रिविध वन्दन करके—कायासे नमस्कार, वाणीसे स्तुति व मनसे चिन्तन—इस तरह मन, वचन व काया तीनोंसे भगवानके स्वरूपको मनन करके, प्रभुको वन्दन करके, **परमात्मानं**—अतति—अर्थात् निरन्तर भिन्न भिन्न पर्यायोंको प्राप्त होनेवाला आत्मा या जीव कहलाता है । वह जीव परम और अपरम इस तरह दो प्रकारका है । केवली सिद्ध व अरिहन्त ये परमात्मा हैं और अन्य—ससारी जीव अपरमात्मा हैं । परमात्मा वह है जो समस्त कर्मरूपी मलका नाश करनेसे प्राप्त विशुद्ध ज्ञान-केवलज्ञानके बलसे सकल लोकालोकको देखता है—जो इस जगतके प्राणियोंको संतोष देनेवाला है, जिसकी इन्द्रादि देवगण अष्ट प्रातिहार्योंसे

---

२ मूल ग्रन्थ सूत्रबद्ध होनेसे विरल पदोंके टीकाकी आवश्यकता है ।

पूजा व उपचार करते हैं– तदनन्तर जो सभी भव्य प्राणियोंको अपनी अपनी भाषामें समझमें आनेवाली वाणीद्वारा एक ही समयमें उन (भव्य प्राणियो)के अनेक सदेहोको दूर करता है, अपने विहाररूप वायुद्वारा जो समस्त पृथ्वी पर बिखरे हुए पापरूप रजराशिको दूर करता है, और जिसको 'सदाशिव' आदि शब्दोद्वारा पुकारा जाता है ऐसे श्रीअरिहंत भगवान है–वही परमात्मा है तथा उसके भिन्न सब अपरमात्मा–संसारी जीव है। **समुद्धृत्य**–सम्यक् प्रकारसे उद्धार करनेके स्थान–शास्त्रोंमेंसे–जो कमी हो उसे पूरा करके तथा जो अविरुद्ध हो उसे पृथक् पृथक् करके, उसको उद्धृत किया है–ले कर कहा है। कहांसे ?–**श्रुतार्णवात्**–शास्त्ररूप आगमोके समुद्रमेंसे–वह समुद्र कैसा है ?–जिसमें अनेक भंगी याने रचनारूप भंवरें है, अतिविशाल व विपुल सप्त नयरूप मणिमालाओसे भरपूर है, जो मन्दमतिरूपी कमजोर जहाज-वाले जीवोंके लिये अत्यन्त दुस्तर है ऐसे शास्त्ररूप समुद्रमेंसे। **धर्मबिन्दुं**–धर्मबिन्दु नामक प्रकरण, जिसके लक्षण यथास्थान कहे जावेंगे–ऐसा धर्मबिन्दु नामको सार्थक करनेवाले इस ग्रन्थको मैं–**प्रवक्ष्यामि**–पढता हू–यानि रचना करता हूं। इसका किस तरह उद्धार करके ? वह कहते है–**तोयबिन्दुमिवोदधेः**–जैसे समुद्रमेंसे पानीकी बूंद लेते हैं, वैसा यह प्रयत्न है।

बिन्दु शब्दकी उपमा नूतनके संक्षेपकी अपेक्षासे दी हुई है, अर्थकी अपेक्षासे सोचें तो जैसे कपूरयुक्त जलका एक बिन्दु भी संपूर्ण घडेमें व्याप्त हो जाता है वैसे ही यह धर्मबिन्दु प्रकरण समस्त

धर्मशास्त्रमें व्याप्त है जो यहां साररूपमें दिया है। जैसे दवाका अर्क निकाला जाता है वैसे यह धर्मशास्त्रोमेंसे सारको खींचकर सामने रखा है।

ग्रन्थकी रचनामें चार बातें मुख्य होती हैं-मंगलाचरण, नाम, प्रयोजन और फल। मंगलाचरण और नाम इस पहले श्लोकमें दिये हैं। प्रयोजन व फल टीकाकार बतलाते हैं —

प्रणम्य परमात्मानं यह मंगलाचरण है। प्रभुको वन्दन करना सब विघ्नोंको हरनेवाला है। प्रभुके प्रणामसे सब अमंगल दूर हो जाते है। **धर्मबिन्दु** यह इस ग्रन्थका नाम है वह उपमेय है। इस ग्रन्थमें धर्मका एक बिन्दु 'अवयव' या 'अग' कहा है। इस परसे ग्रन्थका 'धर्मबिन्दु' नाम रखा है। इस ग्रन्थकी रचना का प्रयोजन प्राणियो पर अनुग्रह करना है। इस ग्रन्थसे ससारके दु'खसे पीडित प्राणियोका उपकार होगा। इस ग्रन्थका फल मुक्तिकी प्राप्ति है। ग्रन्थसे श्रोता या वाचकोको धर्मकी प्राप्ति होकर उनका कल्याण होगा, धर्म प्राप्तिसे अन्ततः मुक्ति होगी। ग्रन्थकारको भी परोपकार होनेसे अन्तत' धर्मकी उत्कृष्टता होकर मोक्षसुख मिलेगा। यह एक कुशल अनुष्ठान है और कुशल अनुष्ठानका फल मोक्ष है।

अब धर्मका हेतु, स्वरूप व फल कहते है-**फलप्रधानाः प्रारम्भा मतिमतां भवन्तीति**-बुद्धिमान् मनुष्य फल देनेवाले कार्योंको ही करते हैं। अतः पहले धर्मका फल कह कर हेतुशुद्धिद्वारा धर्मका स्वरूप कहते हैं —

धनदो धनार्थिनां प्रोक्तः, कामिनां सर्वकामदः ।
धर्म एवापवर्गस्य, पारम्पर्येण साधकः ॥२॥

वचनाद् यदनुष्ठानमविरुद्धाद् यथोदितम् ।
मैत्र्यादिभावसंयुक्तं, तद्धर्म इति कीर्त्यते ॥३॥

मूलार्थ—धर्म, धनकी इच्छा करनेवालोंको धन देनेवाला है, कामाभिलाषी जनोंको सभी कामभोग देनेवाला है तथा परंपरासे मोक्षका साधक है ॥२॥

परस्पर अविरुद्ध वचनसे शास्त्रमे कहा हुआ मैत्री आदि भावनासे युक्त जो अनुष्ठान है, वह धर्म कहलाता है ॥३॥

विवेचन—**धनदः**—धनको देनेवाला। धनका अर्थ अन्न, क्षेत्र, वस्तु, द्विपद (सेवक), चतुष्पद (पशु) तथा हिरण्य (चन्दन), स्वर्ण, मणि, मोती, शंख, प्रवाल आदि सब है । वह धन कुबेरकी समृद्धिसे प्रतिस्पर्धा करनेवाला है । साथ ही जो तीर्थ आदिमें उपयोगमें आ सकें व जिसका फल मिल सके वही वस्तुतः धन है। **धनार्थिनां**— संसारमें धन ही सब कुछ है तथा धर्मके सिवाय संसारमें कुछ भी नहीं है, ऐसे समझनेवाले तथा धनकी बहुत इच्छा रखनेवाले पुरुषोको, **प्रोक्तः** —शास्त्रोंमें कहा है । **कामिनां**—काम अत. कामना—कामकी इच्छावालोको, **सर्वकामदः** कामभोगकी सब वस्तुएँ देनेवाला—इच्छित और योग्य वस्तुएँ देनेवाला, इस ससारकी व देवताओकी ऋद्धि को देनेवाला है ।

धर्म एव—धर्म ही, **अपवर्गस्य**—मोक्षका-जन्म, जरा व मृत्यु

आदि सब दोषोंको हटानेवाला, पारम्पर्येण-परंपरासे, अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थानसे क्रमशः अन्य गुणस्थानकों के आरोहणसे, सुदेवत्व और मनुष्यत्वको अनुक्रमसे प्राप्त करके मोक्ष-प्राप्ति करना, साधकः-देनेवाला-यह मोक्षकी ओर ले जानेवाला साधन है।

धर्मसे सब प्रकारकी इहलौकिक व पारलौकिक वस्तुएँ प्राप्त होती है। धनकी इच्छावालोंको सब प्रकारका धन प्राप्त होता है। अन्य सुख व योग्य वस्तुओंकी कामनावालेको वे वस्तुएँ प्राप्त होती है। धर्म करनेसे पुण्य कर्मबन्ध होता है, उससे प्रत्येक प्रकारका शुभ फल मिलता है। इन सब क्षणिक सुख व लाभोको बता कर फिर उत्कृष्ट फल बताते हैं। अनुक्रमसे यही धर्म मोक्ष सुखको देनेवाला है। धर्मसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। अविरत सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थानक को प्राप्त करनेमें धर्म ही सहायक है। उस चौथे गुणस्थानकसे ही उत्तरोत्तर चढकर मोक्ष प्राप्ति हो सकती है। अतः धर्म ही मोक्षका साधक है।

वचनाद्-जो कहा जाय वह वचन या आगम, उसमेंसे शब्दोंको लेकर, **यदनुष्ठानं**-उन वचनोंके अनुसार जो आचरण। इस लोक व परलोकमे हेय (त्याज्य) व उपादेय (ग्रहण करने योग्य) वस्तुओं-कार्योंके त्याग व ग्रहणकी प्रवृत्ति अनुष्ठान है। वह शास्त्रवचन-**अविरुद्धात्**-परस्पर विरोध रहित, कष, छेद व तापकी परीक्षासे सोनेकी तरह शुद्ध हो चुका है और वह अविरुद्ध वचन

श्रीजिनेश्वर भगवंतद्वारा प्रणीत है। वचनका कहनेवाला जो उसका अंतरंग निमित्त है वह शुद्ध है अत: वचन अविरुद्ध है। राग, द्वेष व मोहके वशमें होनेसे निमित्त अशुद्ध होता है क्योंकि ऐसे निमित्तसे अशुद्ध वचनकी प्रवृत्ति होती है। श्रीजिनेश्वर भगवंतमें ऐसी अशुद्धि नहीं है, न हो सकती है। 'जिन' राग, द्वेष और मोह के जीतनेवाले हैं अतः उनका वचन अविरुद्ध है। जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। नीमके बीजसे गन्ना पैदा नहीं होता। अतः दुष्ट कारणसे प्रारंभ किया हुआ कार्य अदुष्ट नहीं हो सकता। इसी कारण जो 'जिन' नहीं है उनके द्वारा कथित वचन अविरुद्ध वचन नहीं है। वह राग-द्वेष पूर्ण होनेसे वचन भी अप्रमाण है।

यदि कोई कहे कि अपौरुपेय वचन अविरुद्ध है तो वह अयुक्त है। जो वचन है वह बोला हुआ ही है। उसका अस्तित्व पुरुषके होने पर ही होता है। अत. अपौरुपेय वचन ध्वनिसे कभी उपलब्ध नहीं होता। अदृष्टवचन, जो पिशाच आदि अदृष्ट रह कर बोले तो ऐसे माने हुए अपौरुपेय वचनसे मनस्वी पुरुष निश्चयपूर्वक प्रवृत्ति कैसे कर सकते हैं ?।

यथोदितं—इस प्रकार काल आदिकी आराधनाके अनुसार कहा गया तथा शास्त्रमें प्रतिपादित अविरुद्ध वचनके अनुसार कहा हुआ जो अनुष्ठान है, उसमें प्रवृत्ति करना ही धर्म है। जो अन्यथा या भिन्नप्रवृत्ति है वह शास्त्रविरुद्ध है अत धर्म नहीं है। कहा है—

"तत्कारी स्यात् स नियमात्, तद्द्वेषी चेति यो जडः।
आगमार्थं तमुल्लङ्घ्य, तत एव प्रवर्त्तते" ॥१॥
—(योगबिन्दु श्लोक २४०)

—जो मूर्ख शास्त्र या शास्त्रनियमोके विरुद्ध आचरण करे वह शास्त्र व शास्त्रोक्त धर्मके विरुद्ध होता है क्योंकि शास्त्रनियमके उल्लङ्घनसे उसकी प्रवृत्ति शास्त्रविरुद्ध होती है ॥

मैत्र्यादिभावसंयुक्तं-मैत्री आदि भावो सहित। ऐसे भाव चार है- मैत्री, प्रमोद, करुणा तथा माध्यस्थ्य-इन भावनाओ सहित बाह्य चेष्टाएँ। प्राणी मात्रके प्रति समभाव तथा मित्रता-मैत्रीभाव, अपने से अधिक गुणवानके प्रति हर्ष या प्रमोद रखना, जो दुःखी हो उस पर करुणा भावना रखना और अविनयी या दुर्गुणीके प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना।

जो अनुष्ठान अविरुद्ध वचनद्वारा शास्त्रमें कहा गया है उसीके अनुसार श्रीजिन भगवान्द्वारा प्रणीत शास्त्रमें उक्त ऐसे वचनो द्वारा कहा हुआ अनुष्ठान मैत्री आदि—इन चारो भावों सहित हो वही वस्तुतः धर्म कहा है।

धर्मरूपी कल्पवृक्षके मोक्ष व स्वर्ग फल हैं, मैत्री आदि भाव मूल है।

धर्म दुर्गतिमें पडे हुए जीवोको बचाने और स्वर्ग आदि सुगतिमें ले जानेवाला है। सब सत्यभावनाओंके जाननेवाले बुद्धि-मान पुरुष इसे ही धर्म कहते है।

'अविरुद्ध वचनवाला अनुष्ठान धर्म है'–यह व्यवहार नयकी अपेक्षा कहा है। निश्चय नयसे कहे तो ऐसे शुद्ध अनुष्ठानसे उत्पन्न होनेवाले कर्म मलको नाश करनेसे, सम्यग्दर्शन आदि जिससे निर्वाणके बीजरूप फलकी प्राप्ति हो ऐसी जीवशुद्धि ही धर्म है। दूसरे शब्दोंमें कहें तो जिससे जीवकी परिणति शुद्ध हो, राग, द्वेष कम हो ऐसा ज्ञान, दर्शन व चारित्र प्राप्त करनेका कोई भी मार्ग धर्म है।

अब धर्मके भेद व प्रभेद कहते हैं—

सोऽयमनुष्ठातृभेदात् द्विविधो
गृहस्थधर्मो यतिधर्मश्चेति ॥१॥

मूलार्थ—यह धर्म अनुष्ठान करनेवालोंके भेदसे दो प्रकारका है, गृहस्थधर्म और यति धर्म ॥१॥

विवेचन--**सः**–वह कहा हुआ, **अयं**–कर्त्ताके हृदयमें प्रत्यक्ष-रूपसे स्थित यह धर्म, **अनुष्ठातृभेदात्**–धर्म का अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंके भेदसे, **द्विविधः**–दो प्रकारका है, **गृहस्थधर्मः**–घर पर रहनेवाला गृहस्थ, उसका दैनिक तथा पर्वादि निमित्तसे होनेवाला धर्म 'गृहस्थधर्म' कहलाता है। **यतिधर्मश्च**–यतिका धर्म यतिधर्म, जो देह मात्रके आरामसे सम्यग्ज्ञानरूप नौका द्वारा तृष्णारूप सरिताको तैरनेका प्रयत्न करे वह यति, उसका धर्म या गुरुके साथ रह कर उसकी भक्ति व बहुमान आदि करता है वह 'यतिधर्म' कहलाता है।

धर्म एक है, करनेवाले भिन्न भिन्न स्थितिके है, अतः धर्मके दो मुख्य भेद कहे है। जिस कामको गृहस्थ करता है वह गृहस्थधर्म व यति करे सो यतिधर्म।

गृहस्थधर्मको ही श्रावक धर्म कहते हैं। वे भिन्न भिन्न स्थितिके होनेसे से दो प्रकारका धर्म कहा है--

तत्र गृहस्थधर्मोऽपि द्विविधः-
सामान्यतो विशेषतश्चेति ॥२॥

मूलार्थ-उसमें गृहस्थधर्म भी दो प्रकारका है; सामान्य और विशेष ॥२॥

विवेचन-जो धर्म सर्व सद्गृहस्थोंद्वारा पाला जा सके वह सामान्य है। अणुव्रत आदि महान गुणोंकी प्राप्तिके लिये सर्व-मान्य सामान्य गुण पहले प्राप्त करना चाहिए। उनको बतलानेवाला सामान्य गृहस्थ धर्म है। जो पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत-इस प्रकार समकितके बारह व्रत अंगीकार करता है वह विशेष धर्मका पालन करनेवाला है।

इस अध्यायकी समाप्ति तक ग्रन्थकार सामान्य गृहस्थधर्मका वर्णन करते हैं -

तत्र सामान्यतो गृहस्थधर्मः कुलक्रमागतमनिन्द्य-विभवाद्यपेक्षया न्यायतोऽनुष्ठानमिति ॥ ३ ॥

मूलार्थ-कुल परंपरासे आया हुआ, निन्दारहित, वैभव

आदिकी अपेक्षासे जो न्याययुक्त अनुष्ठान है वह गृहस्थका सामान्य धर्म है ॥३॥

विवेचन–तत्र सामान्यतः–इन दोनोंमेंसे सामान्य, कुलक्रमागतं– पिता, पितामह आदि द्वारा क्रमशः सेवन किया हुआ, अपने समय तक चला आता हुआ, अनिन्द्यं–जिसकी निन्दा न की जा सके; निन्द्य वह है जिसका साधुजन–जो परलोक व पुनर्जन्मको मुख्य मानते हैं, अनादर करें, जैसे शराबकी दुकान। अनिन्द्य–निन्दारहित, विभवाद्यपेक्षया– वैभव–धनके होने पर भी न्याय्य आचरण, न्यायतः–न्यायसे; बिना मिलावटके शुद्ध, नाप व तोलमें बराबर और व्यवहार आदिमें उचित–जैसे व्याज आदि उचित दरसे लेना–इत्यादि प्रामाणिकतासे (कार्य करना), अनुष्ठानं–व्यापार, राजसेवा आदि।

गृहस्थके सामान्य धर्मका वर्णन करते हुए कहते है कि वंश परंपरागत उचित कार्यको करते रहना चाहिए। वैभव, काल, क्षेत्र आदिके होने पर भी उसकी अपेक्षासे प्रत्येक कार्यको न्यायसे करें। जो सज्जनोंकी सम्मतिवाले न्यायको मुख्य समझ कर अपने धनके तृतीयांशसे व्यापार करे, अपनी स्थिति देख कर उसके अनुसार व्यापार करें और राजसेवा या नौकरी करें तो उस सेवाके योग्य कार्यमें उचित रीतिसे प्रवृत्ति करें। वंशपरंपरागत अनिन्द्य आचरण करे, अत्यंत निपुण बुद्धि रखे–इससे ही सब विघ्नोंसे दूर रहे यही गृहस्थका धर्म है। दीन, अनाथ आदिके उपयोगके योग्य तथा धर्मका साधन होनेसे गृहस्थको धन उपार्जन करना चाहिए।

यहां 'अनिन्द्य अनुष्ठान' करनेका शास्त्रकार कहते है, पर यदि सर्वथा आचरण न करे तो निर्वाह न होनेसे गृहस्थकी सब शुभ क्रियाओके अंत होनेका समय आता है, जिससे अधर्म ही होता है। कहा है—

"वित्तिवोच्छेयम्मि य, गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ।
निरवेक्खस्स उ जुत्तो संपुण्णो संजमो चेव" ॥ २ ॥
—(पचाशक श्लोक १५१)

—जिस गृहस्थकी आजीविका समाप्त हो जाती है उसकी सर्व धर्मक्रियाएँ खत्म हो जाती हैं। पर जिसे आजीविकाकी अपेक्षा नही है उसे सर्वविरतियुक्त संयम ही लेना चाहिए।

न्यायसे धन उपार्जन करनेका कारण बताते हैं—

न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोकहितायेति ॥४॥

मूलार्थ—न्यायसे उपार्जित धन ही इस लोक और परलोकके हितके लिये होता है ॥४॥

विवेचन—न्यायोपात्तं—शुद्ध व्यवहारसे कमाया हुआ, **वित्तं**—द्रव्य—धन जो निर्वाहके कार्यमें आवे। **उभयलोकहिताय**—इहलोक और परलोक—दोनो के लिये कल्याणकारी।

न्यायवृत्तिसे प्राप्त किया हुआ धन दोनों लोकोंके लिये कल्याणकारी होता है॥

वह न्यायोपार्जित द्रव्य दोनो लोको के लिये कैसे हितकारी होता है—वह कहते हैं—

अनभिशङ्कनीयतया परिभोगाद् विधिना तीर्थगमनाच्चेति ॥ ५ ॥

मूलार्थ–जिस द्रव्यका उपभोग करनेमें लोगोंको उपभोक्ता पर या भोग्य वस्तु पर शंका न हो ऐसी रीतिसे उसका उपभोग हो और जिस द्रव्यसे विधिपूर्वक तीर्थाटन आदि हो ऐसा न्यायोपार्जित धन–द्रव्य उस व्यक्तिके दोनों लोकमें हितकारी है–दोनों लोकमें उसका हित करनेवाला है ॥ ५ ॥

विवेचन–इस जगत्में अन्याय रत पुरुष पर दो तरहसे शंका की जा सकती है। एक तो भोक्ता पर, जो उस वस्तुका उपभोग करता है तथा दूसरे भोग्य वस्तु और वैभव पर–उपभोग करने योग्य वैभव पर। भोक्ता पर तो 'वह परद्रोह करनेवाला है' इस प्रकारका दोष आनेकी संभावना है। परद्रोह अर्थात् परायेका द्रव्यहरण करनेवाला। भोग्य वस्तु पर पुनः यह आक्षेप किया जा सकता है कि यह परद्रव्य है–दूसरेका वैभव है–इस प्रकारका कोई भी दोष न मढा जा सके तब वह आनंदसे उस द्रव्यका भोग कर सकता है उसे '**अनभिशङ्कनीय**' कहा जाता है। ऐसे न्यायसे उपार्जित द्रव्यको प्राप्त करके भोक्ता उसका '**परिभोगात्**' उपभोग–परिभोग करे अर्थात् स्नान, पान, आच्छादन व अनुलेपन–तेल व चंदनादि सुगंधी द्रव्योंकी मालिश आदि भोगके प्रकारो सहित स्वयं तथा अपने मित्र व स्वजनादि सहित उसका भोग करे–द्रव्यका व्यय करे–उस पर जीवननिर्वाह करे, इसका भाव यह है कि न्यायसे पैदा किये हुए द्रव्य पर तथा उसके भोगने व व्यय करने पर कोई भी व्यक्ति किसी

भी समयमें लेशमात्र भी शंका नहीं कर सकता। इससे प्रसन्न चित्तवाले तथा श्रेष्ठ व प्रशस्त परिणाम या भावनावाले उस न्यायसे उपार्जन करनेवाले व्यक्तिको इस लोकमें भी महान् सुखकी प्राप्ति होती है।

परलोकमें उसका हित कैसे होता है? **विधिना तीर्थगमनात्**– विधिपूर्वक याने सत्कार व आदर सहित तीर्थाटन करनेसे। तीर्थ वह है जिससे दुःखरूपी महान् समुद्र तैरा जाय अर्थात् ऐसा पुरुषवर्ग–मानवयोनि, जिसमें पवित्र गुण रहे हुए है, और दीन व अनाथ आदि प्राणिवर्ग अर्थात् अन्य प्राणी वे 'तीर्थ' कहलाते हैं, वहां जाने पर ऐसे वर्गको सहायता देनेमें द्रव्यका व्यय होता हो वह 'तीर्थगमन' है। उससे उसका परलोकका हितसाधन होता है। अन्य धर्मी शास्त्रोंमें भी धार्मिक पुरुषके दानको यह स्थान दिया गया है, वह इस प्रकार है–

> 'पात्रे दीनादिवर्गे च, दानं विधिवदिष्यते।
> पोष्यवर्गाविरोधेन, न विरुद्धं स्वतश्च यत्" ॥ ३ ॥

–आश्रित जनोंको संतोष रहे, विरोध न हो तथा स्वत विरुद्ध कर्म न हो इस प्रकार सुपात्रको, दीन व अनाथ आदिको देना वह विधिवत् दान कहलाता है ॥ ३ ॥

इससे विपरीत अन्यायसे उपार्जित धनसे होनेवाली हानि बताते हैं–

अहितायैवान्यदिति ॥ ६ ॥

मूलार्थ–उपरोक्त रीतिसे न करके उससे भिन्न रीतिसे करे तो अहित ही होता है।

विवेचन—न्यायसे उपार्जित न होकर अन्यायसे उपार्जित द्रव्य हो वह दोनो लोकोके लिये अहित करनेवाला है। वह अहितका निमित्त होता है। 'काकतालीय' (कौआ बैठा, डाली टूटी) न्यायसे भी उस द्रव्यसे हित नहीं होता। उससे इस लोकमे तथा परलोकमें भी अमंगल ही होता है।

वह अहितका कारण कैसे होता है?, कहते हैं—

तदनपायित्वेऽपि मत्स्यादि गलादिवद्
विपाकदारुणत्वादिति ॥ ७ ॥

मूलार्थ—यदि वह अन्यायसे उपार्जित द्रव्य नष्ट न हो तब भी मत्स्य आदिको गलगोरिकी तरह परिणाममें दारुण विनाशकारी होता है।

विवेचन—अन्यायसे पैदा किया हुआ धन पहिले तो शीघ्र ही नष्ट होता है, जैसे शल्ययुक्त गृह। शिल्पशास्त्रके अनुसार शल्यवाला घर शीघ्र नष्ट होता है। यदि कभी बलवान पापानुबन्धी पुण्य होनेसे वह जीवनभर बना भी रहा और नाश न हुआ तो भी उसका परिणाम बुरा है। वह लोभ और लालसासे इकट्ठा किया हुआ होता है और लालसा दुःख लाती है, जैसे लोहेके काटेमें मासका टुकडा (गलगोरि) लगा हुआ होता है, उससे रसनाके स्वादमें मत्स्य मारा जाता है, मृगकी गान सुननेकी कर्णेन्द्रियकी लालसासे मृत्यु होती है और पतंग भी चक्षुरिन्द्रियके कारण दीपककी ओर बढकर प्राण खोता है, उसी प्रकार अन्यायका धन कमानेवालेको दुःख लाता

है। बुरे कर्मसे उपार्जन होनेवाले कर्मका फल बुरा मिलेगा ही। अतः धनप्राप्तिमें अन्याय नहीं करना। द्रव्य यदि स्थिर भी रहे तब भी विषयलालसामें प्रवृत्त होनेके कारण बुरा परिणाम लानेवाला बनता है। कहा है कि–

"पापेनैवार्थरागान्धः, फलमाप्नोति यत् क्वचित्।
बडिशामिषवत् तत् तमविनाश्य न जीर्यति ॥४॥

–यदि कभी द्रव्यके प्रेममें अंधा हुआ व्यक्ति कभी अन्यायरूप पापसे द्रव्य फलकी प्राप्ति करता है तो भी अंततः जैसे कांटेमें लगी मांसकी गोली मछलीका नाश करती है वैसे ही वह द्रव्य उसका नाश किये बिना नहीं पचता ॥४॥

यदि अन्यायसे पैदा करनेका मन करनेसे धनकी प्राप्ति ही न हो, उससे आजीविकाका नाश हो, तो धर्म करनेके लिये आवश्यक चित्तकी शांति कैसे रहेगी? उत्तर देते हैं–

न्याय एव ह्यर्थाप्त्युपनिषत्परेति समयविद इति ॥८॥

मूलार्थ–न्याय ही धन पैदा करनेका अत्यन्त रहस्यभूत उपाय है ऐसा सिद्धान्तवेत्ता कहते हैं।

विवेचन–न्याय एव–न्याय ही, अन्याय नहीं, **उपनिषत्**–अत्यन्त रहस्यभूत उपाय, जो उपाय योग्य और अयोग्य (युक्त, अयुक्त) अर्थसमूह व कार्योंमें भेद करनेकी कुशलता रहित स्थूल बुद्धिवाले पुरुषोंद्वारा स्वप्नमें भी न जाना जा सके। **परा**–उत्कृष्ट, **समयविदः**–सदाचारके ज्ञाता पंडित जन।

न्याय ही धन प्राप्ति करनेका उत्तम रहस्यभूत उपाय है। जो मन्दबुद्धि पुरुष योग्य व अयोग्य द्रव्यमें भेद नहीं कर सकते वे इस तरीके को स्वप्नमें भी नहीं पा सकते। बुद्धिमान लोग न्याय मार्गको उत्तम कमानेका मार्ग समझते है। न्याययुक्त व्यवहारसे न्याय होनेसे शुभ कर्म ही होता है। अन्याययुक्त व्यवहारसे अशुभ कर्म। शुभ कर्मसे धन स्वत आ जाता है। न्याय आचरणसे ही धन प्राप्तिके लिये व्यक्ति योग्य होना है। लोभ रहित न्यायी मनुष्योको लक्ष्मी अपने आप मिलती है। कहा है कि—

"निपानमिव मण्डूका, सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
शुभकर्माणमायान्ति, विवशः सर्वसंपदः ॥ ५॥

तथा—नोदन्वानर्थितामेति, न चाम्भोभिर्न पूर्यते।
आत्मा तु पात्रतां नेयः, पात्रमायान्ति संपदः" ॥६॥

—जैसे मेंढक कूंएके प्रति और पक्षी सरोवरकी तरफ स्वतः आते हैं वैसे ही शुभ कर्मवाले पुरुकी पास लक्ष्मी व सर्व संपदायें पराधीनकी तरह दौडी आती हैं ॥ ५॥

—समुद्र यद्यपि जलके लिये भिक्षा नहीं मांगता, तब भी वह जलसे अपूर्ण रहे ऐसा नहीं होता (याने भरा ही रहता है) अतः आत्माको पात्र बनाना चाहिए जिससे संपदाएँ आकर्षित होकर आती हैं ॥ ६ ॥

संपत्ति पैदा करने का उपाय न्याय ही है, यह कैसे? कहते हैं—

ततो हि नियमतः प्रतिबन्धककर्मविगम इति ॥९॥

मूलार्थ–द्रव्य प्राप्तिमें अन्तराय करनेवाले (लाभान्तराय) कर्मोंका नाश न्यायसे ही होता है।

विवेचन–ततः–न्यायसे–न्यायानुसार कार्य करनेसे, नियमतः–नियमानुसार-निश्चितरूपसे, प्रतिबन्धककर्मणः- रोकनेवाले लाभान्तराय कर्मका–भवान्तरमे अपने लाभके लिये दूसरेके लाभको हानि करनेसे उत्पन्न तथा अपने लाभमे विघ्न करनेवाले-लाभान्तराय कर्मका, विगमः–नाश होता है।

संपत्तिको उपार्जन करनेका एक मात्र उपाय न्याय ही है क्योंकि न्यायसे लाभान्तराय कर्मका जो अर्थ प्राप्तिमें बाधा करते हैं, नाश होता है, तब द्रव्यकी प्राप्ति होती है। जैसे ठीक तरहसे लंघन आदि क्रियासे ज्वर, अतिसार आदि रोग नष्ट होते है वैसे ही न्यायसे कर्म नष्ट होकर द्रव्य प्राप्त होता है।

वह लाभान्तराय कर्मका नाश होनेसे क्या सिद्ध हुआ ? कहते है—

सत्यस्मिन्नायत्यामर्थसिद्धिरिति ॥१०॥

मूलार्थ–उस लाभान्तराय कर्मका नाश होने से भविष्यमें धन प्राप्ति होती है।

विवेचन–सति अस्मिन्–लाभान्तराय कर्मका नाश होने पर, न रहने पर, आयत्याम्–आनेवाले समयमें–उसके बाद, अर्थसिद्धिः– इच्छित वैभवकी प्राप्ति या सिद्धि होती है।

विघ्नका नाश होने पर वस्तु मिलती है अतः धनके लिये

अंतरायरूप लाभान्तराय कर्म नष्ट हो जाने पर न्याययुक्त कार्यसे नष्ट होते हैं, धन स्वतः प्राप्त होता है।

अन्यथा जो दोष होता है, वह कहते हैं—

अतोऽन्यथापि प्रवृत्तौ पाक्षिकोऽर्थलाभो
निःसंशयस्त्वनर्थ इति ॥११॥

मूलार्थ—उससे भिन्न प्रकारसे (अन्यायसे) व्यवहार करनेसे लाभ कभी कभी होता है, अनर्थ तो जरूर होता है।

विवेचन—**अतः**—न्यायसे, **अन्यथापि**—भिन्न प्रकारसे-अन्यायसे, **प्रवृत्तौ**—व्यवहार करनेसे, प्रवृत्ति या काम करनेसे, **पाक्षिकः**—वैकल्पिक—कभी कभी, **अर्थलाभः**-धनप्राप्ति, **निस्संशयः**—निःसंदेह होती है।

न्यायसे उचित आचरण करना चाहिए। न्यायसे न होकर अन्यायद्वारा व्यवहार करनेसे धनकी प्राप्ति तो कभी कभी होती है, कभी नहीं भी होती पर अनर्थ व पापाचरण तो अवश्य ही हो जाता है। यदि पिछला पुण्य तेज हो तो अन्यायद्वारा भी धन मिल जायगा पर उससे आनन्द न होगा। पुण्यकृत्यका नाश होगा व पापकर्मका बन्धन होगा।

पहले तो अन्यायमें प्रवृत्ति करना ही अशक्य है, क्योंकि राजदण्ड आदिका भय रहता है। कहा है कि—

"राजदण्डभयात् पापं, नाचरत्यधमो जनः।
परलोकभयान्मध्यः, स्वभावादेव चोत्तमः" ॥७॥

—जो मनुष्य राजदण्डके भयसे पापकर्म नहीं करता वह अधम है, जो परलोकके भयसे नहीं करता वह मध्यम है पर उत्तम पुरुष तो स्वभावसे ही पापका आचरण नहीं करते ॥७॥

यदि कोई निम्नकोटिका व्यक्ति नीचतासे अन्यायका व्यवहार करे तो भी अर्थप्राप्ति तो उसे हो और न भी हो, एकान्तसिद्धि नहीं होती। कभी अशुद्ध सामग्री व अन्यायका व्यवहार होने पर पापानुबन्धी पुण्यका उदय होनेसे लाभ हो सकता है, यदि ऐसा उदय न हो तो लाभ भी नहीं होता, पर अनर्थ तो अवश्य ही होता है। अन्यायसे प्रवृत्ति होने पर अशुभ कर्मका बन्धन होता है जिससे अवश्य ही अशुभ फल भोगने पडते है। अन्यायसे पापकर्म होता है, उनका फल भोगना ही पडता है, उसके बिना पापकर्मका क्षय नहीं होता। कहा है कि—

'अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि" ॥८॥

—शुभ या अशुभ जैसा भी कार्य किया है उसे अवश्य ही भोगना पडता है। सैकडो कोटि कल्पोंके व्यतीत हो जाने पर भी बिना भोगे हुए उन कर्मोंका क्षय नहीं होता ॥८॥

अतः न्याय आचरण करे, अन्यायसे दूर रहे। अन्यायमें विश्वासघात और हिंसा है, न्यायमे परोपकार। अन्यायसे आत्मा मलिन होती है अत कल्याणकी इच्छावाला न्याय आचरण करे। इस तरह गृहस्थधर्मके सामान्यत' जो गुण है उनमे प्रथम कह कर अब दूसरा विवाह प्रकार कहते है—

तथा-समानकुल-शीलादिभिरगोत्रजैर्वैवाह्य-
मन्यत्र बहुविरुद्धेभ्य इति ॥१२॥

मूलार्थ—बहुत लोगोंसे जिनका विरोध है उनके सिवाय समान कुल, शीलवाले भिन्न गोत्री के साथ विवाह करे।

विवेचन—लग्नका उच्च हेतु स्त्री व पुरुषको प्रेमबन्धनमें जोड कर उनका जीवन सुखमय बनानेका होता है। स्त्री अर्धांगिनी कहलाती है जिसका अर्थ वह पुरुषके प्रत्येक कर्ममें सहायक होता है, जैसे प्रजनन, धार्मिक व अन्य सांसारिक वस्तुओंमें। उत्तम लग्नके लिये जिन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है वे यहां दी गई हैं—

समानकुलशीलादिभिः—जिनके कुल व शील समान हों बराबर या एकसे हों वहींसे संबन्ध जोडे। वंशपरंपरा या कुलमें असमानता होनेसे असंतोष हो सकता है। यदि कन्या वैभववाले व उच्च कुलकी हो तो पतिका, जिसका कुल निम्न है या सामाजिक स्थिति या आर्थिक स्थिति कमजोर है तो कन्या पतिकी अवगणना करेगी। यदि पति ऊंचे कुल या अधिक वैभववाला हुआ तो गर्व करेगा व कन्याको हल्की दृष्टिसे देखेगा।

समानशीलका अर्थ समान आचारविचार, रहनसहन, वेषभूषा और भाषा है। दोनों कुलोंमें मद्य, मांस, रात्रिभोजन आदिका त्याग हो। शील याने आचारविचार व रहनसहन एकसे न होंगे वहां परस्पर मेल व प्रेमभावमें कमी आनेकी पूर्ण संभावना है।

दोनोके रहनेके ढग भिन्न होगे तो स्वतः दाम्पत्यजीवन बिगड जायगा। मानसिक संपत्ति व गुण दोषादि एकसे होनेसे ही दोनोकी जोडी अच्छी बैठ सकती है। स्वभाव आदिकी भिन्नतासे अन्य दोष भी उत्पन्न हो सकते हैं।

अगोत्रजैः–एक ही पुरुषसे चला आनेवाला वश गोत्र कहलाता है, उसमें उत्पन्न लागोसे भिन्न अगोत्रज हैं। एक ही गोत्रमें विवाह होनेसे, गोत्रका आपसी बडे छोटेका व्यवहार लुप्त हो जाता है। कन्याका पिता उम्र तथा वैभवमें बडा होने पर भी जामाताके पितासे छोटा ही समझा जायगा। ऐसे विवाह संबन्धसे कोई लाभ भी नहीं है। साथ ही पहले चले आनेवाले विनय–व्यवहारमें अंतर आ जानेसे अनर्थ हो सकता है।

वर्तमान स्वास्थ्य विज्ञानने भी यह सिद्ध किया है कि एक ही गोत्रमें विवाह होना स्वास्थ्य तथा बच्चोंकी सुंदरताके लिये भी हानिकर है।

उपरोक्त तीन बातोंके होने पर विवाह संबन्ध जोडे पर एक बात छोडनेकी भी है, वह है **बहुविरुद्धेभ्यः अन्यत्र**–जिसके बहुत शत्रु हो उसके साथ संबन्ध करनेसे अपराध रहित होने पर भी उसके भी शत्रु हो जाते हैं। दूसरे उसे अकारण टीका सहन करनी पडती है व अपनी प्रतिष्ठाकी कमी हो जाती है। उसका भी उसी प्रकार विरोध हो सकता है। जिसके बहुत शत्रु होंगे उसे कभी शांति न होगी, अशान्त चित्तवालेके साथ विवाह करना अयोग्य है। उससे

हानि ही है, लाभ कुछ भी नहीं। इहलोक व परलोक दोनोंके अर्थकी हानि होती है। कहा है—

"जनानाराग्रप्रभवत्वात् संपत्तीनामिति" ॥

लोगोंकी प्रीतिसे ही संपत्तिकी उत्पत्ति होती है।

और भी जिन लोगोंके साथ कन्याका लग्न नहीं करना चाहिए वे इस प्रकार है--

"मूर्ख-निर्धन-दूरस्थ-शूर-मोक्षाभिलाषिणाम् ।
त्रिगुणाधिकवर्षाणां, तेषां कन्या न दीयते" ॥९॥

–मूर्ख, निर्धन, दूर रहेनेवाला, लडाका या वीर, वैरागी और कन्याकी उम्रसे तीन गुना उम्रसे अधिक उम्रवालेको कन्या देना नहीं चाहिए।

टीकाकार कहते हैं कि, लौकिक नीतिशास्त्रके अनुसार १२ वर्षकी कन्या और १६ वर्षका पुत्र होने पर विवाहयोग्य हो जाते हैं (यह विवाहकी वय उस समयके प्रचलित मतके अनुसार है अभी विवाहके योग्य वय भिन्न भिन्न मतोसे भिन्न भिन्न है। राज्यके कानूनोंसे ही कन्याकी कमसे कम आयु १४ व कहीं १५ है, तथा वरकी आयु भी १८ या २० वर्ष होना आवश्यक है)

कुटुम्बके उत्पादन व पालन आदिके व्यवहारसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र—चार वर्ण बनाये हैं। योग्य वर्णविधान तथा युक्तिसे किया हुआ लग्न तथा अग्नि व देवकी साक्षीसे किया हुआ पाणि-ग्रहण (हस्तमिलाप) विवाह कहलाता है। विवाहके आठ भेद इस प्रकार हैं—

१. ब्राह्म– जहां कन्याको वस्त्राभूषणोसे अलंकृत करके 'तुम इस महाभाग्यशालीकी सहधर्मिणी बनो' कह कर वरको सौंप दी जावे उस ब्राह्मविवाह कहते हैं।

२. प्राजापत्य– पिता अपने घरके अनुकूल द्रव्यादि देकर कन्याका विवाह करे वह।

३. आर्ष– जिस विवाहमे केवल गायोकी जोडी ही दी जावे।

४. दैवविवाह– जिसमे यज्ञके लिये ऋत्विज ब्राह्मणको दक्षिणामें कन्यादान दिया जावे वह।

उपरोक्त चारो प्रकारके धर्मविवाह कहलाते है। इसमें गृहस्थके योग्य देवपूजा तथा अन्य व्यवहार आदि सहित माता पिता व बन्धुजनकी सम्मतिसे संबन्ध होता है।

५. गान्धर्व– पारस्परिक प्रीतिसे जो विवाह संबन्ध हो।

६. आसुर– जो किसी शर्त पर किया जावे।

७. राक्षस– बलात्कारसे पाणिग्रहण करना।

८. पैशाच– सोते हुए या अज्ञान अवस्थामें हरण करके विवाह हो या कन्यादान हो।

ये चारो अधर्म विवाह हैं पर यदि वर-वधूमें किसी भी अपवाद बिना प्रीति हो तो वह अधर्म नहीं है।

विवाहका फल बताते है—विवाहसे कुलीन स्त्रीकी प्राप्ति होती है। उससे सुजात पुत्र, कन्या आदिकी प्राप्ति संभव है।

चित्तको स्वस्थता व शांति मिलती है। स्त्री कुलीन होनेसे उसे घरकी चिंता नहीं होती। बहारसे उद्वेग युक्त आने पर स्त्रीकी प्रसन्न मुद्रासे स्वय भी सुखी व प्रसन्न हो जाता है। उससे गृहकार्यमें सुंदरता आती है, आचारशुद्धि होती है और स्वजन संबन्धी देव, गुरु व अतिथिका आदर सत्कार भली प्रकार हो सकता है।

कूलवधूके रक्षणके उपाय इस प्रकार है—उसे हमेशां गृहकार्यमे लगाये रखना, कुछ थोडा धनका योग उसके पास रक्खे, स्वतंत्रता देना नहीं और हमेशां मातातुल्य स्त्रियोंके साथ रहे ऐसा प्रबन्ध करें। गृहकार्यसे अन्य प्रवृत्ति कम होगी। द्रव्यकी अधिक छूट देना ठीक नहीं पर आवश्यकताके लिये कुछ धन तो उसे देना ही चाहिए। हर अवस्थामें पुरुष या पतिद्वारा रक्षित रहनी चाहिए। मातातुल्य स्त्रियोके साथ रहनेसे दुर्गुण रुकेगे व सद्गुणोंके खिलनेका अवसर प्राप्त होगा।

विवाह संबन्ध न करके वेश्या आदिसे संबन्ध रखनेमें क्या हानि है? उत्तरमे कहते है—वेश्या धोबीकी शिला तथा कुत्तेके चाटनेके वर्तन समान है, अर्थात् हर कोई उसमे मुह मारता है। ऐसी बुरी वस्तुसे कौन कुलीन प्रसन्न होगा? उसको दान देनेसे दुर्भाग्य या दरिद्रता आती है, उसके सत्कारसे वह अन्यके उपयोगकी वस्तु बनती है; उसमे आसक्तिसे पराभव (या लोकनिन्दा) तथा मरण भी हो सकता है, बहुत समयका सबन्ध व प्रेम होने पर भी छोडते ही वह अन्यसे सहवास कर लेती है। वेश्याओंका यही परंपरागत रिवाज है।

अतः इन अनर्थोंके कारण सुज्ञजन कुलीन तथा शीलवती स्त्रियोसे ही अपना संबन्ध रखना पसंद करेंगे। अब गृहस्थके तीसरे गुणका वर्णन करते हैं (न्याय आचरण व योग्य विवाह पहेले दो है)—

तथा- दृष्टादृष्टबाधाभीतता इति ॥१३॥

मूलार्थ-प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सब उपद्रवोंसे सावधान रहना चाहिए।

विवेचन-जगतमें अन्याय व पापाचार होता है, उसमेंसे कईका बुरा फल मिल जाता है। कई ऐसे हैं जिनका बुरा फल नहीं दीखता। ऐसे सब पापकर्मोंसे सावधान तथा उनके फलोंसे डरते रहना चाहिए।

दृष्टा-ऐसे कर्म जो दीखते हैं जिनको संसार बुरा कहता है तथा जिनका फल भी राजदंड, अपमान, व टीका आदि प्रत्यक्ष दीखते हैं, जैसे अन्याय व्यवहार, जूआ, परस्त्रीगमन, चोरी आदि, जिनसे विडंबनायें भी सहनी पडती है। **अदृष्टाश्च**-दूसरे ऐसे कर्म हैं जो प्रत्यक्ष फल नहीं देते, पर वे बादमें परभवमे कष्टदायक सिद्ध होते हैं व जिनका धर्मशास्त्रोमें निषेध है, ऐसे कर्मोंसे डरते रहना चाहिए। जैसे मद्य-मांससेवन, अशुद्ध विचार, क्रोध आदि जो अशुभ कर्मबन्धके कारण हैं, उनसे नरकादि महादुःख भोगने पडते हैं ऐसी वस्तुओंसे डरे। संक्षेपमें कहे तो हमे शुद्ध मार्ग पर चलना चाहिए व आत्माको मलिन न होने देकर उसे शुद्ध रखते रहना चाहिए।

तथा-शिष्टाचरितप्रशंसनमिति ॥१४॥

मूलार्थ-और साधुचरित पुरुषोंकी प्रशंसा करते रहना चाहिए।

विवेचन-शिष्टचरित- सदाचारवाले वृद्ध व ज्ञानी जनोंके पास रहकर जो शिक्षा प्राप्त करते है या प्राप्त की है वे मनुष्य शिष्टजन है उनका चरित्र व आचरण शिष्टचरित है, उसकी प्रशंसा करे। जैसे—

"लोकापवादभीरुत्व, दीनाभ्युद्धरणादरः।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं, सदाचारः प्रकीर्तितः ॥१०॥

सर्वत्र निन्दासंत्यागो, वर्णवादश्च साधुषु।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं, तद्वत् संपदि नम्रता ॥११॥

प्रस्तावे मितभाषित्वमविसंवादनं तथा।
प्रतिपन्नक्रिया चेति, कुलधर्मानुपालनम् ॥१२॥

असद्व्ययपरित्यागः, स्थाने चैव क्रिया सदा।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः, प्रमादस्य विवर्जनम् ॥१३॥

लोकाचारानुवृत्तिश्च, सर्वत्रौचित्यपालनम्।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति, प्राणैः कण्ठगतैरपि" ॥१४॥

(योगबिन्दु १२६-१३०)

—लोकापवादसे भय, दीनजनोका उद्धार, कृतज्ञता, दाक्षिण्य-यह सदाचार कहलाता है। सबकी निन्दाका त्याग, साधु व सज्जनोकी प्रशंसा, आपत्तिमें भी हिंमत तथा सुखमें नम्रता रखना, प्रसंगोचित बोलना, किसीसे भी विरोध न करना, अंगीकृत कर्म

करना, कुलधर्मका पालन, फिजूल खर्ची न करना, योग्य स्थान पर योग्य क्रिया करना, उत्तम कार्योंमें लगे रहना, प्रमादका त्याग, लोकाचारका अनुसरण, सब जगह औचित्यका पालन करना, प्राणोके कंठमें आने पर भी निन्दनीय कार्य न करना—इत्यादि गुण सदाचारमें आते हैं। शिष्ट पुरुष इन गुणोका पालन करते हैं और ऐसे गुणवान पुरुषोके चरित्रकी प्रशंसा करना चाहिए। प्रशंसा करनेसे ऐसे गुणोकी ओर आकर्षण होता है। जैसे—

"गुणेषु यत्नः क्रियतां, किमाटोपैः प्रयोजनम् ? ।
विक्रीयन्ते न घण्टाभिर्गावः क्षीरविवर्जिताः ॥१५॥

तथा—शुद्धाः प्रसिद्धिमायान्ति, लघवोऽपीह नेतरे।
तमस्यपि विलोक्यन्ते, दन्तिदन्ता न दन्तिनः" ॥१६॥

—गुण ग्रहण करनेका यत्न करना चाहिए, सिर्फ आडंबरसे क्या लाभ है ? जैसे गाय, बिना दूधके केवल गलेमें घंटा बांधनेसे नहीं बिकती, दूधके कारण बिकती है। और शुद्ध वस्तु छोटी होने पर भी प्रसिद्ध हो जाती है पर अशुद्ध वस्तु बडी होने पर भी अप्रसिद्ध रह सकती है जैसे अंधेरेमें भी हाथीके दांत चमकते हैं पर हाथी बडा होने पर भी नहीं दीखता ॥ १५–१६ ॥

इसी प्रकार पुरुषकी सब जगह पूजा होती है, सुशील पुरुषोका संग करनेसे गुण आते है तथा मनकी मलिनता दूर होती है।

तथा अरिषड्वर्गत्यागेनाविरुद्धार्थप्रतिपत्त्येन्द्रियजय इति ॥१५॥

मूलार्थ—छ अंतरंग (काम, क्रोधादि) शत्रुओंको जीत कर (गृहस्थके) अविरुद्ध (इन्द्रियोंके विषय रूप) अर्थको अंगीकार करके इन्द्रियोंको जीतना चाहिए।

विवेचन-युक्ति विना प्रयोगमें लाये हुए काम, क्रोध, लोभ, मान, मद व हर्ष—यह छ शिष्ट गृहस्थोंके अंतरंग शत्रु है इनका त्याग करना सामान्य धर्म है (गृहस्थके समान्य धर्मका चौथा गुण गुणानुराग तथा पाचवा षड्रिपुविजय है)।

काम-स्त्रीके साथ भोगको काम कहते है। गृहस्थको स्वस्त्रीसे संतोष होना चाहिए। परस्त्री, कुमारिका व वेश्याका त्याग गृहस्थको जरूरी है।

"परपरिगृहीतास्वनूढासु वा स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः"।

—परस्त्री, कुमारी, अथवा वेश्याके साथ दुष्ट अध्यवसायको 'काम' नामक प्रथम अंतरंग शत्रु कहा है। कामवृत्तिको जीतनेवाला देव समान है। कामवासनासे कई प्रकारकी हानि होती है—बल, वीर्य, व बुद्धि का नाश, अप्रीति, अनादर आदिकी उत्पत्ति होती है।

क्रोध- क्रोध या गुस्सेसे कई कार्य विना विचारे हो जाते हैं। क्रोध सब दुःखोंका मूल है। क्रोधका सर्वथा त्याग गृहस्थ न कर सके तो भी टीकाकारके मतसे—

"अविचार्य परस्यात्मनो वाऽपायहेतुः क्रोधः"।

—अविचारसे उत्पन्न अन्यको अथवा स्वयं को दुःख देनेवाली प्रवृत्ति 'क्रोध' है। इसका त्याग जरूरी है। क्रोध अग्नि समान है।

लोभ—लोभसे संसारमें कई अनर्थ होते हैं। लोभकी वृत्ति जिससे अन्याय द्वारा भी पैसा कमानेकी वृत्ति होती है वह हानिप्रद तथा अनर्थकारी है। टीकाकार के मतसे—

"दानार्हेषु स्वधनाप्रदानमकारणपरधनग्रहणं वा लोभः"।

—दानके योग्य सुपात्रको दान न करना तथा निष्कारण परधनको हरण करना 'लोभ' है। सुपात्रको दान देनेसे रोकनेवाली वृत्ति ही लोभ है। परधन हरण लोभकी दूसरी परिभाषा है। न्यायसे जो धन मिले उससे संतुष्ट रहते हुए यथाशक्ति उसका सदुपयोग करना ही हितकर है।

मान—अपने अल्प ज्ञानको सर्वज्ञता मान कर अन्योसे उच्च गिनना ही 'मान' है। अहंकारमें विनयका लोप हो जाता है। वह अधिक ज्ञानको प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्येक स्थानसे ज्ञानका संग्रह करना चाहिए तथा निरंतर नम्रता रखें। टीकाकारके मतसे—

"दुरभिनिवेशामोक्षो युक्तोक्ताग्रहणं वा मानः"।

—दुराग्रहको छोडना नहीं तथा ज्ञानी जनोंके योग्य वचनको ग्रहण न करना 'मान' है।

मद—यह एक प्रकारका मनका उन्माद है। भिन्न भिन्न वस्तुओंके आश्रयसे यह आठ प्रकारका है। कहा है—

"कुल-बलैश्वर्य-रूप-विद्याभिरात्माऽहङ्कारकरणं निबन्धनं वा मदः"॥

—कुल, बल, ऐश्वर्य, रूप, व विद्याके कारण स्वयं अहंकार

करना और इनके बलसे अन्य पर प्रहार करना ही 'मद' है। इसके अलावा लोभमद, तपमद, व जातिमद और है। इस प्रकार आठ भेद होते हैं। मद यह एक नशा सा है जो इन सब कारणोंसे या किसी भी एक या दोके कारण आ सकता है। वैभव या रूपका मद मनुष्यको कई अनर्थोंकी ओर प्रेरणा करता है। यह सब वस्तुएँ नाशवान् हैं; इनका मद करना सर्वथा अनुचित है। प्रभु महावीरने भी जब कुलमद किया तो नीच गोत्रमें जन्म लेना पडा। इन सबका फल बुरा है अतः इसका सर्वथा त्याग करना चाहिए।

हर्ष— यह छठ्ठा शत्रु है। इसे आत्माके आनंदके साथ मिलाना नहीं चाहिए। दूसरेके कष्ट आदिसे खुश होना हर्ष है। आत्माका आनंद प्रेम स्वभाव है। हलके विचारोंसे खुश होनेसे कर्म बन्धन होता है।

"निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्वस्य द्यूत-पापर्द्ध्याद्यनर्थसंश्रयेण वा मनःप्रीतिजननो हर्षः"।

—अकारण किसीको कष्ट देकर और स्वयं जूआ खेलकर, शिकार, वेश्यागमन आदि व्यसनोंका सेवन करके मनको प्रीति व आनंद देने या खुश होनेको 'हर्ष' कहते हैं।

इस हर्षमें जो अनर्थकारी है तथा स्वाभाविक आनंदमें जो आत्मासे स्फुरित होता है अथवा शुभ कर्म करनेसे मनसे प्रगट होता है बहुत भेद है। यह आनंद स्वभाविक है। शुभ कर्मोंमें हर्ष या आनंद करनेसे पुण्यका ही उपार्जन होता है पर ऐसा हर्ष जिससे स्वयं किसीको कष्ट देते हैं या कष्टमें खुश होते हैं त्याज्य है।

इस हर्षमें जिससे अन्योंको कष्ट होता है हिंसा है। सप्त व्यसनमें आनंद प्राप्त करना पापकर्मका बन्धन करना है यह सभी व्यसन दुर्गुण हैं इनमें पडनेसे अशुभ ही होता है।

ऐसे छ अंतरंग शत्रुओंका नाश करना चाहिए। इनके रहनेसे पाप प्रवृत्ति होती है और न रहनेसे पुण्य कर्म करनेका प्रसंग उपस्थित होता है। इन षट् कर्मोंका त्याग करके गृहस्थ अवस्थाके योग्य धर्म और अर्थके अविरुद्ध (जिनसे विरोध या हानि न हो सके वे) सर्व इन्द्रियोंके विषयोंका उनमें आसक्ति रखे बिना सेवन करना चाहिए। धीरे धीरे उसमें कमी करके इन्द्रिय निग्रह करना चाहिए, इसे इन्द्रियजय कहेते है। सर्व इन्द्रियोके विकारोंका संपूर्ण निरोध करना यतिधर्म है जिसके बारेमें आगे कहा जायगा। यहां गृहस्थका सामान्य धर्म कहा है अतः इन्द्रियोंके विषयोंको अंगीकार करके आसक्ति बिना व क्रमशः इन्द्रिय निरोधको गृहस्थके सामान्य धर्मका अंग कहा है।

तथा-उपप्लुतस्थानत्याग इति ॥१६॥

मूलार्थ-उपद्रववाले स्थानका त्याग करना चाहिए।

विवेचन-अपने राज्यका या अन्य राज्यके सैन्यका विक्षोभ होने पर अकाल, महामारी, लोकविरोध तथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि उपद्रव उत्पन्न होने, पर अपने निवास स्थान ग्राम, नगर आदिका त्याग कर देना चाहिए। न करनेसे चित्तकी अशांति होती है जिससे धर्मध्यान व संसार व्यवहारमें बाधा पहुचती है। इससे पूर्व प्राप्त

धर्म, अर्थ व कामका नाश होता है और नवीनका उपार्जन नहीं हो सकता। इससे दोनो लोकोमें आत्माका अहित होता है अतः उपद्रव स्थानका त्याग करना चाहिए।

तथा-स्वयोग्यस्याश्रयणमिति ॥१७॥

मूलार्थ-अपने योग्य पुरुष या स्थानका आश्रय लेना चाहिए।

विवेचन-जो व्यक्ति अपना रक्षण करनेको समर्थ हो तथा लाभदायक हो सके अर्थात् नई चीजोका लाभ करा सके व उपार्जित वस्तुका रक्षण कर सके ऐसे सेठ, श्रीमत या राजाका आश्रय लेना चाहिए। इसी तरह रक्षण सामर्थ्यवाले और लाभदायक स्थानमें ही निवास करना चाहिए। चतुर व्यक्ति बिना आश्रयके भी चला लेते है पर सामान्य गृहस्थ तो लता समान है अतः योग्य आश्रय आवश्यक होता है। स्वामी या आश्रयदाता कैसा हो? स्वामी धर्मात्मा, शुद्ध कुलवान, शुद्ध आचार व शुद्ध परिवारवाला, प्रतापवान व न्यायवान होना चाहिए। आश्रय ग्रहण करते समय इनका विचार करे। बादमें निष्ठासे उनकी सेवा करे।

तथा-प्रधानसाधुपरिग्रह इति ॥१८॥

मूलार्थ-उत्तम और सदाचारी व्यक्तिओंकी संगति करना चाहिए।

विवेचन-उत्तम अर्थात् कुलीनता, सौजन्य, दाक्षिण्य व कृतज्ञता आदि गुणोंसे युक्त साधु व सदाचारमें आग्रह रखनेवाले ऐसे पुरुषकी

संगति करना चाहिए। जैसे पानी गरम लोहे पर, कमलपत्र पर या स्वातिनक्षत्रमें सीप पर पडता है तब क्रमशः वह नष्ट, मुक्तासम, व मोती होता है वैसे ही मनुष्य भी उत्तम, मध्यम या नीच संगतिसे तदनुरूप गुणोंकी प्राप्ति करता है। नीच पुरुष सर्पवाले घरकी तरह संगतिके लायक नहीं होता। उत्तम पुरुषकी संगति करनेसे ही यह पुरुष गुणवान है ऐसी प्रसिद्धि होती है। कहा भी है कि—

"गुणवानिति प्रसिद्धिः, संनिहितैरेव भवति गुणवद्भिः।
ख्यातो मधुर्जगत्यपि, सुमनोभिः सुरभिभिः सुरभिः" ॥१७॥

—गुणवान पुरुषोंके सानिध्यसे ही 'गुणवान् है' ऐसी पुरुषकी प्रसिद्धि होती है। जैसे वसंत ऋतुका नाम 'सुरभि' नामक सुगंधित पुष्पसे ही 'सुरभि' पडा है।

तथा-स्थाने गृहकरणमिति ॥१९॥

मूलार्थ-योग्य स्थानमें निवास स्थान बनाना चाहिए।

विवेचन-अयोग्य व बुरे स्थानको छोडकर अन्य स्थानोंमें अपना निवास स्थान बनाना चाहिए। अयोग्य स्थानके लक्षण कहते है—

अतिप्रकटातिगुप्तस्थानमनुचितप्रातिवेश्यं चेति ॥२०॥

मूलार्थ-जो स्थान बहुत खुला हुआ या बहुत गुप्त हो तथा जिसके पडौसी खराब या अयोग्य हों वह स्थान रहनेके लिये अयोग्य है।

विवेचन- अतिप्रकटम्-जो एकदम आम रास्ते पर या

जिसके आसपास कोई घर न हो। **अतिगुप्तम्**—सब तरफ घर आ जानेसे उसके द्वार आदि विभाग पहिचाने न जा सकें या एकदम सबसे अलग व बहुत अंदर हो। इससे दानादिका प्रसंग कम आवे तथा कुसमयमें सहायता मिलना भी मुश्किल है। **अस्थानम्**—अयोग्य स्थान पर घर बनाना भी अनुचित है। **अनुचितप्रातिवेश्यं च**—जिस स्थानके आसपास बुरे या दुर्गुणी लोगोंका वास हो या जूआ आदि सप्त व्यसन सेवन करते हों ऐसे स्थानमें नहीं रहना चाहिए। ये स्थान अयोग्य कहे उसके कारण बताते है—

अति प्रकट स्थानमें कोई आवरण न होनेसे या अकेले गृहके कारण चोर आदि निःशंक मनसे चोरी कर सकते हैं। अतिगुप्त स्थान पर उसकी शोभा नहीं हो सकती। तथा अग्नि आदिके उपद्रवके समय निकलना या प्रवेश करना कठिन होता है।

"संसर्गजा दोष-गुणा भवन्ति"।

—दोष व गुण संसर्गसे पैदा होते हैं। अतः दुर्गुणी पडौसीके देखने, बातचीत तथा सहवास स्वतः गुणी मनुष्यके तथा उसके बालबच्चोंके गुणोंकी हानि संभव है। अतः खराब पडौसीके पास न रहे।

कैसे स्थान पर निवास करना चाहिए? उसकी विशेष विधि कहते हैं—

लक्षणोपेतगृहवास इति ॥२१॥

मूलार्थ—वास्तुशास्त्रमें कथित लक्षणोंवाले घरमें रहना चाहिए॥

विवेचन—वास्तुके आम स्वरूपको बतानेवाले लक्षण, जैसे

दूर्वादल, कुस्तुंब नामक वनस्पति, जहांकी मिट्टीका रंग व गंध शुद्ध और अच्छा हो। स्वादिष्ट जल सहित तथा द्रव्य भंडारसे युक्त पृथ्वी पर तथा वास्तुशास्त्रके नियम पर बने हुए घरमें रहने पर संपत्तिकी हानि आदि तथा अन्य अनेक लोकप्रसिद्ध दोष उत्पन्न होते हैं। साथ ही घरके शुभ लक्षण गृहस्थकी इच्छित सिद्धिमें मुख्य साधन हैं।

वर्तमान समयमें घरके लिये आवश्यक चीजोमें सूर्यके प्रकाश व हवा के आवागमनके रास्ते मुख्य हैं तथा अत्यन्त आवश्यक हैं, हो सके तो एक बगीचा भी हो। गृहके उक्त लक्षण संशयरहित हैं, यह कैसे जाना जाय? कहते है—

निमित्तपरीक्षेति ॥२२॥

मूलार्थ—शकुन आदि निमित्तसे परीक्षा करे।

विवेचन—शकुन, स्वप्न व उपश्रुति (शब्द श्रवण) आदि निमित्तशास्त्रके अग है। इन निमित्तोंसे जो अतीन्द्रिय (जो पदार्थ सीधे इन्द्रियोके विषयसे परे है) पदार्थों के ज्ञानका हेतुभूत है, घरके लक्षणोंकी परीक्षा करना चाहिए। सब प्रकारसे संदेह, विपरीतता व अनिश्चय आदि यथार्थ ज्ञानके दोषको छोडकर अवलोकन करना—परीक्षा है। इस तरह घरके लक्षणोको देखे।

तथा—अनेकनिर्गमादिवर्जनमिति ॥२३॥

मूलार्थ—जाने आनेके बहुतसे द्वारोंसे रहित बनावे॥

विवेचन—अनेके—बहुतसे, **निर्गमादि**—निकलने के रास्ते तथा प्रवेशके, **वर्जनम्**—नहीं रखना।

जाने आनेके बहुतसे रास्ते होनेसे घरकी भली भांति रक्षा होना संभव नहीं रहता। स्त्रियोंकी लज्जा तथा धनकी हानि होना संभव है। अधिक द्वारवाले घरकी रक्षामें अधिक समय व पैसा भी लगता है। थोडे दरवाजेवाले घरकी रक्षा करना सुगम रहता है।

तथा-विभवाद्यनुरूपो वेषो विरुद्धत्यागेनेति ॥२४॥

मूलार्थ-विरुद्ध वेषका त्याग करके अपनी संपत्तिके अनुरूप वेषभूषा पहने।

विवेचन-विभवादीनाम्-संपत्ति, अवस्था, स्थिति तथा देशके, **अनुरूपः**-योग्य-अनुसार, **वेषः**-वस्त्र आदि, **विरुद्धस्य**-जंघा आदिका अर्ध नग्न दीखना, सिर पर छोगा, खूब तंग कपडे अथवा वदमाश व लुच्चे जैसी चेष्टा, स्पष्ट झलके ऐसा या सुंदर तथा आकर्षक, **त्यागेन**-छोडनेसे।

प्रत्येकको अपने वैभव आदि स्थितिके अनुसार वेशभूषा धारण करना चाहिए। जिस वेषसे लोगोंमें हंसी न हो, खर्च आदि भी वैभवके अनुसार ही हो ऐसे कपडे पहनें। विरुद्ध वेश न पहने। लोगोंके हंसी, मजाक या निन्दाका पात्र न बने। सुंदर वेशभूषाका मना नहीं करते पर केवल आकर्षक हो यह ठीक नहीं, वैभव आदि पदार्थोंके अनुकूल हो। प्रसन्न वेशभूषा पहननेवाला मंगलमूर्ति कहलाता है और मंगलसे ही लक्ष्मी मिलती है। कहा है—

"श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति, प्रागल्भ्याच्च प्रवर्द्धते।
दाक्षिण्यात् कुरुते मूलं, संयमात् प्रतितिष्ठति" ॥१८॥

—लक्ष्मी मंगलसे उत्पन्न होती है, चतुराईसे उसकी वृद्धि होती है। दाक्षिण्यतासे उसका मूल बनता है या जड जमती है; तथा संयमसे प्रतिष्ठा होती है व स्थिरता आती है।

न्यायसे धन पैदा करना व अन्याय मार्ग पर खर्च न करना लक्ष्मीका संयम है। इससे लक्ष्मी स्थिर होकर रहती है व उसका नाश नहीं होता।

तथा–आयोचितो व्यय इति ॥२५॥

मूलार्थ–आयके अनुसार व्यय करना चाहिए।

विवेचन– आय– धनके कमानेके बारेमें पहले कहा जा चुका है। उसीके अनुसार नीति रखना चाहिए। कमानेसे धन-धान्य आदिकी वृद्धिको आय कहते हैं। **उचितः**–उसके योग्य या अनुरूप। **व्ययः**–आश्रितोका भरण पोषण, खुदका खर्च, देव, अतिथि आदिकी पूजा व सेवामें खर्च।

नीतिशास्त्रमें भी अपनी आयके किस भागको किसमें खर्च करना उचित कहा है सो बताते हैं—

> "पादमायान्निधि कुर्यात्, पाद वित्ताय घट्टयेत् ।
> धर्मोपभोगयोः पादं, पादं भर्तव्यपोषणे ॥ १९ ॥
> आयादर्द्धं नियुञ्जीत, धर्मे समधिकं ततः ।
> शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमैहिकम्" ॥ २० ॥

—– अपनी आयके चार भाग करके, उसमें एक घरमें अनामत या संग्रह करके रखे, ताकि वह आपत्तिके समय काम आवे। एक भाग व्यापार आदिमें लगावे जिससे पैसोमें वृद्धि हो. एक भाग

धर्मके लिये तथा अपने उपभोगके लिये रखे और एक भाग (चतुर्थ) अपने आश्रित व कुटुंबीजनोंके भरणपोषणमें खर्च करें। किसी दूसरे मतसे अन्यत्र कहा है कि-धनके दो भाग करे, एक भाग यदि हो सके तो कुछ ज्यादा धर्ममें खर्च करे और शेष धनमें से तुच्छ ऐसा इस लोक संबन्धी अपना शेष कार्य करे।

इन दोनोंकी भिन्नता समयके अनुसार आई हुई प्रतीत होती है। आजकलके समयमें भी समय देख कर धार्मिक कामोंमें तथा खास कर सार्वजनिक कामोंमें जिससे समाजकी उन्नति हो, अपनी आयका एक विशेष भाग अवश्य ही खर्च करना चाहिए। वह सोलहवां, वीसवां आदि हो सकता है।

जैसे रोगसे शरीर कमजोर होता है वैसे ही आयसे ज्यादा खर्च करनेसे धनहानि व ऋण हो जाता है और सब प्रकारके उत्तम व्यवहार चलानेमें वह असमर्थ हो जाता है। कहा है—

> "आयव्ययमनालोच्य, यस्तु वैश्रवणायते।
> अचिरेणैव कालेन, सोऽत्र वै श्रवणायते" ॥२१॥

—जो पुरुष आय, व्ययका ख्याल रखे विना वैश्रवण— कुवेरकी तरह खर्च कर देता है वह थोडे समयमें, शीघ्र ही श्रवण मात्र रह जाता है याने 'वह धनवान था' ऐसी श्रुति मात्र रह जाती है।

अपनी शक्तिके अनुसार ही व्यय करे, वरना ऋण होता है व हृदयमें संताप रहता है। देखादेखी व मौजशोखके खर्चको कम करना चाहिए। गृहस्थके सामान्य धर्ममें इन गुणोका पालन

आवश्यक है। 'षट् रिपुत्याग' के बाद 'उपद्रवस्थान त्याग'— छट्ठा, 'योग्य आश्रय लेना'—सातवा, 'अच्छी संगति'—आठमा, 'योग्य स्थानमें रहना'—नवा, तथा 'ठीक वेशभूषा' दसवा गुण है। 'आयके अनुसार उचित व्यय' तथा 'देशके आचारका पालन' क्रमशः ग्यारहवां तथा बारहवा गुण है। अब बारहवा गुण बताते हैं—

तथा-प्रसिद्धदेशाचारपालनमिति ॥ २६ ॥

मूलार्थ-भोजन-वस्त्रादिमें चलते हुए तथा शिष्ट जनों द्वारा अंगीकृत देशाचारका पालन करे।

विवेचन-प्रसिद्धस्य-शिष्ट पुरुषोंसे सम्मत तथा रूढिसे आया हुआ, **देशाचारस्य**-सब लोगोके व्यवहारमें आनेवाला, भोजनवस्त्रादि तथा चित्र क्रियादिका प्रचलित व्यवहार।

गृहस्थ अपने देशमें प्रचलित आचारको पालन करे। उसका उल्लंघन होनेसे वहाके निवासियोसे विरोधकी संभावना रहती है तथा उससे अमगल या हानि संभव है। साथ ही पुराने रिवाज आदि वृद्ध पुरुषोने अनुभव व बुद्धिसे बनाए हैं। अत: उनको छोडनेसे पहले बहुत विचार करना चाहिए। फिर भी कालिदासके अनुसार—'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'—पुराना सब उत्तम व नया सब बुरा—ऐसा नहीं है। सत्पुरुषोको चाहिए कि वे प्रवाहमें न पड कर परीक्षा करके जो उत्तम रास्ता हो उसे अंगीकार करे। कहते हैं—

"यद्यपि सकलां योगी, छिद्रां पश्यति मेदिनीम्।
तथापि लौकिकाचारं, मनसाऽपि न लङ्घयेत्" ॥२२॥

—यद्यपि योगीजनोंको सारी पृथ्वीके—संसारको छिद्र (दोष) दिखाई देते हैं तब भी व मनसे लौकिक आचारको नहीं छोडते।

अतः देशाचार यद्यपि अधिक उपयोगी न भी हो या न दीखे तब भी जब तक वह हानिप्रद न हो उसका पालन करना ही ठीक है। अब आगेके गुण कहते हैं—

तथा—गर्हितेषु गाढमप्रवृत्तिरिति ॥ २७ ॥

मूलार्थ—निन्दित कार्यमें लेश भी प्रवृत्ति न करना चाहिए।

विवेचन—गर्हितेषु—ऐसा कार्य जिससे इहलोक तथा परलोकमें अनादर तथा निन्दा हो, जैसे मद्य-मांस सेवन व परदारगमनादि निन्दित कार्य, **गाढमप्रवृत्तिः**—लेश मात्र भी प्रवृत्ति न करना—मन, वचन व काया—सबसे बच कर रहना।

गृहस्थको मद्य—मांस सेवन व परदारगमन जैसे घृणित कार्योंसे जिससे इहलोक व परलोक दोनों बिगडते है, दूर रहना चाहिए। मन, वचन, काया- तीनोंसे इस ओर लेश मात्र भी प्रवृत्ति न करना चाहिए। आचारशुद्धि होनेसे सामान्य कुलोत्पन्न पुरुष भी महत्ताको प्राप्त होते हैं। कहा है कि—

"न कुलं वृत्तहीनस्य, प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्त्येष्वपि हि जातानां, वृत्तमेव विशिष्यते" ॥२३॥

—सदाचार रहित पुरुषका कुल प्रमाणरूप नहीं है—ऐसा मैं मानता हूं। क्षुद्र कुलोत्पन्न होने पर भी सदाचारी होने पर वह उत्तम होता है या महत्ता पाता है।

आचारभ्रष्ट कुलीन नहीं कहा जा सकता परंतु सदाचारी ही कुलीन है। श्रीभर्तृहरि भी कहते हैं कि, "कान ज्ञान श्रवणसे शोभा पाता है कुंडलसे नहीं, हाथ दानसे न कि कंकणसे, तथा दयालु हृदयी पुरुषोंका शरीर चंदनसे नहीं पर परोपकारसे शोभित होता है"। अतः निन्द्य आचारोंका त्याग करके सत्कार्यमें प्रवृत्ति करना चाहिए।

तथा-सर्वेष्ववर्णवादत्यागो विशेषतो राजादिष्विति ॥ २८ ॥

मूलार्थ-सब जनोंका अवर्णवाद विशेषतः राजा आदिके अवर्णवादका त्याग करना चाहिए।

विवेचन-सर्वेषु-नीच, उत्तम व मध्यम आदि भेदसे विभिन्न सभी जनोंका, अवर्णवादस्य- निन्दा करना, टीका या अपवादको प्रसिद्ध करना, राजादिषु-राजा, मंत्री आदि बहुतोंको मान्य।

सभी मनुष्योंकी अकारण निन्दाका त्याग करें। उनके दोषोंको प्रगट करना एक प्रकारका दुर्गुण है। गृहस्थ इसका त्याग करें। बुराइसे द्वेषभाव पैदा होता है। कहा है कि—

"न परपरिवादादन्यद् विद्वेषणे परं भेषजमस्ति"।

—दूसरेकी बुराई करनेसे अन्य, शत्रुता पैदा करनेकायोग्य औषध नहीं है याने दूसरेकी टीका करना शत्रुता करनेका सबसे अच्छा साधन है। फिर खास कर राजा, मंत्री, पुरोहित आदि जो बहुतोंको मान्य हैं उनकी बुराई करना तो और भी बुरा है क्यों कि उससे धन वैभव व प्राणका नाश होना संभव है।

"उपदेशरत्नकोश" में कहा है कि, 'निंदिज्जई दुज्जणो वि न कया वि'—दुर्जनकी भी निन्दा न करे—यह वाक्य खास ध्यान देने लायक है। बुराईसे तो दुर्गुणी अधिक हठाग्रही बनेगा, क्रोधित व शत्रु होगा। निन्दासे ही सुधार नहीं होता। हमेशां गुणग्राहकको ही दृष्टि रखे। इससे सर्वत्र कुछ सीखनेको मिलेगा। निन्दासे आत्मा भी अवगुणोंकी ओर जाती है अत निन्दाका सर्वथा त्याग करना ही उत्तमताका लक्षण है। यह गृहस्थका चौदहवां गुण है।

तथा—असदाचारैरसंसग इति ॥२९॥

मूलार्थ—दुराचारीकी संगति नहीं करना चाहिए।

विवेचन—असदाचारैः—असद् + आचार - इस लोक और परलोकको बिगाडनेवाले ऐसे असुन्दर आचार तथा वैसी प्रवृत्ति करनेवाले व्यसनग्रस्त असदाचारी, असंसर्गः—संबन्ध विच्छेद करना।

व्यसन आदि असद् आचरण तथा उनको करनेवाले लोगोंसे हमेशां दूर रहना चाहिए। जैसे जलती हुई अग्नि, उपद्रव या दुष्काल पीडित क्षेत्रसे दूर रहना चाहिए, इनसे कोई संपर्क न रखे। इतना ही नहि उलटे—

संसर्गः सदाचारैरिति ॥३०॥

मूलार्थ—सदाचारी जनोंकी संगति करो।

विवेचन—दुराचारीका छोडना ही काफी नहीं है। सदाचारी व संत तथा महात्माओंका साथ करना चाहिए, तभी सत्संगसे ही कुछ गुणवृद्धि होगी। असदाचारीको छोडने पर भी सत्संग न

करनेसे गुणवृद्धि नहीं होती। इसलिये यह सूत्र कहा है। अतः सदाचारी व समानधर्मीका संग व गोष्ठी करो। कहा है कि—

"यदि सत्सङ्गनिरतो, भविष्यसि भविष्यसि।
अथासज्जनगोष्ठीषु, पतिष्यसि पतिष्यसि" ॥२४॥

—यदि सत्संग किया तो ऐश्वर्यवान बनोगे व दुष्ट संगतिमें पडे तो पतित होकर कष्ट पाओगे। अत सत्सङ्ग करो।

तथा-माता-पितृपूजेति ॥३१॥

मूलार्थ—माता पिताकी पूजा करनी चाहिए।

विवेचन—अपने मातापिताको त्रिकाल प्रणाम आदि करके भक्ति करना चाहिए। श्रीरामचन्द्रजीका पितृभक्तिका अपूर्व उदाहरण है। पूजनविधिके लिये कहा है—

"पूजनं चास्य विज्ञेयं, त्रिसन्ध्यं नमनक्रिया।
तस्यावसरेऽप्युच्चैश्चेतस्यारोपितस्य तु" ॥२५॥

—प्रातः, मध्याह्न व सन्ध्या तीनो समय मातापिता आदि पूज्य वर्गको नमस्कार करनेको उनका पूजन कहते हैं। यदि अवसर न मिले तो उनका स्मरण करके जोरसे उच्चारणपूर्वक नमस्कार करे। बाहर आते जाते भी प्रणाम करे। माता पिताके प्रति कटुवचन नहीं कहना व आज्ञाका उल्लघन नहीं करना चाहिए। 'ठाणांगसूत्र'में लिखा है कि, मातापिताको प्रसन्न करनेके लिये कोई भी कार्य करे तो भी उनके उपकारका बदला नहीं चुकाया जा सकता। उनको धर्मरत्नकी प्राप्ति करानेसे ही उपकारका बदला हो सकता है। गुरुवर्गमें ये हैं—

"माता पिता कलाचार्यः एतेषां ज्ञातयस्तथा।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः' ॥२६॥

—संतजन, मातापिता, कला सिखानेवाला आचार्य, उनकी ज्ञाति (संबंधी) वृद्धजन तथा धर्मके उपदेशक—इन सबको गुरुवर्ग मानते है। इन गुरुजनोका——

"अभ्युत्थानादियोगश्च, तदन्ते निभृतासनम्।
नामग्रहश्च नास्थाने, नावर्णश्रवणं क्वचित्" ॥२७॥

—उनके आने पर खडे होना, सामने जाना, आसन देना व सुखशातादि पूछना, तथा उनको प्रश्न करके अन्य कार्य करना चाहिए। उनके पास निश्चल होकर बैठना चाहिए। अयोग्य स्थल पर उनका नाम नहीं लेना तथा उनकी निंदा न करना, न सुनना ही चाहिए। (मत्र व देव आदिकी तरह गुरुजनोंको भी पवित्र समझना चाहिए)। हो सके तो निंदकको रोकना भी चाहिए। इस बाह्य विनयके साथ हार्दिक बहुमान भी रखें।

माता पिता आदिका अन्य विशेष रखनेके बारेमें कहते है——

आमुष्मिकयोगकारणं तदनुज्ञया प्रवृत्तिः प्रधानाभिनवोपनयनं तद्भोगेऽप्यत्र तदनुचितादिति ॥३२॥

मूलार्थ—माता पिताको धर्मकी प्रेरणा करना, उनकी आज्ञासे प्रवृत्ति करना तथा उनके अयोग्य वस्तुको छोड कर प्रत्येक नइ व श्रेष्ठ वस्तु उनको भेट करके भोगमें लाना चाहिए ॥३२॥

विवेचन—**आमुष्मिकाः**—परलोकसंबंधी, **योगा**—देवपूजा आदि धर्मव्यापारका, **कारणं**—खुद करना तथा उनको कराना या प्रेरणा करना, **तदनुज्ञया**—माता पिताकी आज्ञा व अनुमतिसे, **प्रवृत्तिः**—सब इहलौकिक व पारलौकिक कामोका करना, **प्रधानस्य**—वर्ण, गन्ध आदिसे श्रेष्ठ, **अभिनवस्य**—नइ वस्तुका, **उपनयनं**—माता पिताको भेट करना, **तद्भोगे**—माता पिताके खाने पर, **भोगः**—स्वयं खाना या काममे लेना, **अन्यत्र**—भिन्न या दूसरी, **तदनुचितात्**—माता पिताके लिए प्रकृतिसे ही अनुचित या अयोग्य अथवा व्रतके कारण छोडी हुई।

माता पिताको धर्मकर्मका योग कराना चाहिए। जिन कर्मोसे परलोकका प्रयोजन सुधरे वे उनको करावे। उनको धर्मकार्यमें उत्साह दिलाना चाहिए। 'आप कोइ चिंता न करें तथा धर्मकार्यमें प्रवृत्त रहें' इत्यादि कह कर उनको धर्ममें प्रेरणा दें। उनकी आज्ञा और अनुमतिसे सब वस्तुओंमें प्रवृत्ति करे। प्रत्येक शुभ वस्तु पुष्प, वस्त्र, फल, अन्नादि खाने पीने तथा अन्य भोगकी सब वस्तुएं जो अच्छी हो व नई हो तो पहले उनको देना चाहिए। सब ताजी वस्तुए पहले उनको भेट करना चाहिए। उनके भोग करनेके बाद स्वयं भोगे। इसमें एक ही अपवाद है। माता पिताकी प्रकृतिके विरुद्ध कोइ वस्तु हो, चाहे उम्र कमजोरी या शारीरिक स्थितिसे उनको अयोग्य हो या तो व्रतके कारण छोडी हुई हो तो ऐसी जो भी उनके लिए योग्य न हो उस वस्तुका भोग पहले स्वयं कर सकते है। अन्य सब वस्तुएं पहले माता पिताको भेट करना आवश्यक है।

तथा—अनुद्वेजनीया प्रवृत्तिरिति ॥३३॥

मूलार्थ–किसीको भी उद्वेग न करनेवाली प्रवृत्ति करना चाहिए ॥३३॥

विवेचन–अनुद्वेजनीया–उद्वेग या अशांतिका हेतु न होना। प्रवृत्तिः–मन, वचन, कायाकी चेष्टारूप कार्य।

अपने या पराये किसी भी मनुष्यको कष्ट या मनको अशांति व उद्वेग पैदा हो ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए। कोई मानसिक चेष्टा वचनसे या कायासे ऐसा कार्य न हो जो दूसरेको अशांत करे। दूसरेको अशांति उत्पन्न करानेवालेको कभी भी चित्तकी शांति नहीं मिल सकती। 'अनुरूपफलप्रदत्वात् सर्वप्रवृत्तीनामिति' सब प्रवृत्तियोंका फल उनके अनुरूप ही मिलता है। जिह्वा पर संयम रखे। क्रोधके समय मौन धारण करना चाहिए। अविचारित कार्य करनेसे अनर्थ होता है।

तथा–भर्त्तव्यभरणमिति ॥३४॥

मूलार्थ–भरणपोषण करने योग्य (आश्रित) जनोंका भरणपोषण करे ॥३४॥

विवेचन–भर्त्तव्यानां–भरणपोषण करने योग्य, माता पिता तथा आश्रित स्वजन, सगे संबंधी तथा सेवक आदिका, भरणं–भरण-पोषण करना।

इन सब भरणपोषण करने योग्य मातापिता तथा जिनका वह कर सके भरणपोषण करना चाहिए। इनमेंसे इन तीनका अवश्य भरणपोषण करे–मातापिता, सती स्त्री तथा छोटे बच्चे। कहा है कि–

"वृद्धौ च मातापितरौ, सतीं भार्यां सुतान् शिशून्।
अप्यकर्मशत कृत्वा, भर्तव्यान् मनुरब्रवीत् ॥२८॥

—सैंकडो अकर्म करके भी मातापिता, सती स्त्री तथा छोटे बच्चों (जो कमाने लायक नहीं हुए)का रक्षण करना ही चाहिए। ऐसा मनु कहते हैं।

यदि हम ठीक वैभवसंपन्न हैं तो अन्य लोगोंका भी पोषण करना चाहिए। कहा है कि—

"चत्वारि ते तात ! गृहे वसन्तु, श्रियाऽभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे।
सखा दरिद्रो भगिनी व्यपत्या, ज्ञातिश्च वृद्धो विधनः कुलीनः" ॥२९॥

—हे तात ! गृहस्थधर्ममें रहे हुए संपत्तियुक्त तुमको अपने घरमें इन चारको रख कर उनका भरणपोषण करना चाहिए। 'दरिद्री, मित्र, बिना पुत्र-पुत्रीकी बहिन, अपने कुल या जातिका कोई भी वृद्ध तथा निर्धन कुलीन'- इनकी लक्ष्मीयुक्त गृहस्थ रक्षा करे।

पर क्या उन्हे आलसी व निरुद्यमी बनाना चाहिए ? उत्तरमें कहते हैं—

तथा-तस्य यथोचितं विनियोग इति ॥३५॥

मूलार्थ-तथा उनको उनके योग्य कार्यमें लगाना चाहिए ॥३५॥

विवेचन-इस आश्रित वर्ग जिसका भरणपोषण करना है (जिसमें सेवक भी शामिल है) जो उनके लिए योग्य धर्म या कर्म हो उसमें उनको लगाना चाहिए। माता, पिता आदिके लिए योग्य धर्म तथा अन्योंके लिये उचित कार्य उनको सौंपे। जिस परिवारके पास कोई

कार्य नहीं है या जो व्यक्ति निठल्ला बैठा बैठा खाता है वह अपनी शक्तिको द्यूत (जूआ) आदिमें या अन्य ऐसे बुरे कार्यमें लगाएगा। ऐसे व्यसन या बुरे कर्मसे वह अपने सहायक पर भी दोष लगाता है। अपने बचे हुए समयमें अकर्म करता है उससे दुर्गति होती है तब दोषका निमित्त सहायक भी बनता है। दूसरे वह शक्तिका अपव्यय करनेसे निरुपयोगी भी हो जाता है। जब कोई आश्रित निरुपयोगी हो जाय तब उस पर अनुग्रह किया नहीं कहलाता पर उसका विनाश किया कहा जायगा। अत. पोष्य वर्गको योग्य कार्यमें लगावे।

तथा-तत्प्रयोजनेषु बद्धलक्षतेति ॥ ३६ ॥

मूलार्थ-और उनके प्रयोजन पर लक्ष देना चाहिए ॥३६॥

विवेचन-प्रयोजनेषु-धर्म, अर्थ या काम जो भी उनको सौंपा हो उस पर, **बद्धलक्षता**-ध्यान देना, बराबर जाच करते रहना।

उस पोष्यवर्गको जो भी कार्य सौंपा हो उस पर हमेशा ध्यान देकर उसकी योग्य जांच करना चाहिए। ठीक कार्यकी प्रशंसा तथा भूलकी सुधारणा करना आवश्यक है। इससे वह अपने पासके कामको अच्छी तरह करेगा। यदि स्वामी उस पर लक्ष न देगा तो वे चिंता रहित हो जावेंगे और उन पर आपत्ति आने पर ध्यान न दिया तो वे दुःखी होंगे और इससे प्रसन्न मनसे अच्छा काम न कर सकेंगे। अतः हानि तो स्वामीको ही होगी। स्वामीको हमेशा अपने पोष्य वर्गको सौंपे हुए कार्य पर ध्यान व सावधानी रखनी चाहिए।

तथा-अपायपरिरक्षोद्योग इति ॥३७॥

मूलार्थ—अनर्थ या विनाशसे पोष्य वर्गकी रक्षाका प्रयत्न करना चाहिए ॥३७॥

विवेचन—अपायेभ्यः—अनर्थसे, परिरक्षा—सब जगहसे त्राण या बचाना।

इस लोक या परलोक संबंधी कोई भी आपत्ति पोष्य वर्ग पर आती हो तो उसका नाश करके उनको सुख देनेका महान प्रयत्न करना चाहिए। यदि स्वामी ऐसे समय पर उनकी रक्षा कर सके तो ही उसके प्रति सेवक व पोष्यवर्गका योग्य भाव जागृत होगा। पोष्यवर्गके प्रति उसका स्वामित्व तभी है जब वह अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करावे (योग) और प्राप्त वस्तुकी रक्षा (क्षेम) करनेमे समर्थ हो। 'योग-क्षेमकरस्यैव नाथत्वादिति'—योग और क्षेमके करनेसे ही स्वामित्व है।

तथा—गर्ह्ये ज्ञानस्वगौरवरक्षे इति ॥३८॥

मूलार्थ—उनके निन्दनीय व्यवहारको जान कर अपने गौरवकी रक्षा करे ॥३८॥

विवेचन—गर्ह्ये—निन्दनीय, कभी कोई लोकविरुद्ध अनाचार या निन्दायुक्त कार्य करे, ज्ञानम्—जान कर निश्चित करना—संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसायको छोड कर जैसा हो वैसे स्वरूपका निश्चय निर्धारित करना, संशय—यह ऐसा है, ऐसा नहीं है—इस प्रकार परस्पर विरुद्ध ज्ञान होना, जैसे—'मै आत्मा हूं या शरीर हूं'। विपर्यय—'मै शरीर हू, अग्नि ठडा है'—आदि विरुद्ध ज्ञान होना, अनध्यवसाय—

'यह कुछ है, पर क्या है यह न जानना' ऐसे निश्चित ज्ञान बिना जानना। इन तीनों रहित यथावस्थित स्वरूपको निश्चित रूपमें जानना–ज्ञान है।

जब कभी यह जान पडे कि पोष्यवर्गमें, किसी एकने या सबने कोई निन्दा योग्य कार्य किया है तो उसके बारेमें निश्चित वस्तु जानना आवश्यक है। सुनी सुनाई बात पर आधार न रखे। संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय रहित निश्चित व सत्य ज्ञान प्राप्त करना। यदि निर्दोष हो तो उसे अपना स्थान देना चाहिये यदि दोषी हो तो अपने गौरवकी रक्षाके लिये उसे दिये हुए मानको नष्ट करना चाहिये अथवा तो उसे त्याग भी करना चाहिये।

तथा–देवातिथिदीनप्रतिपत्तिरिति ॥३९॥

मूलार्थ–देव, अतिथि व दीन जनोंकी सेवा करनी चाहिए ॥३९॥

विवेचन–देव–इन्द्रादिक देवता जिनकी निरंतर स्तुति करते रहते हैं, जो क्लेश उत्पन्न करनेवाले कर्मके सैंकडों विपाकोंसे मुक्त हैं और जिनमें अनन्तवीर्य व अनन्त सुख है और जो करुणाकी मूर्ति हैं उनको अरिहन्त, अज, अनन्त, शंभु, बुद्ध, तथा तमान्तक आदि नामसे पुकारते हैं। ये सब नाम परमात्मके गुणके सूचक हैं।

अतिथि–जो निरंतर धर्मक्रियाके अनुष्ठानमें लगे रहते हैं और उसमें तिथि आदिमें भेद न करके सब दिवसोंको एकसा मानते हैं वे ही अतिथि हैं। कहा है कि—

" तिथि-पर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना ॥
अतिथिं तं विजानीयाच्छेपमभ्यागतं विदुः" ॥३०॥

—जिन महात्माओंने तिथि, पर्व तथा उत्सव—सबका त्याग कर दिया है उन्हें अतिथि (साधु) कहना चाहिए, अन्य सबको अभ्यागत जानो ।

ये गुरु ही तीर्थंकर व केवली आदिके न होने पर भी ज्ञानकी रक्षा करते हैं । ऐसे गुरुकी भक्ति करना चाहिए । गुरुभक्तिसे ही ज्ञान मिलता है ।

दीनाः—'दीङ् क्षये'—धातुसे—जिनके पैसे खत्म हो गये या धर्म, अर्थ व कामकी आराधना करनेके सब साधन व शक्तिका क्षय हो गया है वे दीन हैं ।

ऐसे देव, अतिथि व दीनकी निरंतर भक्ति, सेवा व उपचार आदि करना चाहिये अर्थात् प्रभुकी निरंतर भक्ति व पूजा, गुरुकी भक्ति तथा अन्न, पान, विद्या आदिसे यथोचित सेवा—सुश्रूषा व दीनोंको दान देना ही उनकी सेवा करना है । द्रव्यकी तीन गतिमेंसे दान करना ही अति उत्तम है अन्यथा वह बिना खर्च किये नाश होता है । उसमें भी—

तदौचित्याबाधनमुत्तमनिदर्शनेनेति ॥४०॥

मूलार्थ—उत्तम पुरुषोंके उदाहरणसे उनके (देवादि) के औचित्यका उल्लंघन न करे ॥४०॥

विवेचन–तदौचित्यं–देव आदिकी औचित्यपूर्वक सेवा–पूजा आदि करना उत्तम, मध्यम आदि भेदसे, **अबाधनं**–उसका उल्लंघन नहीं करना। **उत्तमनिदर्शनेन**–अन्य लोगोसे अति ऊचा व्यवहार करनेवाले उत्तम–वे भी परोपकार प्रिय भाषण आदि गुणोरूपी मालाके मणकोसे अलंकृत मनुष्य है–उनके उदाहरणसे।

देवादिकी सेवामें उनके औचित्यका पालन करे। पात्रके भेदके अनुसार भक्ति भेद होता है। सेवा उत्तम, मध्यम व जघन्य तीन प्रकारकी है। औचित्यका उल्लघन नहीं करना चाहिये। उसका उल्लंघन करनेसे शेष गुण होते हुए भी नाश हो जाते हैं। कहा है कि–

"औचित्यमेकमेकत्र, गुणानां राशिरेकतः।
विषायते गुणग्रामः, औचित्यपरिवर्जितः ॥ ३९॥

–औचित्यको एक ओर तथा अन्य सारे गुणोंकी राशिकी एक ओर, तब भी औचित्यके विना सारी गुणराशि विषमय हो जाती है। अत: सबका योग्य सन्मान करे।

उत्तम पुरुषोंके उदाहरणसे यह औचित्य गुण अच्छी तरह आ जाता है। उनके उदाहरणके अनुसार कार्य करनेवाले ऊंचे व उदार मनवाले पुरुष स्वप्नमें भी विकृत प्रकृतिके नहीं होते। इस तरह देवादिकी सेवा हमेशा करे, विशेषत भोजनके समय।

तथा-सात्म्यतः कालभोजनमिति ॥४१॥

मूलार्थ–और अपनी प्रकृतिके अनुकूल योग्य समय पर भोजन करे ॥४१॥

विवेचन—मनुष्यके सामान्य धर्ममें देवादिकी पूजा भक्ति १८वाँ तथा समय पर भोजन १९वा गुण है।

" पानाहारादयो यस्याविरुद्धाः प्रकृतेरपि।
सुखित्वायावलोक्यन्ते, तत् सात्म्यमिति गीयते" ॥२२॥

—मनुष्यकी प्रकृतिके अनुकूल जो खान–पान है तथा जो उसको सुखप्रद देखनेमें आवे वह सात्म्य कहलाता है। ऐसे लक्षण-वाले सात्म्य भोजनको समय पर करे अर्थात् जब भूख लग आवे—ऐसे समय पर भोजन करे। अभिप्राय यह है कि जन्मसे ही सात्म्यसे खाया हुआ विष भी पथ्य हो जाता है और असात्म्यसे खाया हुआ पथ्य भी प्रकृतिसे प्रतिकूल हो जाता है। 'सर्वं बलवतः पथ्यम्' 'बलवानके लिये सब पथ्य है' ऐसा मान कर कालकूट विष नहीं खाना चाहिए। विषतंत्रको अच्छी तरह जाननेवाला सुशिक्षित व्यक्ति भी कदाचित् विषसे मर सकता है तथा बिना क्षुधाके खाया हुआ अमृत भी विष जैसा हो जाता है। भूखके समयके बाद अन्न पर अरुचि पैदा हो जाती है तथा बराबर खाया नहीं जाता या पचता नहीं। जैसे—" विध्यातेऽग्नौ किं नामेन्धनं कुर्यादिति ?"—अग्नि शांत होनेके बाद इन्धन क्या कर सकता है? अत भूख लगने पर भोजन करे।

तथा-लौल्यत्याग इति २० ॥४२॥

मूलार्थ—रुचि उपरांत भोजनमें लोलुपता नहीं करना चाहिए ॥४२॥

विवेचन—लौल्य—लोलुपता—आकांक्षाकी अधिकतासे ज्यादा भोजन करना।

सात्म्यतासे जो काल भोजन किया जाता है उसमें लोलुपताका त्याग करना चाहिये। जो भूखमे कुछ कम खाता है, मितभोजी है वही बहुत खाता है—पूर्ण भोजन करता है ऐसा समझो। दुनियाके कइ रोग अधिक भोजनसे होते हैं। अधिक भोजनसे वमन, दस्त व मृत्यु—इन तीनमेंसे एक किये विना वह अतिरिक्त भोजन आराम नहीं लेता। भोजन ऐसा करे जिससे शामको या दूसरे दिन सवेरे तक जठराग्नि मन्द न पडे। भोजनके परिणामका कोई सिद्धांत नहीं है। जितना आरामसे पचे उतना ही खाना चाहिए। जठराग्निके, अपने रुचिके जितना भोजन करे। अतिभोजन करनेसे जठराग्नि बिगडती है और जठराग्नि प्रदीप्त होने पर कम भोजन करनेवालेका शरीर क्षीण होता है और अतिभोजनसे परिणाममें दुःख होता है। श्रमसे थके हुए मनुष्यको शीघ्र भोजन या पान करनेसे अवश्य ज्वर या वमन होता है। अर्थात् कुछ समय आराम लेकर फिर भोजन पान करे।

तथा—अजीर्णे अभोजनमिति २१ ॥४३॥

मूलार्थ—यदि अजीर्ण हुआ तो भोजन नहीं करना चाहिये ॥४३॥

विवेचन—पहलेका किया हुआ भोजन यदि न पचे तो अथवा पूर्ण पाचन न हो तो दूसरे समय या जब तक वह पूर्ण न पचे

तब तक सर्वथा भोजनका त्याग करे। अजीर्णमें भोजन करने पर या अजीर्ण ही सब रोगोंका मूल है, और रोगोकी वृद्धि करता है; कारण, जैसे अग्नि पर एक लकडी पर यदि दूसरी बडी लकडी रख दी जावे तो अग्नि कम होता है। वैसे ही ऊपर ऊपर अधिक करते जानेसे जठराग्नि मंद पड जाता है—अपच होता है। ऐसे भोजनसे रस, वीर्य आदि धातु नहीं बनते तथा अनर्थ परंपरा व रोग बढते जाते है। कहा है कि—

'अजीर्णप्रभवा रोगास्तत्राजीर्णं चतुर्विधम्।
आमं विदग्धं विष्टब्धं, रसशेषं तथा परम् ॥३३॥
आमे तु द्रवगन्धित्वं, विदग्धे धूमगन्धिता।
विष्टब्धे गात्रभङ्गोऽत्र, रसशेषे तु जाड्यता" ॥३४॥

—सब रोग अजीर्णसे पैदा होते हैं। अजीर्ण चार प्रकारका है—आम, विदग्ध, विष्टब्ध और रसशेष। आम—अजीर्णमें नरम दस्त तथा छाश आदिकी दुर्गन्ध—द्रवगन्धी होती है। विदग्ध-अजीर्णमें खराब धुंए जैसी दुर्गन्ध आती है। विष्टब्धमें शरीर टूटता है, शरीरमें पीडा होती है तथा अवयव ढीले पड जाते हैं। चौथे रसशेषमें जडता—शिथिलता व आलस आता है॥ द्रवगन्धी—द्रव्य या दस्तमें नरमी तथा कोहेली व छाश जैसी दुर्गन्ध आती है। अजीर्णके लक्षण ये हैं—

'मलवातयोर्विगन्धो, विड्भेदो गात्रगौरवमरुच्यम्।
अविशुद्धश्चोद्गारः, षडजीर्णव्यक्तलिङ्गानि" ॥३५॥

—मल व वायुकी हमेशासे भिन्न दुर्गन्ध, विष्टामें हमेशासे

भिन्नता, शरीरका भारीपन, अन्न पर अरुचि तथा बुरी डकार आना–यह छ अजीर्णके लक्षण है।

अजीर्णसे जो रोग होते है वह कहते है—

"मूर्च्छा प्रलापो वमथुः, प्रसेकः सदनं भ्रमः।
उपद्रवा भवन्त्येते, मरणं वाऽप्यजीर्णतः" ॥३६॥

—अजीर्णके कारण मूर्छा, प्रलाप, कंपन, अधिक पसीना व थूक आना, शरीर नरम होना तथा चक्करका आना आदि उपद्रव होते है और अचेतनसे अंतमें मृत्यु भी होती है। अर्थात् अजीर्णके समय कुछ न खाकरलंघन करना चाहिये। (प्रसेक–थूक व पसीना ज्यादा आना, सदनं–अगग्लानि)।

तथा–बलापाये प्रतिक्रियेति २२ ॥४४॥

मूलार्थ–बलकी कमी होने पर उसकी प्रतिक्रिया करे ॥४४॥

विवेचन–बल–शरीरका सामर्थ्य, **अपाय**–नाश या ह्रास, **प्रतिक्रिया**–उसको रोकनेका उपाय,।

शरीरका बल कम होता प्रतीत हो उसका उपाय शीघ्र करना चाहिये। प्रथम तो बलका ह्रास किस कारण हुआ यह जानो और उसके अनुरूप उपाय करो अर्थात् ज्यादा परिश्रमका त्याग, स्निग्ध व अल्प आहारका पथ्य लेना आदि क्रियाओसे शरीर बलकी पूर्ति करना चाहिये। कारण कि, 'बलमूलं हि जीवनम्'–जीवनका मूल्य शारीरिक शक्ति है।

अत: शारीरिक बलकी हानि न हो ऐसे सब प्रकारसे यत्न करना चाहिये। यदि कभी किसी रीतिसे बलका ह्रास हो जाय तो वह 'विषं व्याधिरुपेक्षितः'—व्याधिकी उपेक्षासे वह विष समान हो जाता है ऐसा सोच कर शीघ्र ही उसकी प्रतिक्रिया—उसके मिटानेका उपाय करना चाहिये और पुन: कभी भी उपेक्षा न करे। मुख्यतः वीर्यनाशसे व्याधि उत्पन्न होती है, अतः उस ओर ध्यान देना चाहिये।

तथा-अदेशकालचर्यापरिहार इति २३ ॥४५॥

मूलार्थ-और अयोग्य देश कालका परिहार करे ॥४५॥

विवेचन-जिस देशमें चोर आदिका उपद्रव हो, जहां आचार विचार हीन व मलिन हों, लडाई आदि होती हो, इसलोक व परलोकके लिए अहित होता हो अथवा दुष्काल व महामारीका समय हो ऐसे देश तथा ऐसे समयमें रहना अयोग्य है, उसका त्याग करे। यहां शास्त्रकार शरीर रक्षण पर जोर देते हैं, यद्यपि वे शरीरको तुच्छ समझते थे क्योंकि शरीर ही धर्मका प्रथम व उत्तम साधन है।

तथा-यथोचितलोकयात्रेति २४ ॥४६॥

मूलार्थ-योग्यता अनुसार लोक व्यवहार करना चाहिये ॥ ४६ ॥

विवेचन-यथोचित-जैसा उचित हो, योग्य हो, **लोकयात्रा** लोगोंके चित्तका अनुसरण रूप व्यवहार।

हमको हमारी योग्यतानुसार यथोचित लोक व्यवहारमें प्रवृत्ति करना चाहिये। उसका उल्लंघन करनेसे लोगोंके चित्तकी विराधना

होती है। वह अपने विरुद्ध होते हैं तथा अवगणना होती है। जिससे अपनी लघुता उत्पन्न होती हो उसका कारण स्वयं होते हैं। इस कारण अपनेमें रहे हुए गुण तथा सम्यक् आचार आदिकी छाप हम और लोगों पर नहीं डाल सकते। अतः लोक व्यवहारका आदर करना चाहिए। कहा है कि—

"लोकः खल्वाधारः, सर्वेषां धर्मचारिणां यस्मात्।
तस्माल्लोकविरुद्धं, धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम्" ॥३७॥

—धर्म मार्ग पर चलनेवाले सबका आधार लोक है अतः, जो लोकविरुद्ध व धर्मविरुद्ध हो उसका त्याग करना चाहिए।

तथा—हीनेषु हीनक्रम इति ॥ ४७ ॥

मूलार्थ-हीनके साथ तदनुकूल व्यवहार करना चाहिये ॥ ४७ ॥

विवेचन-हीनेषु—अपने कर्मके दोषसे, जाति, विद्या आदि गुणोंके कारण जो लोकमें नीचे गिना जाता है। **हीनक्रम**—तुच्छ लोकव्यवहार करना—तदनुकूल व्यवहार।

खुदके कर्म दोषसे जो व्यक्ति जाति या कर्म विद्याको प्राप्त हो या जिसमें कम गुण हों उसके साथ उसके अनुरूप व्यवहार करना चाहिये। पर उसका तिरस्कार न करे तथा अपने उंचेपनका मद न करे। किसीमे दोष है तो कर्मके कारण है ऐसा सोचकर उस पर दया करना। अवगुणी भी गुणीके संगसे आत्मनिरीक्षण द्वारा धीरे धीरे अपने दोष दूर कर सकेगा। उसके साथ उसके योग्य वर्तन

करना चाहिये। वह अपनी आत्माको उत्तम लोगोंकी संभावनाके अयोग्य मानता है, अतः वह उनका अनुसरण करके अपने आपको कृतार्थ करके हर्षित होगा। साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिये कि यह बात गृहस्थके सामान्य धर्मके लिए कही गई है।

तथा–अतिसङ्गवर्जनमिति २५ ॥ ४८॥

मूलार्थ–अधिक परिचयका त्याग करना चाहिये ॥४८॥

विवेचन–सभीके साथ अतिपरिचयका त्याग करना ही उचित है। इससे गुणगानका भी अनादर होने लगता है। अति-परिचय तिरस्कार उत्पन्न करता है और उससे गुणीके प्रति भक्ति भी कम हो जाती है। कहा है कि—

"अतिपरिचयादवज्ञा भवति, विशिष्टेऽपि वस्तुनि प्रायः।
लोकः प्रयागवासी,, कूपे स्नानं सदा कुरुते" ॥३८॥

—प्रायः विशिष्ट वस्तुसे भी अतिपरिचय रखनेसे अवज्ञा या अवगणना होने लगती है, जैसे कि, प्रयागमें रहनेवाले गंगामें न नहाकर सदा कुंएसे ही स्नान करते हैं।

अतः सबसे योग्य सहवास करना चाहिए—

तथा–वृत्तस्थज्ञानवृद्धसेवेति २५ ॥ ४९ ॥

मूलार्थ–सदाचारी व ज्ञानवृद्ध पुरुषोंकी सेवा करना चाहिए ॥ ॥ ४९ ॥

विवेचन–वृत्तं–दुराचारसे दूर रहना व सदाचारमें प्रवृत्ति करना–वृत्तमें रहनेवाले **वृत्तस्थाः**, **ज्ञानं**– हेय व उपादेय (त्याज्य

व ग्रहणीय) वस्तुका भेद निश्चित रूपसे जानना। ऐसे ज्ञानसे वृद्ध ज्ञानवृद्धाः ।

ऐसे वृत्तस्थ तथा ज्ञानवृद्ध पुरुषोंकी सेवा करना चाहिए। गुणवानकी सेवा करनेसे गुणी होते हैं। जैसे दरिद्रीकी सेवा करनेसे दरिद्री तथा धनवानकी सेवा करनेसे धनवान बनते हैं। सम्यग् ज्ञान व सम्यक् क्रियारूप गुणके पात्र (या इस गुणके धारक) पुरुष सेवा करने योग्य है। उनकी अच्छी सेवा करनेसे वे अवश्य सदुपदेश-रूपी उत्तम फलको प्रदान करते है। कहा भी है—

" उपदेशः शुभो नित्यं, दर्शनं धर्मचारिणाम् ।
स्थाने विनय इत्येतत्, साधुसेवाफलं महत्" ॥३९॥

— शुभ उपदेशका मिलना, धार्मिक पुरुषोंके नित्य दर्शन, और उचित स्थान पर विनय करना— ये साधु सेवाके महान् फल हैं।

तथा—परस्परानुपघातेनान्योऽन्यानुबद्धत्रिवर्ग-प्रतिपत्तिरिति २७ ॥ ५० ॥

मूलार्थ— परस्पर गुंथे हुए धर्म, अर्थ व कामकी परस्पर विरोध बिना सेवा करे ॥ ५० ॥

विवेचन— धर्म, अर्थ व काम यह त्रिवर्ग है। **धर्म**— जिससे सद्‌गति व मोक्षकी प्राप्ति हो। धर्म ही अर्थ व कामकी भी प्राप्ति कराता है। अतः तीनों पुरुषार्थोंके देनेवाले धर्मका सदा पालन करे। **अर्थ**— जिससे व्यावहारिक व पारमार्थिक सब प्रयोजनोंकी सिद्धि

हो। अर्थ या धनसे ही काम व धर्मकी साधना होती है। अभिमान या अहंकारके रससे व्याप्त ऐसी सब इंद्रियोकी प्रीति जिससे हो, जिससे सब इंद्रियोका विषय भोग हो सके वह काम है। परस्परा-नुपघातेन– इनकी पारस्परिक एक दूसरेकी हानि न हो इस भांति तीनोंका सेवन करे। अन्योऽन्यानुबद्धस्य–यह तीनो परस्पर एक दूसरेसे बंधे हुए हैं, अतः किसी एकका हर्ज करके दूसरेका सेवन नहीं करना। प्रतिपत्ति– सेवन।

धर्म, अर्थ व कामका यह त्रिवर्ग है और तीनोका एक दूसरेसे अन्योन्याश्रित संबंध है। इन तीनों पदार्थोंका, जो परस्पर गुंथे हुए हैं बिना किसीकी भी हानि किये सेवन करे। धर्म और अर्थकी हानि करके सिर्फ काम–विषय सुखमे आसक्त व्यक्ति जंगली हाथीकी तरह आपत्तिमें गिरता है। धर्मको छोड़ कर धन (अर्थ) उपार्जन करनेसे सब स्वजन आदि अन्य जन उसका लाभ लेते है व स्वयं सारे (या बहुत अंशमें) पापका भागी होता है। जैसे सिंह हाथीको मारनेसे पापका भागी होता है (क्यों कि वह स्वयं बहुत कम भाग काममें लेता है तथा बाकी सारा भाग शियाल आदि अन्य जानवर खा जाते हैं।) धर्मको छोडकर धन उपार्जन करने-वाला उस कुटुंबी (किसान) की तरह दुःख पाता है। जो बीज (बोनेके लिए आया या लाया हुआ अन्न) भी खा जाता है, इसी तरह मनुष्य जन्मरूपी बीजको पापसे खोनेवाला दुःख पाता है। अधार्मिकका कोई कल्याण नहीं होता। अतः धर्मका उल्लंघन किये बिना न्यायोपार्जित धनसे ही संतोष मानना चाहिए। यही वास्तवमें

सुखी है । जो इहलोकका सुख भोगते हुए भी परलोक-सुखको नष्ट नहीं होने देता अर्थात् परलोकका विरोध न करके सुख भोगनेवाला ही वस्तुतः सुखी है । अतः बुद्धिमान लोग धर्मको बाधा न पहुंचे इस प्रकार अर्थ व कामका आराधन करते हैं।

जो व्यक्ति अर्थ व कामकी हानि करके धर्मकी ही उपासना करता है उसके लिए यतिधर्म ही श्रेयस्कर है, गृहवास नहीं । पर गृहस्थको तो (धर्मके साथ) अर्थ व काम (धन व इच्छित पदार्थ प्राप्ति) की उपासना करना ही कल्याणकारी है, इस न्यायसे धन पैदा करे तथा तादात्विक, मूलहर और कदर्यके अवगुणोंसे बचा रहे । क्योंकि इन तीनो पर शीघ्र आफत आती है।

तादात्विक– कुछ भी सोचे विना उत्पन्न धनका अयोग्य व्यय करनेवाला । **मूलहर**– जो पिता, पितामह आदिका एकत्रित धन अन्यायसे खाता है तथा **कदर्य**– (कंजूस) जो सेवक तथा स्वयं दोनोको कष्ट देकर धनका उपार्जन करे तथा संचय करे और दान व भोगमें व्यय न करे ।

तादात्विक और मूलहर दोनोको उत्तर अवस्थामें (बादमें) बहुत कष्ट उठाना पडता है व उनका कल्याण नहीं होता। उन दोनोका धन शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। धनके नाश हो जाने पर धर्म व कामकी साधना नहीं हो सकती। कदर्यका किया हुआ अर्थ संग्रह राजा द्वारा हरा जाता है या उसके भागीदारोंकी संपत्ति हो जाती है या चोर लूट कर ले जाते हैं या जल जाता है। उस संपत्तिसे

भी धर्म व कामकी साधना नहीं होती। अतः मतिमान लोग इन तीनोंकी प्रकृतिका त्याग करके अर्थका सेवन करते है अर्थात् उचित व्यय तथा रक्षण करते है।

जिस व्यक्तिकी इन्द्रियें वशमें नहीं है उसका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। जो अतिकामासक्त है उसका कोई उपाय नहीं। और जो स्त्रियोंमें अतिआसक्त है उसका द्रव्य, धर्म या शरीर कुछ भी उसके हाथमें नहीं रहता। वह इन तीनोंको खो देता है। जो विरुद्ध काममें प्रवृत्त है वह लंबे समय तक सुखी नहीं होगा। काम-निग्रह करना आसान नहीं है तब भी धीरे धीरे काम निग्रह करना चाहिये। कामवृत्तिको जो जीत लेता है वही देव समान है। अतः धर्म व अर्थको हानि हो उस तरह काम नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार परस्पर विरोध उत्पन्न न हो ऐसे तरीकेसे धर्म, अर्थ व काम–तीनोंकी साधना करनी चाहिये। यदि उनमें परस्पर बाधा आती हो तो किसका त्याग करे सो कहते हैं––

तथा–अन्यतरबाधासंभवे मूलाबाधेति ॥५१॥

मूलार्थ–किसीको हानि हो तो मूल पुरुषार्थको बाधा नहीं होने देना चाहिये ॥५१॥

विवेचन–अन्यतर–उत्तरोत्तर पुरुषार्थको, **मूलाबाधा–**मूल या पूर्ववर्तीकी हानि न होने देना।

धर्म, अर्थ व काम एक त्रिवर्ग है उसमें किसी भी उत्तरोत्तर पुरुषार्थको बाधा न होने पर पूर्व पुरुषार्थको बाधा न होने दे। इसमेंसे

अंतिम कामको बाधा होने पर धर्म व अर्थको हानि नहीं होने देना चाहिये। अर्थ व काम दोनोंमें अंतराय हो तो भी धर्मको हानि न होने दे। क्योंकि यदि धर्म व धन होगा तो इच्छित पदार्थ स्वतः मिलेंगे। यदि धर्म होगा तो ऊपर कहे अनुसार वह धन व कामका दाता है अत: ये चीजें धर्मके कारण मिल ही जावेगी। धर्म ही अर्थ व कामका मूल है। कहा भी है कि--

"धर्मश्चेन्नावसीदेत, कपालेनापि जीवितः।
आढ्योऽस्मीति मन्तव्यं, धर्मवित्ता हि साधवः" ॥३०॥

—कटोरी लेकर भिक्षा मागनेवाला भी धर्म सहित होने पर कभी नाशको प्राप्त नहीं होता। 'मैं धनवान हूं' वह ऐसा विचार करे, क्योंकि साधु पुरुषोंको तो धर्म ही धन है।

दूसरी जगह भी कहा है कि लक्ष्मी लताकी तरह धर्मवान पुरुषोंका आश्रय लेती है अत: अर्थ या काम या दोनोंकी हानि हो तो भी धर्मका नाश नहीं होने देना चाहिये।

तथा-बलाबलापेक्षणमिति २८ ॥५२॥

मूलार्थ-अपनी शक्ति व अशक्तिको सोच कर काम करना चाहिये ॥५२॥

विवेचन-बल-द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावका अपना सामर्थ्य या शक्ति, अबल-उलटा-असामर्थ्य या अशक्ति, अपेक्षणं-आलोचना या विचार करके।

बुद्धिमान् पुरुषको किसी भी काममे प्रवृत्ति करते समय द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावसे अपना सामर्थ्य कितना है, व अशक्ति कितनी है उसका विचार करना चाहिये। यदि विना सोचे काम करे तो संपत्ति आदिका क्षय होनेका निमित्त होता है। जैसे अपने सामर्थ्यसे ज्यादा व्यापार करनेवाला हानि होने पर बिलकुल मारा जाता है। कहा है कि—

"कः कालः कानि मित्राणि, को देशः कौ व्यायागमौ?।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः" ॥४१॥

—समय कैसा है, मित्र कौन है, कौनसा देश है, खर्च व आय कितनी है, मैं कौन हू, मेरी शक्ति कितनी है? इत्यादि सारी बातोका निरंतर विचार करना चाहिये।

इन सबका विचार करनेसे कई दुःख कम पड जाते हैं अतः हमेशा साधन व शक्ति आदिका विचार करके किसी भी कार्यमें पडना चाहिये।

तथा–अनुबन्धे प्रयत्न इति ॥५३॥

मूलार्थ–धर्म, अर्थ व कामकी उत्तरोत्तर वृद्धिका प्रयत्न करना चाहिये ॥५३॥

विवेचन–अनुबन्ध–(धर्म, अर्थ व कामकी) उत्तरोत्तर वृद्धि करना, प्रयत्न–अधिक यत्न करना।

धर्म, अर्थ व कामकी निरंतर व उत्तरोत्तर वृद्धि हो ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिये। उसका आग्रह रखना चाहिये। विघ्न आने

पर भी प्रारंभ किये हुए कार्यको करते रहना चाहिये। अनुबन्ध बिनाके जो प्रयत्न या कार्य हैं वे वन्ध्या स्त्रीकी भांति कोई गौरव नहीं प्राप्त कर सकते। उलटे उसकी अवहेलना होती है।

तथा-कालोचितापेक्षेति २९ ॥५४॥

मूलार्थ-कालके अनुसार योग्य वस्तुको अंगीकार करना चाहिये ॥५४॥

विवेचन-अपेक्षा-अंगीकार।

जिस समय जो वस्तु हो या उपादेय हो तब उसका त्याग या उपार्जन करना चाहिये। उपादेय वस्तुका अतिनिपुण बुद्धिसे विचार करके उसे अंगीकार करना चाहिये। यह बुद्धिमानका लक्षण है और यह सब प्रकारसे लक्ष्मीकी प्राप्तिका हेतुरूप होता है। कहा भी है कि—

"यः काकिणीमप्यपथाप्रपन्नामन्वेषते निष्कसहस्रतुल्याम्।
कालेन कोटीष्वपि मुक्तहस्तस्यानुबन्धं न जहाति लक्ष्मीः" ॥४२॥

—जो व्यक्ति कुमार्गमें पड़ी कौडीको भी हजार मोहरोंकी भांति ढूंढता है और समय पर खुले हाथो करोडों रूपयेका दान भी कर देता है, लक्ष्मी उससे अपना संबंध नहीं तोडती।

तथा-प्रत्यहं धर्मश्रवणमिति ३० ॥५५॥

मूलार्थ-प्रतिदिन धर्मश्रवण करना चाहिए ॥ ५५ ॥

विवेचन-जैसे एक पुरुष किसी युवतीके साथ एकांतमें बैठा हो और किन्नरका गीत सुनाई देने पर जिस रुचिसे वह सुने उतने

प्रेमभाव व रुचिसे प्रतिदिन धर्मका श्रवण करना चाहिये। धर्मशास्त्रका श्रवण करनेसे अगणित गुण उत्पन्न होते है। कहा है कि—

'क्लान्तमुपोज्झति खेदं, तप्तं निर्वाति बुध्यते मूढम्।
स्थिरतामेति व्याकुलमुपयुक्तसुभाषितं चेतः" ॥४३॥

—गुणवान पुरुषका उपयुक्त सुवचन ग्लानियुक्त पुरुषके चित्तके खेदको दूर करता है, तप्त चित्तको शात करता है, मूर्खको प्रतिबोध देता है तथा व्याकुल चित्तको स्थिरता देता है।

तथा-सर्वत्राभिनिवेश इति ३१ ॥५६॥

मूलार्थ-सब कार्योंमे कदाग्रहका परित्याग करना चाहिए ॥ ५६ ॥

विवेचन-सर्वत्र-सभी कार्योंमें, **अभिनिवेश**-झूठी या गलत बातका आग्रह (कदाग्रह) छोडना।

बुद्धिमान लोग सभी कार्योंमे कदाग्रह छोड देते हैं। दूसरेका पराभव, हार करानेकी इच्छासे न्यायमार्ग छोड कर अनीतिका कार्य आरंभ करनेको अभिनिवेश कहते है उसे छोडना चाहिये। नीतिका उलंघन करनेवाले कार्यको करनेकी इच्छा होना नीचका लक्षण है। वह कदाग्रह, अज्ञान, लोभ व स्वार्थवृत्तिसे जाग्रत रहता है अत. यह नि द्य कदाग्रह त्याज्य है। कहा है कि—

"दर्पः श्रमयति नीचान्निष्फलनयविगुणदुष्करारम्भैः।
स्रोतो विलोमतरणैर्व्यसनिमिरायास्यते मत्स्यैः" ॥४४॥

—जैसे पानीके बहावके सन्मुख-चलनेके व्यसनवाले मत्स्योंका प्रयत्न विफल जाता है वैसे ही नीच पुरुषोंका कदाग्रह फलरहित व अन्याययुक्त है। कदाग्रहसे (अहंकारद्वारा) वे बहुत कठिन कामोंका प्रारंभ करनेका निरर्थक प्रयास करते हैं।

तथा–गुणपक्षपातितेति ३२॥५७॥

मूलार्थ–गुणोंके प्रति पक्षपात रखें।।५७॥

विवेचन–गुणेषु– दाक्षिण्य, सौजन्य, उदारता, स्थिरता, प्रियवचनयुक्त भाषण आदि गुण स्व तथा परका उपकार करनेके कारणरूप आत्माका धर्म, **पक्षपातिता**–बहुमानपूर्वक प्रशंसा, सहायता आदि अनुकूल प्रवृत्ति करना चाहिये।

गुणानुराग सबसे उत्तम गुण है और इसीसे अन्य सब गुण आते है। इन गुणोके प्रति प्रशंसा व बहुमान रखनेसे, गुणानुरागसे व्यक्तिको प्रत्येक गुण प्राप्त होता है। तीर्थंकर तककी कोई भी ऋद्धि दुर्लभ नहीं। यदि दोषोकी ओर दृष्टि रखें तो दोष अपने अंदर आवेंगे। आत्मनिरीक्षण जरूरी है। गुणी पुरुषों पर राग रख कर गुण प्राप्त करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये।

गुणानुरागसे प्राप्त होनेवाले पुण्यानुबंधी पुण्यके प्रभावसे इस लोकमे तथा परलोकमे शरद् ऋतुके चंद्रकी किरणो समान शुक्ल गुणसमूहको अवश्य पाता है। क्योंकि गुणानुराग चिंतामणि रत्नसे भी अधिक फल देनेवाला है। चिंतामणि रत्न तो केवल इस लोकके इच्छित पदार्थोंको देनेवाला है पर गुणानुरागसे तो मोक्षसुख मिलता है।

तथा-ऊहापोहादियोग इतीति ३२ ॥५८॥

मूलार्थ-तर्क, वितर्क आदि बुद्धिके गुणोंका योग करे ॥५८॥

विवेचन-बुद्धिके आठ लक्षण है। उनका योग व समागम करना चाहिये। शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊह, अपोह तथा तत्त्वाभिनिवेश–ये आठ लक्षण है। बुद्धिके इन गुणोंके लक्षण इस प्रकार है- **शुश्रूषा**–सुननेकी इच्छा, **श्रवण**–सुनना, **ग्रहण**–सुने हुए को समझ कर अंगीकार करना, **धारणा**–उसे याद रखना, **विज्ञान**–मोह, संदेह तथा विपरीतता रहित निश्चित ज्ञान, **ऊह**–ज्ञात अर्थका अवलंबन करके अन्य पदार्थोंमें उस पदार्थकी व्याप्ति सहित वितर्क करना, जैसे घरमें धुंआ देख कर वहां अग्नि है ऐसा विचार करनेको वितर्क कहते हैं। **अपोह**–वचन व युक्तिसे विरुद्ध कार्य जैसे हिंसा आदि कामको करनेसे पाप होता है, उसमेंसे निवृत्ति करना, ऐसे विरुद्ध कार्य (हिंसादि) का न करना अपोह है। पुनः दूसरे अर्थमें सामान्य ज्ञान ऊह है तथा विशेष ज्ञानको अपोह कहते है। विज्ञान, ऊह और अपोहको विशुद्ध रूपसे जान कर निश्चित रूपसे ज्ञान प्राप्त करके, तर्क–वितर्क करके तथा निश्चित रूपसे निवृत्ति या प्रवृत्ति करनेसे शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति होती है इससे 'यह ऐसा ही है' ऐसा निश्चित ज्ञान प्राप्त करनेको **तत्त्वाभिनिवेश** कहते है। तत्त्वकी प्राप्ति तत्त्वाभिनिवेश है।

व्यक्तिको बुद्धिके इन आठ गुणोंकी प्राप्ति करना चाहिये तथा

धर्मश्रवण आदि तथा ऐसी प्रवृत्ति करना चाहिये। इस तरह शुश्रूषा आदि बुद्धि गुणोंसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति जिसकी बुद्धि इस कारण ही तीव्रताको प्राप्त होती है उसका कभी भी अमंगल नहीं होता। सदा कल्याण होता है। वह अपना निश्चित अभिप्राय बता सकता है। साथ ही वह अन्योंको भी शुद्ध राह पर ले जा सकता है। कहा है कि—

"जीवन्ति शतशः प्राज्ञाः, प्रज्ञया वित्तसंक्षये।
न हि प्रज्ञाक्षये कश्चिद्, वित्ते सत्यपि जीवति" ॥४५॥

—सैकडो बुद्धिमान धनके नाश होने पर भी बुद्धि द्वारा जीते हैं पर बुद्धिका नाश होने पर धन होते हुए भी कोई (वस्तुत') जीवित नहीं रह सकता।

अत' धनसे बुद्धि उत्तम है इसलिये' बुद्धिको प्राप्त करनेका प्रयत्न सतत करना चाहिये। यहां अब गृहस्थके सामान्य धर्मकी समाप्ति करते है ऐसा सामान्य धर्म पालन करनेवाला विशेष धर्मका अधिकारी होता है। क्रमशः यतिधर्म व मोक्ष पाता है।

श्रीग्रन्थकार इस सामान्य धर्मका फल कहते हैं—

एवं स्वधर्मसंयुक्तो, सद्गार्हस्थ्यं करोति यः।
लोकद्वयेऽप्यसौ धीमान्, सुखमाप्नोत्यनिन्दितम् ॥४॥

मूलार्थ—जो पुरुष इस प्रकार स्वधर्मयुक्त श्रेष्ठ गृहस्थ धर्मका पालन करता है वह बुद्धिमान पुरुष इस लोकमें तथा परलोकमें अनिन्दित सुखको पाता है।

विवेचन—एवं—न्याय सहित जैसा कहा है, स्वधर्मः— गृहस्थका साधारण धर्म, सद्गार्हस्थ्यं—सुंदर गृहस्थाश्रम, अनिंदित—शुभानुबंधी होनेसे सद्बुद्धिवाले पुरुषों द्वारा निन्दा न की जाये ऐसा, धीमान्—प्रशस्त बुद्धियुक्त, आप्नोति—प्राप्त होता है।

इस प्रकार जो उपर्युक्त सामान्य गृहस्थ धर्मयुक्त सुंदर गृहस्थाश्रमका पालन करते है वे बुद्धिमान पुरुष दोनों लोकोंमें भी अनिन्दित सुखको प्राप्त करते है। वह सुख पुण्यानुबंधी पुण्यसे मिलता है। गृहस्थके सामान्य धर्ममें गृहस्थके ३३ गुण कहे हैं। प्रत्येक गुणकी मूलके साथ (पहलीवाली) संख्या दी है। इन सब गुणोंको पानेवाला ही सामान्य गृहस्थ धर्मको पालता है। इसका पूरा प्रयास करना चाहिये। यही आगेके दो श्लोकोंमें बताते हैं—

दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं, विधेयं हितमात्मनः।
करोत्यकाण्ड एवेह, मृत्युः सर्वं न किञ्चन ॥५॥
सत्येतस्मिन्नसारासु, संपत्स्वविहिताग्रहः।
पर्यन्तदारुणासूच्चैर्धर्मः कार्यो महात्मभिः ॥६॥

मूलार्थ—दुर्लभ मनुष्य जन्मको पा कर आत्मका हित साधन चाहिये क्यों कि मृत्यु अकस्मात ही आकर इस संसारमें 'कुछ न था' ऐसा कर देगी। इस स्थितिको विचार कर परिणामतः कष्ट देनेवाली असार संपत्तिमें मोह रखे बिना आत्मार्थी पुरुषोंको उच्च प्रकारसे धर्मका आचरण व सेवन करना चाहिये।

विवेचन–**दुर्लभ**– दुष्प्राप्य, **हित**– कल्याण करना, उत्तम मित्रोंके योग आदिको अनुकूल बनाना, **अकाण्ड एव** - बाल, युवा, मध्यम, वृद्ध किसी भी अवस्थाको न देखकर असमय ही आनेवाला, **सर्व**– पुत्र, कलत्र, वैभव आदि, **न किञ्चन**– मृत्युसे बचानेमें असमर्थ अर्थात् कुछ नहीं।

यह मनुष्य जन्म दुर्लभ है। इसमे मृत्यु किसी भी समय अकस्मात ही आ उपस्थित होती हैं उसको रोकनेमें कोई भी समर्थ नहीं हैं अतः आत्माको हित करनो चाहिये ॥ ५ ॥

सति– इस जगतमें स्थित सब जन्तु तथा वैभव आदि, **एतस्मिन्**– मृत्यु, **असारासु**–मृत्युके निवारणमें अक्षम, असमर्थ, **संपत्सु**– धन-धान्य आदि सपत्ति लक्षण, **अविहिताग्रहः**– आग्रह या मूर्च्छा छोडकर, **पर्यन्तदारुणासु**– विराम या मृत्युके समय सैंकडों कष्ट देनेवाली, **महात्मभिः**– श्रेष्ठ आत्मावालोंसे–महात्माओं द्वारा।

ऐसे असार इस संसार व संपत्तिको जो दारुण दुःख देनेवाली है मूर्च्छारहित होकर महात्मा पुरुषोंको उच्च प्रकारसे धर्मका सेवन करना चाहिये।

मुनिचन्द्रसूरि द्वारा विरचित धर्मबिन्दु प्रकरणकी टीकाका सामान्य गृहस्थ धर्म विधि नामक प्रथम अध्याय-समाप्त।

इस प्रकार सामान्य गृहस्थ धर्मके स्वरूपको बतानेवाले प्रथम अध्यायकी व्याख्या समाप्त हुई ॥

द्वितीय अध्याय।

प्रथम प्रकरणमे बताये हुए गृहस्थके लक्षण जिस व्यक्तिमें आ जाते है वह धर्मका उपदेश ग्रहण करनेका योग्य अधिकारी हो जाता है। अब दूसरे अध्यायकी व्याख्या करते हैं। इस अध्यायका विशेष विषय शास्त्रकार स्वयं कहते है इससे यहां नहीं बताया। अन्य अध्यायोंमें भी ऐसा ही है। द्वितीय अध्यायका यह पहला सूत्र है—

प्रायः सद्धर्मबीजानि, गृहिष्वेवंविधेष्वलम्।
रोहन्ति विधिनोप्तानि, यथा बीजानि सत्क्षितौ॥७॥

मूलार्थ— जैसे अच्छी पृथवीमें विधिवत् बोये हुए बीज ऊगते हैं वैसे ही उपर्युक्त लक्षणवाले गृहस्थोंमें विधि सहित बोये हुए सद्धर्मके बीज प्रायः ऊग आते हैं॥७॥

विवेचन—सद्धर्मस्य—सम्यग्ज्ञान, दर्शन व चारित्ररूप, **बीजानि**—कारणानि—मूल, **गृहिषु**—गृहस्थमें, **एवंविधेषु**—कुल क्रमागत अनिन्द्य न्याय अनुष्ठान आदि गुणोंके पात्रमें, **अलं**—अपने सफल कारणोसे, **रोहन्ति**—धर्मचिन्तन आदि लक्षणवाले अकुरोंसे युक्त,

विधिना–देशना योग्य बाल आदि पुरुषोंकी योग्यताके लक्षणसे, **उप्तानि**–डाले हुए, *यथा*–जैसे, **बीजानि**–शालि, गोधूम–गेहूं आदि अन्नकी भांति, **सत्क्षितौ**–अच्छी व बराबर भूमि।

प्रायः करके सद्धर्मके बीज अच्छे गृहस्थके हृदयमें जम कर धर्मचिन्ता आदिके लक्षणके रूपमें अंकुरकी तरह ऊग आते हैं। यदि वे देशना आदिसे विधिवत् बोये जाय, जैसे शालि आदि अन्न अच्छी व बराबर भूमिमें विधिसे बोये जाने पर ऊग आते हैं। सद्-धर्मके बीज ये हैं—

"दुःखितेषु दयाऽत्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च।
औचित्यासेवनं चैव, सर्वत्रैवाविशेषतः" ॥४६॥

—दुःखी पर दया, गुणी पर अद्वेष (गुणी पर राग) तथा सब स्थानों पर भिन्नता रहित योग्य मार्गका सेवन करना, ये धर्मके बीज हैं।

ये बीज भी विधिवत् गृहस्थके हृदयमें बोने पर प्रायः ऊग आते हैं। धर्मके अंकुर पैदा होते हैं उसके बारेमें कहा है कि—

"वपनं धर्मबीजस्य, सत्प्रशंसादि तद्गतम्।
तच्चिन्ताद्यङ्कुरादि स्यात्, फलसिद्धिस्तु निर्वृतिः" ॥४७॥
"चिन्ता सच्छ्रुत्यनुष्ठानदेवमानुपसंपदः।
क्रमेणाङ्कुरसत्काण्डनालपुष्पसमा मता" ॥४८॥

—सत्पुरुकी प्रशंसा करना यह धर्मबीजका आरोपण है। धर्मचिन्तन आदि उससे अंकुर समान है और निर्वृति या मोक्ष उसकी फलसिद्धि समान है ॥४७॥

—धर्मका चिन्तन, उसका श्रवण, अनुष्ठान, देव व मनुष्य संपदा आदि क्रमशः धर्मबीजके अंकुर, डाली, नाल (धड) तथा पुष्प समान है ॥४८॥

यहा यह बताया है कि, दुःखी पर दया, गुणानुराग व औचित्यपालन आदि धर्मके बीज हैं। कुल क्रमागत अनिन्द्य धर्मका अनुष्ठान करनेवाला गृहस्थ शुभ भूमि है। ये बीज उसमें फलित होकर अंकुर, धड, डाल व पुष्प लाते हैं तथा अंतत मोक्षरूपी फल भी लाते हैं। ऐसे गृहस्थ जिनका साधारण धर्म ऊपरके अध्यायमें कहा है उनको धर्मदेशनासे उनके मनमें धर्म पैदा होता है तथा धीरे धीरे फलित होकर क्रमशः मोक्षको देनेवाला होता है। कभी कभी भवस्थितिके पक जाने पर मरुदेवी माता आदिकी तरह क्रमकी अपेक्षासे भी अकस्मात फल प्राप्त होता है पर इससे विशेष नहीं उत्पन्न होता। प्रायः उनका ऊगना क्रमशः ही होता है अतः धर्ममें १४ गुणस्थानक कहे है जो गृहस्थके लिये सीढी पर चढनेका एक एक कदम है।

यदि पात्र अच्छा न हो तो धर्मबीजका क्या होता है? कहते हैं—

बीजनाशो यथाऽभूमौ, प्ररोहो वेह निष्फलः।
तथा सद्धर्मबीजानामपात्रेषु विदुर्बुधाः ॥८॥

मूलार्थ—जैसे ऊपर भूमिमें पडा हुआ बीज अंकुर हो जाने पर भी निष्फल जाता है वैसे ही अपात्रके प्रति धर्मका बीजारोपण हो वह भी नष्ट होता है ऐसा पंडित कहते हैं ॥८॥

विवेचन–अभूमौ–ऊषर आदि भूमि, **प्ररोहः**–अंकुर आदि प्रस्फुटित होना, **निष्फल**–फलरहित।

ऊषर या बंजर भूमिमें बोये हुए अन्नका बीज ही नष्ट हो जाता है। यदि कभी अंकुर भी फूट गया तो धान्य आदिकी जो उत्पत्ति होना चाहिये वह फल उसका नहीं होता और वह निष्फल ही रहता है। उसी तरह अज्ञानी अपात्र गृहस्थके हृदयमें बोया हुआ सद्धर्मका बीज भी नष्ट होता है। यदि व्यवहारमें कभी सद्गुण आदि अंकुर निकला भी तो मोक्षरूपी फल तो कदापि नहीं मिलता।

अपात्रमे कैसे सद्धर्मका बीज नष्ट होता है या अंकुर होने पर भी निष्फल होता है। कहते हैं—

न साधयति यः सम्यगज्ञः स्वल्पं चिकीर्षितम्।
अयोग्यत्वात् कथं मूढः, स महत् साधयिष्यति ॥९॥

मूलार्थ–जो अज्ञानी अपनी तुच्छ इच्छाको भी नहीं साध सकता, वह मूढ अयोग्य होनेसे मोक्ष प्राप्तिरूप महत् कार्यका संपादन कैसे कर सकता है? ॥९॥

विवेचन–अज्ञः–हिताहितका विभाग करनेमे अकुशल, **चिकिर्षितम्**–निर्वाह आदि अनुष्ठान, **अयोग्यत्वात्**–अज्ञतासे अयोग्य होनेसे अधिकारी नहीं, **महत्**–परम पुरुषार्थके हेतुरूप होनेसे महान् धर्मबीजको अंगीकार करनेका कार्य या मोक्ष।

जो मूढ जीव हित, अहितमे भेद नहीं कर सकता वह अपनी तुच्छ आजीविका आदिका अनुष्ठान करनेमें भी असमर्थ है। जो

सरसोंको नहीं ऊठा सकता वह मेरु पर्वतको कैसे धारण कर सकता है? अतः वह जीव जो अज्ञाताके कारण अयोग्य है, धर्मश्रवणका अधिकारी नहीं। कहा है कि—

'मूर्खस्य क्वचिदर्थे नाधिकार.'–मूर्ख किसी भी अर्थ (काम) का अधिकारी नही है। वह मूढ परम पुरुषार्थ (मोक्ष) का हेतुरूप धर्मबीजको अंगीकार करनेका कार्य कैसे कर सकते हैं? जो बोधके जितना योग्य हो उसे उतना ही देना चाहिये।

इति सद्धर्मदेशनार्ह उक्तः, इदानीं तद्विधि-मनुवर्णयिष्याम इति ॥१॥ (५९)

मूलार्थ–इस प्रकार सद्धर्मकी देशनाका अधिकारी बता कर उसकी देशना विधि कहते हैं ॥१॥

विवेचन–सद्धर्मदेशनार्हः–लोकोत्तर धर्मकी देशनाके योग्य, उसे हृदयंगम करने योग्य (सामान्य धर्मपालन करनेवाला गृहस्थ) **तद्विधिम्**–सद्धर्मका देशना क्रम।

इस प्रकार पूर्व अध्यायमें वर्णित गृहस्थके सामान्य धर्मको बताया है उसे पालन करनेवाला गृहस्थ लोकोत्तर धर्मको हृदयमें स्थापित करने योग्य है व उसका श्रवण करनेका अधिकारी है, अतः सद्धर्मदेशनाका अधिकारी व उसके गुण व धर्मका वर्णन करनेवाली अब देशनाविधि कहते हैं।

तत्प्रकृतिदेवताधिमुक्तिज्ञानमिति ॥२॥ (६०)

मूलार्थ–देशनायोग्य व्यक्तिकी प्रकृति तथा उसके इष्ट देव आदिका ज्ञान प्राप्त करे ॥२॥

विवेचन–प्रकृतिः–उसका स्वरूप, गुण व गुणीजनोंके संगमें प्रीति, अप्रीति आदि, **देवताधिमुक्ति**–बुद्ध, कपिल आदि कौनसे देव इष्ट हैं तथा मुक्ति किस भांति मानता है।

देशना देनेवाला व्यक्ति उपदेश सुननेवालेकी प्रकृतिको पहले जाने। उसका गुणानुराग, आचार विचार, तथा उसके इष्टदेव व मुक्तिकी मान्यता जान ले। यह जाननेसे किस रास्ते धर्मज्ञान देना यह जाना जा सकता है। जिस मनुष्यमें (१) प्रवृत्ति बहुत हो उसे क्रियामार्गसे, (२) प्रेम बहुत हो उसे भक्तिमार्गसे, (३) ज्ञानके प्रति रुचिवालेको ज्ञानमार्गसे–उच्च राहकी ओर–धर्मकी राह पर लाया जा सकता है। अतः उपदेश्य पुरुषके गुण, अवगुण जानना आवश्यक है।

प्रकृति जाननेसे यदि रागी, द्वेषी, मूढ या अन्य किसी उपदेशक द्वारा पहले विपरीत धर्म न पाया हो तो कुशल उपदेशक उसे उस भांति लोकोत्तर गुणके पात्र बना सकता है। यदि उसकी देवमुक्तिकी मान्यता ज्ञात हो जाती है तो उस देवताद्वारा प्रणीत मार्गानुसारी गुणोंका उपदेश देनेसे उसके रचे हुए राहके अनुसार वचन समझा कर उसकी प्रीति उत्पन्न करना चाहिये, फिर अपने व उसके शासनमें क्या क्या मतभेद है तथा उसके क्या कारण हैं, उसमें क्या दूषण हैं, अधिक ऊंचे तत्त्व किसमें है आदि समझा कर उसे सद्धर्मके राह पर आसानीसे लाया जा सकता है।

तथा-साधारणगुणप्रशंसेति ॥३॥ (६१)

मूलार्थ-उपदेशक सामान्य गुणोंकी प्रशंसा करे ॥३॥

विवेचन-साधारण-लोक तथा लोकोत्तरके सामान्य गुण, प्रशंसा-उपदेश सुननेवालेके सामने लोक व लोकोत्तरके साधारण, सामान्य गुणोकी प्रशंसा करे जिससे वह उपदेश सुननेकी लालसा प्रगट करे। जैसे—

"प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधिः,
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः।
अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिमतसारा परकथाः,
श्रुतौ चासंतोषः कथनमभिजाते निवसति" ॥४९॥

—सुपात्रमें गुप्त दान, (लोक प्रशंसाके लिये नहीं), कोई घर आवे तो उसे अहोभाग्य समझकर (प्रीति सहित उसकी भक्ति तथा स्वागत करना), किसीका प्रिय या हित करके मौन रखना (भला करके कह बताना नहीं), किसीका (अपने पर) किया हुआ उपकार सभाके बीच कहना, लक्ष्मीका मद नहीं करना, दूसरोंकी भली बात करना, पर पराभव हो वैसी बुरी बात कभी न कहना, सब जगह संतोष रखना पर शास्त्रश्रवण व अध्ययनमें संतोष नहीं रखना अर्थात् श्रवण व अध्ययन बहुत करना, ऐसे सुंदर गुण कुलीन पुरुषोंकी अपेक्षा और किसमें पाये जाते हैं? ॥४९॥

अन्यत्र भी कहा है कि—'लोभका नाश, क्षमा, अभिमान दूर करना, पापमें आनंद नहीं लेना, सत्य बोलना, साधुपुरुषोंका अनुसरण करना, विद्वानोंकी सेवा, मान्य पुरुषोंका मान, दुश्मनोंको मना

लेना, स्वगुणोंको गुप्त रखना, कीर्तिकी रक्षा तथा दुःखी पर दया करना आदि गुण संतजन, महापुरुषोंके हैं।'

तथा–सम्यक् तदधिकाख्यानमिति ॥४॥ (६२)

मूलार्थ–और सम्यक् प्रकारसे उच्च गुणोंका आख्यान करना ॥४॥

विवेचन–सम्यक्–अच्छी तरह, अविपरीत रूपसे, **तदधिक**–उन सामान्य व साधारण गुणोंसे विशेष जो गुण हैं उनका–**आख्यान**–वर्णन।

इन ऊपर कहे हुए साधारण गुणोंसे अधिक ऊंचे व विशेष गुणोंका वर्णन ठीक प्रकारसे करे। जब उपदेशक देखे कि श्रोता ऐसे गुणोंके वर्णनमें रस लेता है तो उच्च गुणोंका वर्णन उसके सामने करे। जैसे—

"पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम्।
अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम्" ॥५०॥

—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), त्याग (अपरिग्रह–दान) तथा अमैथुन (ब्रह्मचर्य पालन)–ये पांच बातें धर्मोंमें पवित्र मान कर अंगीकार की हुई हैं।

जितने आर्यधर्म हैं वे सब इन्हें मानते हैं। बुद्धधर्ममें पंचशील (पंचशील) तथा वेदांतमें पंच यम कहे हैं। अतः प्रथम इनका उपदेश देना चाहिये।

तथा–अबोधेऽप्यनिन्देति ॥५॥ (६३)

मूलार्थ–गुणका बोध न भी हो तब भी निंदा नहीं करना चाहिये ॥५॥

विवेचन–अबोधेऽपि–सामान्य या विशेष किसी भी गुणका बोध न हो तो भी, **अनिन्देति**–श्रोताकी निन्दा नहीं करना।

यदि श्रोताको सामान्य गुण या विशेष गुण इन सबमेंसे एक भी गुणका बोध प्राप्त न हो, उसके मन पर असर न हो या न समझे तो भी उसकी निन्दा नहीं करना चाहिये। जैसे कि–'तुम मंदबुद्धि या अभागे हो, हमने तुमको इतनी तरहसे बोध किया, समझाया तो भी तुमको वस्तु तत्त्वका बोध न हुआ' इस प्रकारकी श्रोताकी निंदा या तिरस्कारका त्याग करे। उपदेशक गुस्से न हो। ऐसा करनेसे श्रोताकी जिज्ञासा नष्ट होती है, मनमें सुननेके प्रति भावकी कमी हो जाती है।

तब उपदेशक क्या करे? कहते हैं—

शुश्रुषाभावकरणमिति ॥६॥ (६४)

मूलार्थ–सुननेकी इच्छाका भाव श्रोतामें उत्पन्न करे ॥६॥

विवेचन–उपदेशक श्रोताको इस प्रकार उपदेश दे कि श्रोताके मनमें शास्त्रश्रवणकी भावना पैदा हो। अर्थात् योग्य वचनोसे श्रोताको धर्मशास्त्र सुननेकी इच्छा बिना धर्मोपदेश करनेसे उल्टे अनर्थ होनेकी संभावना रहती है। कहा है कि–" स खलु पिशाचकी वातकी वा यः परेऽनर्थिनि वाचमुदीरयते "–सुननेकी इच्छाके रहित श्रोताके सम्मुख उपदेशक जो वाणी उच्चारे वह पिशाचग्रस्त अथवा वातूनीकी

बातें हैं याने "भैंसके सामने भागवत" वाली बात है। अर्थात् वह निष्फल जाती है अत: इच्छा उत्पन्न करना चाहिये।

तथा-भूयोभूय उपदेश इति ॥७॥ (६५)

मूलार्थ-और बार बार उपदेश करना चाहिये ॥७॥

विवेचन-यदि श्रोताको बोध शीघ्र न हो तो बार बार उपदेश करते रहना चाहिये। जैसे सन्निपातके रोगमें तिक्तादि क्वाथ पिलानेका उपचार बार बार किया जाता है जब तक कि सन्निपात न मिटे। उसी तरह जब तक धर्मशास्त्रकी बात श्रोताके हृदयमें न जमे बार बार उपदेश देना ही चाहिये। उमास्वाति कहते है कि-जैसे जहर उतारनेमे बार बार मन्त्रोच्चारमें पुनरुक्ति दोष नहीं है वैसे ही व्याख्यानमें भी।

तथा-बोधे प्रज्ञोपवर्णनमिति ॥८॥ (६६)

मूलार्थ-बोध होने पर उसकी बुद्धिकी प्रशंसा करे ॥८॥

विवेचन-एक बार या बार बार उपदेश करने पर जब श्रोताको बोध हो, शास्त्रकी बात हृदयंगम हो तो उसकी इस प्रकार प्रशंसा करे-"दीर्घकर्मी (भारे कर्मी) प्राणी ऐसी सूक्ष्म बातोंको समझनेमें असमर्थ होते है। जो लघुकर्मी (अल्पकर्मी) हैं वे ही ऐसी सूक्ष्म बाते समझ सकते है, सुननेकी रुचि होना भी पुण्योदयसे होती है अतः ध्यान देकर सुनो आदि" कहनेसे उसका उत्साह भी बढता है।

तथा तन्त्रावतार इति ॥९॥ (६७)

मूलार्थ—और शास्त्रमें प्रवेश कराना चाहिये। ९।

विवेचन—तन्त्रे—आगममें। अवतारः—प्रवेश।

श्रोताको पहले शास्त्रके प्रति बहुमान उत्पन्न करा कर उसके द्वारा प्रवेश कराना चाहिये। आगमके प्रति बहुमान—पूज्यभाव उत्पन्न हो ऐसा उपदेश देना। श्रोताको कहे कि—

"परलोकविधौ शास्त्रात्, प्रायो नान्यदपेक्षते।
आसन्नभव्यो मतिमान्, श्रद्धाधनसमन्वितः" ॥५०॥

—आसन्न भव्य तथा श्रद्धावान बुद्धिमान मनुष्य परलोक संबंधी कार्यमें प्रायः शास्त्र सिवाय अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता। पारलौकिक वस्तुएँ इन्द्रियोसे नहीं जानी जा सकती, अतः ज्ञानीकी उपस्थितिमें शास्त्र ही प्रमाण है। कहा है कि—

"उपदेशं विना ह्यर्थकामौ प्रति पटुर्जनः।
धर्मस्तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः" ॥५१॥

—अर्थ व काम दोनो पुरुषार्थ विना उपदेशके भी साधे जा सकते हैं, पर धर्म साधन तो शास्त्र बिना नहीं हो सकता। अतः शास्त्रका आदर करना हितकर है।

"अर्थादावविधानेऽपि, तदभावः परं नृणाम्।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः, क्रियोदाहरणात् परः" ॥५२॥

—अर्थ व कामका उपार्जन न करनेसे मनुष्योको केवल अर्थ या कामका ही अभाव होगा पर धर्मका उपार्जन न करनेसे तो अनर्थ

हो जायगा। वह क्रियाके स्वरूप या उदाहरणसे जान लेना चाहिये। (क्रियाका स्वरूप 'पन्नवणा' आदि सूत्रोंमें कहा है)।

"तस्मात् सदैव धर्मार्थी, शास्त्रयत्नः प्रशस्यते।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन्, शास्त्रालोकः प्रवर्त्तकः" ॥५३॥

—उपरोक्त कारणोसे शास्त्रका अभ्यास करनेवाला धर्मी पुरुष सदा प्रशसा योग्य है। इस लोकके मोह अन्धकारको दूर करनेके लिये शास्त्र ही दीपक (ज्योति) है और वही उसको हेय, उपादेय वस्तुको बतानेवाला सही मार्ग पर ले जानेवाला है।

"पापमयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थसाधनम्" ॥५४॥

—शास्त्र पापरूप रोगका औषध, पुण्यका कारण तथा सर्वत्र गमन करने (जाने) वाला चक्षु है। सक्षेपमे शास्त्र सर्व अर्थको साधनेवाला है।

'न यस्य भक्तिरेतस्मिन्, तस्य धर्मक्रियाऽपि हि।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या, कर्मदोषादसत्फला" ॥५५॥

—ऐसे शास्त्रमे जिसको भक्ति नहीं है, उसकी सारी धर्मक्रिया भी अन्धे पुरुषके देखनेका प्रयास करने जैसी है और कर्मका दोष होनेसे शुभ फलकी देनेवाली नहीं है अथवा उसको सद्गति रूप फल नहीं हो सकता।

"यः श्राद्धो मन्यते मान्यान्, अहङ्कारविवर्जितः।
गुणरागी महाभागः, तस्य धर्मक्रिया परा" ॥५६॥

—जो महाभाग्यशाली पुरुष अहंकार रहित और गुणानुरागी

है तथा श्रद्धा सहित मान्य (देव, गुरु व धर्म)की भक्ति करता है उसकी धर्मक्रिया उत्कृष्ट है।

"यस्य त्वनादरः शास्त्रे, तस्य श्रद्धादयो गुणाः।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वान्न प्रशंसास्पदं सताम्" ॥५७॥

—जिसको शास्त्रके प्रति आदर नहीं है उसके श्रद्धा आदि गुण उन्मत्त पुरुषके गुणो जैसे हैं और सत्पुरुषो द्वारा प्रशंसनीय नहीं है।

"मलिनस्य यथाऽत्यन्तं, जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
अन्तःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः" ॥५८॥

—जैसे जल अत्यंत मलिन वस्त्रको भी स्वच्छ कर देता है वैसे पंडित जन शास्त्रको अन्त करण रत्नका शोधन करनेवाला बताते हैं।

"शास्त्र भक्तिर्जगद्वन्द्यैर्मुक्तिदूती परोदिता।
अत्रैवेयमतो न्याय्या, तत्प्राप्त्यासन्नभावतः" ॥५९॥

—जगद्वंद्य श्रीतीर्थंकर देवद्वारा शास्त्रभक्ति मुक्ति स्त्रीकी उत्कृष्ट दूती कही गई है (याने शास्त्रभक्ति मुक्ति लानेवाली) है यह योग्य वचन है क्योकि शास्त्रभक्तिसे मुक्ति समीप आती है। शास्त्र-भक्तिसे ज्ञानवृद्धि, क्रियावृद्धि तथा कर्मनिर्जरा होती है और मुक्ति स्वतः समीप आती है। (योग २२१-३०)

इस प्रकार उपदेश देकर श्रोताके मनमें शास्त्रके प्रति आदरको जगाना चाहिये। तीर्थंकर व केवलज्ञानीके विचरणके समय शास्त्रकी आवश्यकता ही नहीं होती पर उनके न होनेसे उनके उपदिष्ट वचन

जो शास्त्रमें आये हुए हैं, उनकी अनन्य भक्ति व अभ्यास करना धर्मप्राप्तिका साधन है।

तथा-प्रयोग आक्षेपण्या इति ॥१०॥ (६८)

मूलार्थ-श्रोताको मोहसे तत्त्वकी ओर आवर्जित करनेवाली कथा कहना।

विवेचन- प्रयोग- कथा प्रसंग कहना, **आक्षेपणी-** जो आकर्षित तत्त्वकी ओर भव्य प्राणियोंको मोहसे ले जावे।

धर्मकथा करते समय उनको मोहसे तत्त्वकी ओर खींचनेवाली आक्षेपणी कथा कहे। आक्षेपणीके चार भेद हैं— १ आचार, २ व्यवहार, ३ प्रज्ञप्ति तथा ४ दृष्टिवाद। इनके लक्षण इस प्रकार हैं- १ आचार-साधुकी लोच, अस्नान आदि क्रिया या आचारका वर्णन, २ व्यवहार-प्राप्त दोषके निवारणके लिये प्रायश्चित करनेका वर्णन, ३ प्रज्ञप्ति-संशयमें पडे हुए को मधुर वचनसे ज्ञान बताना या संशय निवारण, ४ दृष्टिवाद-श्रोताकी अपेक्षासे (जैसा वह हो, उसे पहिचान कर) जीव, अजीव आदि तत्त्वोंका सूक्ष्म भावका कथन, इस प्रकारकी आक्षेपणी कहे।

तथा-ज्ञानाद्याचारकथनमिति ॥११॥ (६९)

मूलार्थ-और ज्ञानादि आचारोंका वर्णन करे ॥

विवेचन-ज्ञानादि-आचार पांच प्रकारके हैं-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार। **कथनम्-**उनका वर्णन।

जिस आचारसे ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय हो और आत्माका स्वाभाविक ज्ञान प्रगटे हो उसे ज्ञानाचार कहते हैं। श्रुतलक्षणका आचार ज्ञानाचार है।

१. **ज्ञानाचार** के आठ भेद हैं, वे ये है–१ काल, २ विनय, ३ बहुमान, ४ उपधान, ५ अनिह्नव, ६ व्यञ्जन, ७ अर्थ और–८ तदुभय–ये आठ भेद हैं। इनके लक्षण कहते हैं–

१ **काल ज्ञानाचार**– "जिस अंग सिद्धान्तमें श्रुत-आगमका जो काल अभ्यास कहा गया है उसका तभी स्वाध्याय करना" ऐसे तीर्थंकर भगवानके वचनसे योग्य कालमें ही अभ्यास करना, अन्य समय पर नहीं करना ही **काल ज्ञानाचार** है। कृषिका फल भी योग्य समय पर खेती करनेसे ही मिलता है, असमयमें निष्फल जाता है।

२ **विनय ज्ञानाचार**–श्रुतको ग्रहण करते समय सुन कर हृदयगम करनेमें गुरुका विनय करना। गुरुके आने पर खडा होना, आसन बिछाना, गुरुचरणकी सेवा करना आदि विनय है। अविनयसे पठित विद्या भी चली जाती है। अतः ज्ञानके लिये विनय करे।

३ **बहुमान ज्ञानाचार**–शास्त्रका अभ्यास करनेवाला, श्रोता, शास्त्र ग्रहण करने को तत्पर पुरुष या विद्यार्थी गुरुका बहुमान करे। हृदयमें जाग्रत गुरुके प्रति श्रद्धा व पूज्यभावको ही **बहुमान ज्ञानाचार** कहते हैं। बहुमान आंतरिक है व विनय बाह्य।

यहां विनय व बहुमानकी चतुर्भंगी होती है–(१, एकको विनय

है पर बहुमान नहीं। (२) दूसरे को बहुमान है पर विनय नहीं। (३) एकको विनय तथा बहुमान दोनों हैं। (४) चौथेको न विनय है न बहुमान। इसमें तीसरा उत्कृष्ट है।

४ उपधान ज्ञानाचार—शास्त्रका अभ्यास करनेवाले, श्रुत ग्रहण करनेकी इच्छावालेको उपधान करना चाहिये। जिस तपस्यासे ज्ञानको पुष्टि मिले उसे उपधान कहते हैं और उस तपके करनेको **उपधान ज्ञानाचार** कहते हैं। तपपूर्वक उपार्जित ज्ञान विशेष सफल होता है। तपसे शरीर व मन आत्माके अधीन होते हैं तभी आत्मा मन व शरीर को ज्ञान प्राप्तिमें लगाती है और ज्ञान शीघ्र प्राप्त होता है। इद्रिय व मन स्वाधीन व सयमी न होने पर ज्ञानाभ्यास इच्छित रूपमें नहीं होता। तपका अर्थ 'विचार करना' भी होता है। अत शास्त्राभ्यासीको शास्त्र पर विचार करना चाहिये। उसे मनन करना आवश्यक है। **आगाढ** आदि योग युक्त जो तप जिस अध्ययनमें कहा हो वह तप उस अध्ययनमें करना चाहिये। तप पूर्वक शास्त्राध्ययन सफल होता है।

५ अनिह्नव ज्ञानाचार—जिस गुरुसे शिक्षा ग्रहण की उसका नाम छिपाना **निह्नव** है। अत. उस नामको न छिपाना 'अनिह्नव' है। शास्त्र ग्रहण करनेवाला निह्नव न करे, जिसके पास अध्ययन किया हो उसीका नाम लेना अन्यका नहीं। यह असत्यका प्रकार है। इससे चित्तमें कलुषितता आती है। शास्त्रज्ञान भी सफल नहीं होता। ऐसा व्यक्ति कृतघ्न समझा जाता है। उसी गुरुका नाम लेनेसे उसकी प्रशंसा होती है, तभी ऋणमुक्त होगे।

६ **व्यंजन ज्ञानाचार**—श्रुत ग्रहण करनेवाला व फलकी इच्छा-वाला व्यंजन भेद, अर्थ भेद तथा उभय भेद नहीं करे। जैसे 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं" के बजाय "पुन्नो कल्लाणमुक्कोसं" शब्द लिख देना। यद्यपि अर्थमें भेद न आवे तब भी व्यंजन या अक्षर भेद नहीं करना चाहिये। इससे शब्दका सामर्थ्य नष्ट होता है।

७ **अर्थ ज्ञानाचार**—प्रसिद्ध अर्थको छोड कर दूसरा अर्थ करना अर्थभेद है। जैसे " आवंतीके यावंती लोगंसि विप्परामसंति " ऐसा पाठ आचारांगसूत्रमें आया है। इसका प्रसिद्ध अर्थ है कि ' इस पाखंडी लोकमें जितने असयत जीव हैं उसमेसे कई छ कायके जीवोकी विराधना करते हैं '। इस अर्थके बदले "यावन्तः केचन लोके अस्मिन् पाखण्डिलोके विपरामृशन्ति' कहना, जिसका अर्थ है ' अवती देशमें रस्सीवाले लोग कुंएको संताप देते हैं, यह विपरीत अर्थ है। इस प्रकार विपरीत या भिन्न अर्थ करना अर्थभेद है। जिसमें यह अर्थ भेद न हो वह **अर्थ ज्ञानाचार** है।

८ **तदुभयज्ञानाचार**—व्यंजन (अक्षर) तथा अर्थ दोनोंमें भेद लानेवालेको उभयभेद कहते हैं। उदाहरणार्थ—"धर्मो मङ्गलमुत्कृष्ट-महिंसा पर्वतमस्तके" यहां व्यंजनभेद करनेसे अर्थभेद भी हो जाता है। इसे उत्सूत्र दोष कहते हैं। यह दोनो भेद जहां न हो उसे **तदुभय ज्ञानाचार** कहते हैं।

व्यंजनका भेद होनेसे अर्थभेद होता है। उससे क्रियामे भी

भिन्नता आती है। क्रियाभेदसे मोक्षका अभाव हो जाता है। मोक्षका अभाव हो जानेसे दीक्षा निरर्थक है।'

इन आठ नियमोंका ध्यान कर विनय सहित गुरुके पास अभ्यास करनेसे ज्ञान वृद्धि होती है तथा ज्ञानावरणीय कर्म क्षय होते हैं।

२. **दर्शनाचार**–'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' तत्त्वार्थ पर श्रद्धा रखनेको 'सम्यग्दर्शन' कहते है। इसके भी आठ भेद हैं– १ निश्शंकित, २ निष्कांक्षित, ३ निर्विचिकित्सा, ४ अमूढदृष्टि, ५ उपबृंहा, ६ स्थिरीकरण, ७ वात्सल्य और ८ तीर्थप्रभावना।

१. **निश्शंकित**–शंका रहितता–शंका दो प्रकारकी है–**देशशंका व सर्वशंका**–धर्मके किसी एक (या कुछ) सिद्धांतके बारेमें शंकाको **देशशंका** कहते हैं और धर्मके सब तत्त्वोंके बारेमें शंकाको **सर्वशंका** कहते हैं। जैसे, 'जीवत्व समान होते हुए भी एक जीव भव्य है तथा एक अभव्य है ऐसा क्यों?' यह देशशंका है। "धर्मके सारे सिद्धात प्राकृत भाषामें निबद्ध या रचे हुए हैं अतः यह सब कल्पित मालूम पडता है" ऐसी शंका सर्वशंका है। ऐसे स्थान पर शंका करनेवालेको यह सोचना चाहिये कि संसारमें कई वस्तुएं हेतुग्राह्य हैं अर्थात् कारण देकर समझाई जा सकती हैं तथा कई पदार्थ अहेतुग्राह्य हैं अर्थात् उनके कारण अपनी सामान्य बुद्धिसे नहीं समझे जा सकते। सर्वज्ञ ही समझ सकते हैं। जीवका अस्तित्व आदि हेतुग्राह्य है। हेतुग्राह्य वे है जो प्रत्यक्ष ज्ञानसे देखे व

समझे जा सके। पर भव्यत्व आदि बातें अहेतुग्राह्य हैं क्योंकि ये उत्कृष्ट ज्ञानका विषय है और छद्मस्थ अवस्थावाले नहीं समझ सकते। इस लिये इसे तिरस्कार न करके ज्ञानवृद्धिकी राह देखें।

सब ग्रथोकी रचना प्राकृतमें होनेका कारण यह है कि उस समय प्राकृत ही प्रचलित भाषा थी और बाल जीवोंको सरलतासे समझमें आ सकती थी, अतः ग्रन्थरचना इस भाषामें हुई। कहा है कि—

"बाल-स्त्री-मूढ*-मूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः ×स्मृतः" ॥६०॥

—बाल, स्त्री, मूढ व मूर्ख मनुष्यो तथा चारित्र ग्रहण करनेकी इच्छावालों पर अनुग्रह करनेके लिये तत्त्वज्ञोंने सिद्धातकी रचना प्राकृतमें की है।

अतः यह सिद्धांत कल्पित नहीं है। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाणसे भी अविरुद्ध सिद्ध होता है। इन दोनों प्रकारकी शंकासे रहित होना 'निश्शंकित दर्शनाचार' है अतः नि:शंक होकर अर्हत् शासनको प्राप्त हुआ जीव निश्शंक दर्शनाचार है। इससे 'दर्शन' तथा 'दर्शनवाले' (दर्शनी) में अभेद उपचार कहा है। अर्थात् दर्शन व दार्शनिक एक ही है। जो उनमें एकांत भेद कहा हो तो अदर्शनीकी तरह फलाभाव होता है और उससे मोक्षाभाव होता है। बाकी सात भेदोंमें भी यही भावना समझना।

पाठांतर—*मन्द। ×कृत।

शुद्ध श्रद्धासे शुद्ध कार्य होता है और शुद्ध कार्य परंपरासे मोक्ष प्राप्ति होती है। अतः जब शंका हो तब योग्य गुरुसे शंकारहित होकर शुद्ध प्रवृत्ति करना।

२. निष्कांक्षित–दर्शनाचारका द्वितीय भेद 'कांक्षारहितता' है। उसके भी दो भेद है। 'देशकांक्षा व सर्वकांक्षा।' दिगंबर आदि किसी एक दर्शनकी आकांक्षा करे, उस दर्शनका अंगीकार करनेकी इच्छा करे वह देशकांक्षा, उसी प्रकार सर्व दर्शनोंकी आकांक्षा करे सर्वकांक्षा। वह अन्य शास्त्रोंमें षड्जीवनिकायपीडा तथा असत्प्ररूपणाको नहीं देखता। ऐसी कांक्षाओंसे रहित होना 'निष्कांक्षित दर्शनाचार' है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य सब धर्म बुरे है। अपेक्षासे तथा अंशतः सत्य सब धर्मोंमे है। जहां जहां जितना सत्य व सद्गुण हो उसे ग्रहण करना ही जैन दृष्टि है। अशोकके शिलालेखोंमें भी ऐसा मिलता है। "अन्य धर्मों पर आक्षेप नहीं करना, तथा निष्कारण अन्य धर्मोंकी अप्रतिष्ठा नहीं करना" पर स्वधर्मसे अविचल श्रद्धा रक्खे।

३. निर्विचिकित्सा–बुद्धिमें विभ्रम या भ्रांतिको विचिकित्सा कहते है। उस भ्रांतिसे रहितता **निर्विचिकित्सा** है। जैसे–जिनदर्शन तो अच्छा है इसमें प्रवृत्ति करनेसे मुझे फल होगा या नहीं? जैसे खेती आदिमें फलकी प्राप्ति व अप्राप्ति दोनों होते हैं। इस प्रकारके संकल्प विकल्पको विचिकित्सा या भ्रांति कहते हैं। इसे छोड देना चाहिये। "जैसा बोयेंगे वैसा काटेंगे" या "जो कर्म करोगे वैसे भरोगे" इसे आधारभूत समझ कर कार्य करना चाहिये।

भ्राति होनेसे पूर्ण श्रद्धा व अडिग भक्तिसे धर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती। यथार्थ फलसे भी वंचित रहना पडता है। अतः गलत धारणा व भ्रांतिको त्याग कर आत्मविश्वास व कार्य-कारणके नियममें विश्वास रखना चाहिये। योग्य उपाय करनेसे प्राप्य वस्तु अवश्य मिलेगी ऐसा निश्चय रखे। इसे भ्राति रहितता या निर्विचिकित्सा कहते हैं। अथवा तो साधुके मलिन गात्र आदि देख कर भी जुगुप्सा नहीं करना चाहिये, उसे निर्विजुगुप्सा दर्शनाचार कहते हैं।

४. अमूढदृष्टि-बाल तपस्वी या अज्ञान कष्ट करनेवाले (जैसे हठयोगी) तपस्वीके तप, विद्या आदि अतिशय देख कर मूढ न हो, सम्यग्ज्ञान रूप दृष्टि चलित न हो, उसे अमूढदृष्टि दर्शनाचार कहते है। यह चार दर्शनाचार गुणी प्रधान है (गुणका आश्रय लेकर कहे हैं) अब गुण प्रधान (गुणका आश्रय लेकर कहते हैं)-

५. उपबृंहा-साधर्मिक बन्धुओंके सद्गुणोंकी प्रशंसा करना तथा उसमें वृद्धि करनेको उपबृंहण दर्शनाचार कहते है।

६. स्थिरीकरण-धर्मसे पतित या धर्मभ्रष्ट होनेवालेको रोक-कर धर्ममे दृढ करनेको स्थिरीकरण दर्शनाचार कहते हैं।

७. वात्सल्य-समानधर्मी पुरुषोंका उपकार करना वात्सल्य दर्शनाचार है।

८. तीर्थप्रभावना-धर्मकथा आदिसे तीर्थकी, धर्मकी प्रसिद्धि करना तीर्थप्रभावना दर्शनाचार है।

पश्चाद्वर्ती चारों भेद गुणोका आश्रय लेकर कहे हैं। गुण व

गुणीमें थोड़ा भेद है। जो भेद न हो तो गुणका नाश होने पर गुणीका भी नाश होता है। परिणाम शून्य आता है। अतः उपर्युक्त क्रमसे गुणी व गुणका आश्रय लेकर अलग कहे हैं।

३. चारित्राचार–चारित्रके पालन संबधी साधुके आचारको चारित्राचार कहते हैं। यह आठ प्रकारका है। इसमें पांच समिति व तीन गुप्ति होती है। नीचे समिति व गुप्तिका स्वरूप संक्षिप्त व्याख्या –अन्यत्रसे उद्धृत करके दिया है—

१. इर्यासमिति–रास्तेमें आते जाते किसी जीवकी विराधना या हिंसा न हो उस हेतुसे यत्न सहित तेजदृष्टिसे देखते हुए चलनेको इर्यासमिति कहते हैं।

२. भाषासमिति–किसी भी जीवका द्रव्य या भाव प्राणका वध या विराधना न हो उस प्रकार सत्य वचन बोलनेको भाषासमिति कहते है।

३. एषणासमिति–४२ दोष रहित आहार आदिकी गवेषणा या शोध करना।

४. आदान निक्षेपण समिति–बैठते–ऊठते, लेते व रखते–प्रत्येक समय पूजना व प्रमार्जना करनेका उपयोग रखना वह।

५. पारिष्ठापनिका समिति–मल–मूत्रादिकको परठवनेके समय शुद्ध भूमि देखनेका उपयोग रखना वह।

गुप्ति तीन है–मन गुप्ति, वचन गुप्ति व काय गुप्ति–वे इस प्रकार जानना।

१. **मनगुप्ति**—मनमें उत्पन्न विचार तरंगोंको रोकना, मनको शांत बनना, और संयममें लाना मनगुप्ति है। मनको शुभ अध्यवसायमें रोकना तथा धीरे धीरे उसे एकाग्र बनाकर वशमें लाना चाहिये।

२. **वचनगुप्ति**—वचनो पर पूर्णनिग्रह—मनुष्य परिणामका विचार करके बोले।

३. **कायगुप्ति**—शरीरको अशुभ व्यापारमें जानेसे रोकना, तथा इंद्रियोंको वशमें रखना।

शास्त्रमें इनको **अष्ट प्रवचनमाता** कहते है। ये समिति व गुप्ति चारित्रका पुत्रवत् पालन करती है, अतः इन्हें यह नाम दिया गया है।

४. **तपाचार**—इसके मूल भेद दो है। **बाह्य व आभ्यंतर**—इनके प्रत्येकके छ भेद हैं अतः बारह भेद हुए।

बाह्यतपके भेद इस प्रकार है—

"अनशनमूनोदरता, वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः।
कायक्लेश संलीनतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम्" ॥६१॥

—अनशन, ऊनोदरता, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता—ये छ बाह्य तप हैं। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१. **अनशन**—चारों प्रकारका आहार त्याग, इसके दो भेद हैं—१ थोडे समयका, तथा २. आजीवन। पहेलाका काल वीर शासनमे ६ मास, ऋषभदेवके तीर्थमें १ वर्ष तथा अन्य बाइस तीर्थंकरोंके शासनमें ८ मास माना गया है।

२. **ऊनोदरी**—पुरुषका आहार ३२ कंवल (एक वार मुंहमें जावे वह १ कंवल) तथा स्त्रीका २८ कंवल माना गया है। इससे कम खानेको ऊणोदरी तप कहते हैं। यह द्रव्य तप है। इसी प्रकार ऊणोदरी भाव तप क्रोधादि घटानेसे होता है।

३. **वृत्तिसंक्षेप**—खानेके पदार्थ या क्षेत्रको सीमित करना वृत्तिसंक्षेप है।

४. **रसत्याग**—दही, दूध आदि रसके पदार्थोंका त्याग।

५. **कायक्लेश**—विभिन्न आसन या लोचादिसे जो शरीरको कष्ट हो वह।

६ **संलीनता**—अंगोपांग फैला कर न सोना, समेटकर सोना; इन्द्रिय, कषाय, व मन, वचन तथा काया—तीनों योगोंको वशमें रखना; तथा स्त्री, पशु नपुंसक रहित स्थानमें रहना।

आभ्यन्तर तपके भेद इस प्रकार हैं—

" प्रायश्चित्तध्याने, वैयावृत्यविनयावथोत्सर्गः।
स्वाध्याय इति तपः, षट्प्रकारमाभ्यन्तर भवति " ॥६२॥

—१ प्रायश्चित्त, २ ध्यान, ३ वैयावच्च, ४ विनय, ५ कायोत्सर्ग और स्वाध्याय—यह छ प्रकारका आभ्यन्तर तप कहलाता है।

बाह्य तपका हेतु शरीर संयम है तथा आभ्यन्तर तपका मनको वशमें करना; शरीर व मन आत्माके नौकर समान हैं पर स्वामीकी अनुपस्थितिमें जैसे नौकर मनचाहा करते हैं वैसे ही इनके बारेमें भी है। अतः आत्मा अपने इन नौकरोंको अपने वशमें करे ताकि

उसकी उन्नति व प्रगति हो सके। पर शरीरको नष्ट करना इसका हेतु नहीं है। शरीर धर्मका प्रथम साधन है।

"इच्छा रोधन तप भलो" पर आत्मशक्तिसे मनको वश करो। इसके अभ्यास व वैराग्य–दो रास्ते हैं। मनको स्थिर करनेका अभ्यास करते रहना चाहिये। विनाशी वस्तुओ पर वैराग्य हो तभी मन उधर नहीं दौडेगा। सत्य व असत्य तथा नित्य व अनित्य वस्तुके बीच विवेक या भेद करना सीखे।

५. **वीर्याचार**–बाहर तथा भीतरके सारे सामर्थ्यसे, अपने सामर्थ्यको छिपाये विना उपरोक्त ज्ञान दर्शनादिके ३६ आचारोंको यथाशक्ति अगीकार करनेका पराक्रम करे और अंगीकार करनेके बाद शक्ति अनुसार उसका पालन करे वह **वीर्याचार** है।

आत्माके प्रत्येक प्रदेश पर अनत कर्म वर्गणाएं हैं पर आत्माका एक ही प्रदेश अनंत कर्म वर्गणाओकों एक क्षणमे नाश करनेको समर्थ है। आत्मविश्वासका किसी भी संयोगमें त्याग नहीं करना।

तथा–निरीहशक्यपालनेति ॥१२॥ (७०)

मूलार्थ–और इच्छारहित होकर यथाशक्ति पालन करे ॥

विवेचन–निरीहेण–ऐहिक व पारलौकिक फलकी इच्छा रहित या राजा, देवता आदि वस्तुओकी धार्मिक क्रियाके फलस्वरूप प्राप्तिकी इच्छाका त्याग। **शक्यस्य**–ज्ञान आदि पांचो आचारका 'शास्त्रमें ऐसा कहा है' ऐसी बुद्धि रखकर यथाशक्ति पालन करना।

पुरुप धर्मक्रिया करे, उसमे दो वस्तुएं वताई है–एक तो फलकी

इच्छा न रख कर, दूसरे यथाशक्ति। फल दो प्रकारके हैं--लौकिक व पारलौकिक, इनकी इच्छा किये बिना धर्मकार्य करना उत्तम है। इच्छा या वासना रखनेसे कर्मबन्धन होता है, उसे जन्म मरणसे मुक्ति नहीं मिलती। दूसरे यथाशक्ति धर्मक्रिया करे। शक्तिसे अधिक कार्य करनेसे पीडा, आर्त्तध्यान, तथा उत्साह भंग होता है। उत्तरोत्तर धर्मक्रियामें शक्ति अनुसार बढना ही ठीक है।

तथा-अशक्ये भावप्रतिपत्तिरिति ॥१३॥ (७१)

मूलार्थ-और अशक्य होने पर उस ओर भावना रखे।

विवेचन-अशक्ये-धैर्य, शरीररचना (बंधारण) काल तथा बलमेंसे एक या सबकी शक्ति कम होने पर ज्ञानाचार आदि विशेष धर्मका पालन न किया जा सके तो **भावप्रतिपत्तिः**-प्रवृत्ति बिना भी भाव या अंतःकरणसे अंगीकार करना।

धैर्य, संहनन (शरीररचना) काल व बल किसी भी कमीसे ज्ञानाचार आदि आचारोंका पालन न कर सके तो उस ओर शुभ भावना रखे; भावनासे अंगीकार करे। विचार व भावना उच्च रखे पर उसमें प्रवृत्ति न करे, कारण कि योग्य समय तथा शक्ति बिना व्यर्थका उत्साह तत्त्वतः आर्त्तध्यान है। क्योंकि—

"अकालौत्सुक्यस्य तत्त्वत आर्त्तध्यानत्वादिति"॥

तथा-पालनोपायोपदेश इति ॥१४॥ (७२)

मूलार्थ-ज्ञानादि आचारके पालनका उपदेश करे॥

विवेचन-ज्ञानादि आचारका वर्णन किया जा चुका है। उनको

पालन करनेका उपाय बताना चाहिये। जैसे 'उसे अपनेसे अधिक गुणी या समान गुणवालोंके साथ या उनके बीच निवास करना चाहिये।' अन्योंको क्रियामें प्रवृत्त देख कर उसकी भी इच्छा उस ओर प्रवृत्ति करनेकी होगी। "अपने जिस गुणस्थानक पर हों उसके योग्य क्रियाका पालन करना तथा उसका स्मरण करना" ऐसा उपाय बताना चाहिये। इससे आगे बढ सकता है। अधिकारीको पात्र, शक्ति व योग्यता देखकर उपदेश देना चाहिये।

तथा-फलप्ररूपणेति ॥१५॥ (७३)

मूलार्थ-और फलकी प्ररूपणा करे ॥

विवेचन-इस आचारके सम्यक् प्रकारसे पालन करनेका क्या सुंदर फल होता है उसका वर्णन करना चाहिये। साधारण मनुष्य फल लालसा विना कोई कार्य नहीं करता। इसके फल इस प्रकार बताये जाय। इस संसारमें उपद्रवोंका नाश होता है। हृदयमें उच्च भावकी उत्पत्ति होना, ऐश्वर्यकी वृद्धि तथा लोकप्रियता-यह प्रत्यक्ष फल है। अन्य जगह परलोकमे भी सुगतिको प्राप्त होकर उत्तम स्थान पर जन्म ग्रहण होता है। देवऋद्धि प्राप्त होती है तथा मानवयोनिमे उत्तम कुलमे जन्म लेता है तथा क्रमशः परंपरासे निर्वाणको प्राप्त होता है। इस प्रकारके फलको बतानेसे बाल जीव धर्मकी ओर अग्रसर होता है विशेषत:—

देवर्द्धिवर्णनमिति ॥१६॥ (७४)

मूलार्थ-देवऋद्धिका वर्णन करे ॥

विवेचन-देवताओंकी ऋद्धि जिसमें मुख्यतः वैमानिक देवोंकी

समृद्धि, उनका रूप, लक्षण आदिका इस प्रकार वर्णन करे। उनका उत्तम रूप, संपत्ति, सुंदर स्थिति, प्रभाव, उत्तम सुख व उसके साधन, कांति, लेश्या, शुद्ध इन्द्रियें, अवधिज्ञान, भोगके उत्तमोत्तम साधन और दिव्य विमान आदि उनकी ऋद्धिका वर्णन (जो आगे कहा जायगा) श्रोताको बतावे।

सत्कार्य, शुभ वचन, प्राणीप्रेम, इन्द्रिय तथा मनका निग्रह आदि गुणों पर अनुराग तथा उनकी प्राप्ति व पालनसे ऐसी ऋद्धि मिलती है। देवऋद्धि भी मोक्ष सुखके सामने दुःखप्रद ही है पर बाल जीवोंको देवऋद्धि बताना चाहिये ताकि वे उस ओर बढ़ें।

तथा-सुकुलागमनोक्तिरिति ॥१७॥ (७५)

मूलार्थ-और उत्तम कुलमें जन्म होनेका कहे।

विवेचन-देवस्थानसे च्युत होकर वह फिरसे मनुष्य योनिमें आता है और तब वह अच्छे देशमें तथा निष्कलंक, सदाचारी व प्रसिद्ध ऐसे उत्तम कुलमें जन्म लेता है। साथ ही वह जन्म निर्दोष व अनेक मनोरथोंकी पूर्ति करनेवाला होता है; इत्यादि कहे और यह सब मनुष्य जन्ममें किये हुए सुकृतका ही फल है।

तथा-कल्याणपरम्पराख्यानमिति ॥१८॥ (७६)

मूलार्थ-और उसे कल्याण परंपरा प्राप्त होती है ऐसा कहे।

विवेचन-उस उत्तम कुलमें आकर उसे कल्याण परंपरा प्राप्त होती है अर्थात् सुंदर रूप, अच्छे लक्षण, निरोगी काया, शक्तिवाली

इन्द्रियां मिलती है। वह जनप्रिय और सम्मान प्राप्त करनेवाला होता है। यह सब फल धर्मसेवनसे मिलते है—यह सब कहें (इनका वर्णन सातवे अध्यायमें करेगे)।

तथा–असदाचारगर्हेति ॥१९॥ (७७)

मूलार्थ–और असत् आचारसे घृणा करे।

विवेचन–जो आचार असत्, निन्द्य व अशुभ है वह असदाचार है। वह दस प्रकारका है—

> "हिंसानृतादयः पञ्च, तत्त्वाश्रद्धानमेव च।
> क्रोधादयश्च चत्वारः, इति पापस्य हेतवः" ॥६३॥

—हिंसा, मृषा, चोरी, मैथुन व परिग्रह–ये पांच, तत्त्वमें अश्रद्धा, तथा क्रोध, मान, माया व लोभ (ये चार कषाय) ये कुल दस पापके हेतु (कारण) है।

इन पापके कारणोंकी निंदा करे। इसमे सबसे बुरा तत्त्वमें अश्रद्धा या मिथ्यात्व है। सत्य तथा धर्मको असत्य व अधर्म मानना और अधर्म व असत्यको धर्म और सत्य मानना ही मिथ्यात्व है। इसका त्याग उचित है। कहा है कि—

> "न मिथ्यात्वसमः शत्रुः, न मिथ्यात्वसमं विषम्।
> न मिथ्यात्वसमो रोगो, न मिथ्यात्वसमं तमः" ॥६४॥

—मिथ्यात्वके समान न शत्रु हैं, न विष है, न रोग है, न अंधकार। याने किसी भी शत्रु, विष, रोग व अंधकारसे मिथ्यात्व ज्यादा बुरा है।

"द्विषद्विषतमोरोगर्दुःखमेकत्र दीयते।
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन जन्तोर्जन्मनि जन्मनि" ॥६५॥
"वरं ज्वालाऽऽकुले क्षिप्तो, देहिनाऽऽत्मा विनश्यते।
न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं, जीवितव्यं कदाचन" ॥६६॥

—शत्रु, विष, अंधकार व रोग मनुष्यको एक समय या एक ही जन्ममें दुःख देते हैं पर दुरंत मिथ्यात्व तो जन्म जन्मान्तरमें भी दुःख देता है।

—धधकते हुए ज्वालाकुंडमें गिर कर मनुष्यको अपने देहको जलाना उत्तम है, पर मिथ्यात्वसहित जीवन कदापि न रखे।

इस प्रकार तत्त्वमें अश्रद्धा (मिथ्यात्व) की निंदा करे और हिंसादि तथा चार कषाय इन नौ पाप कारणोंकी भी, जो अनिष्ट परिणामवाले हैं, निंदा करे।

तथा-तत्स्वरूपकथनमिति ॥२०॥ (७८)

मूलार्थ-और असदाचारका स्वरूप बताना चाहिये।

विवेचन-हिंसा आदि पाप कारणोंका, असद् आचरणका स्वरूप बताना आवश्यक है। उदाहरणार्थ-१ प्रमादयोगसे प्राणीका नाश, उसका दश प्राणोंसे वियोग- हिंसा है। २ असत्य कहना, सत्य न कहना मृषा या अनृत है। ३ अदत्त-बिना दिया हुआ लेना स्तेय या चोरी है। ४ मैथुन या स्त्रीभोग तथा कामभोगको अब्रह्म कहते हैं। ५ कोई भी वस्तु मेरी है ऐसी उस पर मूर्च्छा या मोह रखनेको परिग्रह कहते हैं।

'तत्त्वार्थ सूत्र' में इस प्रकार कहा है—

"प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥ ७-८ ॥

"असदभिधानमनृतम् ॥ ७-९ ॥

"अदत्तादान स्तेयम् ॥ ७-१० ॥

"मैथुनमब्रह्म" ॥ ७-११ ॥

"मूर्च्छा परिग्रहः ॥ ७-१२ ॥

इस प्रकार स्वरूप बतावें।

तथा-स्वयं परिहार इति ॥२१॥ (७९)

मूलार्थ-स्वयं (उपदेशक) असदाचारका त्याग करे।

विवेचन-स्वय उपदेशक असदाचार न करे। इनका त्याग करे। यदि स्वयं असदाचार आचरण करता हुआ धर्मोपदेश करे तो उसका धर्मोपदेश वेशधारी नटके वैराग्यकी तरह अग्राह्य होता है। वह साध्यकी सिद्धि करानेवाला, धर्मकी प्राप्ति करानेवाला नहीं होता। आचरण व उदाहरणकी असर उपदेशसे ज्यादा होती है।

तथा-ऋजुभावासेवनमिति ॥२२॥ (८०)

मूलार्थ-और वह सरलभाव रखे॥

विवेचन-ऋजुभाव-कुटिलताका त्याग, सरलताकी भावना या सरल स्वभाव, **आसेवनम्**-आचरण।

उपदेशक कुटिलताका (वृथाभिमान आदि) का त्याग करके सरलभाव रखे। इससे शिष्य पर यह भाव प्रगट होगा कि वह प्रतारणा (ठगाई) करनेवाला नहीं है। ऐसा होनेसे शिष्य उससे दूर नहीं होता और उसके उपदेशके समीप आता है। कुटिलतासे

बुरा असर होकर वह (शिष्य) उपदेश तथा उपदेशक दोनोंसे भागता है।

तथा-अपायहेतुत्वदेशनेति ॥२३॥ (८१)

मूलार्थ-और अनर्थ (दुःख के कारणोंको बतावे।

विवेचन-अपायानाम्-उन अनर्थोंका, जो इस लोक तथा परलोकमें होना संभव है और जो जाने जा सकते हैं। **हेतुत्वम्**-दुःखका कारण (असदाचार), उसके हेतु या कारणोका वर्णन करे। जैसे मनुष्य जब अपने स्वरूपको भूल कर प्रमाद दशामे पड जाते हैं, तो यह भूल जाते हैं कि अन्य जीव भी उसके जैसे ही हैं, तब वह अनेक असदाचारोंका सेवन करता है, अतः प्रमाद ही दुर्गतिका मूल है। जैसे-

" यन्न प्रयान्ति पुरुषाः, स्वर्गं यच्च प्रयान्ति विनिपातम् ।
तत्र निमित्तमनार्यः प्रमाद इति निश्चितमिदं मे " ॥६७॥

—पुरुष स्वर्ग नहीं पाते तथा अशुभ गतिमें उत्पन्न होते हैं या पतित होते हैं। मेरा निश्चित मत है कि उसका निमित्त कारण अनार्य **प्रमाद** ही है।

प्रमाद ही असदाचार है, उससे ही अनर्थ परंपरा पैदा होती है तथा नरकके दुःख भोगने पडते हैं।

नारकदुःखोपवर्णनमिति ॥२४॥ (८२)

मूलार्थ-नारकीके दुःखोंका वर्णन करना चाहिये ॥

विवेचन-नरकमें उत्पन्न नारक जीवोंके दुःखका वर्णन करे।

साथ ही तिर्यंचके दुःखोंका वर्णन करे, इससे मनुष्य इन दुःखोंके कारण असदाचारका त्याग करें। जैसे—

"तीक्ष्णैरसिभिर्दीप्तैः, कुन्तैर्विषमैः परश्वधैश्चक्रैः।
परशुत्रिशूलतोमरमुद्गरवासीमुषण्ढीभिः ॥६८॥

"संभिन्नतालुशिरसश्छिन्नभुजाश्छिन्नकर्णनासौष्ठाः।
भिन्नहृदयोदरान्त्रा, भिन्नाक्षिपुटाः सुदुःखार्त्ताः ॥६९॥

"निपतन्त उत्पतन्तो, विचेष्टमाना महीतले दीनाः।
नेक्षन्ते त्रातारं, नरयिकाः कर्मपटलान्धाः ॥७०॥

'क्षुत्तृड्हिमात्युष्णभयार्दितानां,
पराभियोगव्यसनातुराणाम्।
अहं तिरश्चामभिदुःखितानां,
सुखानुषङ्गः किल वार्त्तमेतत् ॥७१॥

"मानुष्यकेऽपि दारिद्र्यरोगदौर्भाग्यशोकमौर्ख्याणि।
जातिकुलावयवादिन्यूनत्वं चाश्नुते प्राणी ॥७२

"देवेषु च्यवनवियोगदुःखितेषु,
क्रोधेर्ष्यामदमदनातितापितेषु।
आर्या! नस्तदिह विचाय संवदत्सु,
यत् सौख्य किमपि निवेदनीयमस्ति" ॥७३॥

—तीक्ष्ण तलवारोंसे, तेज व चमचमाते भालोंसे, विषम कुल्हाडी, चक्र, परशु, त्रिशूल, तोमर, मुद्गर, वासी, मुषंडि आदिसे तालु व सिर छेदे जाते है, भुजाएं काटी जाती है, कर्ण, नाक व ओठ काटे जाते हैं, हृदय, अंतडियों व पेट चीरे जाते हैं और चक्षुपट फटते हैं। इससे नारक जीव दुःखसे आर्त्त हो जाते हैं। वे बेचारे जमीन

पर गिरते हैं, उछलते हैं तथा तडफडाते है। तथा कर्मपटलसे अंध बने हुए वे प्राणी अपने त्राता (रक्षक)को नहीं देख सकते ॥

क्षुधा, तृषा, वर्फ, उष्णता और भयसे पीडित, पराधीनताके व्यसनसे आतुर ऐसे दुःखी तिर्यंच जीवोको सुखका प्रसंग तो तुच्छ और कहने मात्र है परन्तु वस्तुत. उनको दु ख ही दुःख हैं।

मनुष्य भवमे भी प्राणी दारिद्रय, रोग, दुर्भाग्य, शोक, मूर्खता तथा जाति, कुल और शरीरके अवयवोंकी न्यूनताको प्राप्त होते है।

—देवताओंको भी यद्यपि अनेक सुख हैं पर उसका अंत आ जाता है अतः देवोंको अपने भवमें च्यवन (दूसरेमें जाना) तथा वियोगका दु ख, क्रोध, ईर्ष्या, मद और मदनसे उनको परिताप (कष्ट) उत्पन्न होता है। हे आर्यो! विचार कर कहो कि देवताओंको भी कौनसा कहनेलायक सुख है?

यद्यपि अपेक्षासे सुख है तथापि वह भी अंशत ही है, पूर्णतः नहीं ॥

तथा-दुष्कुलजन्मप्रशास्तिरिति ॥२५॥ (८३)

मूलार्थ-और इससे बुरे व हलके कुलमें जन्म होता है वह बतावे।

विवेचन-दुष्कुलेषु-शक, यवन, शबर व बर्बर तथा उससे संबंधित कुलोमें, **प्रशास्तिः**-बताना।

इस प्रकारके असदाचार, बुरे आचरण करनेवालोंका जन्म यवन आदि कुलोंमें होता है। इस बातको भली भांति समझा देना

चाहिये। उससे और भी उनके दुराचार सीखते हैं तथा उससे दुःख पर दुःख आता है।

उन कुलोंमें उत्पन्न प्राणियोंसे क्या कहे सो कहते हैं—

दुःखपरम्परानिवेदनमिति ॥२६॥ (८४)

मूलार्थ–उनको दुःखकी परंपरा समझाना।

विवेचन–उपदेशक उन बुरे कुलोंमें उत्पन्न व्यक्तियोंको, दुःखकी जो परंपरा है, एक दुःखके कारण दूसरा, दुराचारसे दुःख, उससे फिर दुराचार और तब अत्यंत दुःख–ऐसे इस प्रवाह जनित दुःखके बारेमें समझावे। जैसे–असदाचारवाले पुरुष उससे परवश हो जाते हैं और उससे बुरे कुलमें उत्पन्न होते हैं, उसमें भी उन प्राणियोको हलका तथा बुरा वर्ण, रस, गंध व स्पर्शवाले शरीरकी प्राप्ति होती है। उनको इस दुःखका निवारण करनेवाला धर्म स्वप्नमें भी नहीं मिलता व सद्बोध दुर्लभ होता है। अत. जिससे हिंसा, असत्य, तथा स्तेय आदि अशुद्ध कर्ममें प्रवृत्त होनेसे नरकादिक फल देनेवाले पाप कर्मकी वृद्धि होती है। उसे उससे परास्त हुए उन प्राणियोंको इहलोक तथा परलोकमें '**अनुबन्धविच्छेदरहितदुःखपरम्परा**' प्राप्त होती है अर्थात् जन्म, जन्मान्तरमें पाप पर पाप बंधते जाते हैं। उन पाप कर्मोंकी उत्पत्तिमें कोई विच्छेद या व्याघात नहीं पडता। इस निरंतर पाप बन्धसे निरंतर दुःख आता है और यह दुःख परंपरा चलती रहती है, सुख कहीं भी प्रगट नहीं होता। इस प्रकार असदाचार दुःखपरंपरा लानेवाला है। कहा भी है कि—

"तः कर्मभिः स जीवो, विवशः संसारचक्रमुपयाति।
द्रव्यक्षेत्राद्धाभावभिन्नामावर्तते बहुशः" ॥७३॥

—कर्मके वश हुआ जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावसे भिन्न भिन्न भेद पाकर इस संसारचक्रमें बार बार परिभ्रमण करता है अर्थात् द्रव्य पुद्गल परावर्तन, क्षेत्र पुद्गल परावर्तन, काल पुद्गल परावर्तन तथा भाव पुद्गल परावर्तन बहुत बार करता रहता है। (पुद्गल परावर्तनका लक्षण 'प्रवचनसारोद्धार'में लिखा है)।

अत जिस असदाचारसे यह सब कर्म बन्धन होता है उसे त्याग करनेकी प्रवृत्ति करना चाहिये।

तथा-उपायतो मोहनिन्देति ॥२७॥ (८९)

मूलार्थ-और उपायसे मोहकी निन्दा करे।

विवेचन-उपायतः-उपायसे, अनर्थ प्रधान मूढ पुरुषोंके लक्षणोंको विस्तारपूर्वक बताना। मूढताकी निन्दा करे-उसे अनादर करने योग्य बताना।

मोहकी-मूर्खता या अज्ञानकी, उपायसे-मूर्खोंके लक्षणोंको विस्तारसे बता कर निन्दा करे। उसे अनादरणीय बताना चाहिये। जैसे—

"अमित्रं कुरुते मित्रं, मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च।
कर्म चारभते दुष्टं, तमाहुर्मूढचेतसम्" ॥७४॥

—जो अमित्र या शत्रुको मित्र माने, मित्रका द्वेष या हनन करे, तथा दुष्ट कर्मका प्रारंभ करे उसे मूर्ख या अज्ञानी कहते हैं।

"अर्थवन्त्युपपन्नानि, वाक्यानि गुणवन्ति च।
नैव मूढो विजानाति, मुमूर्षुरिव भेषजम्" ॥७५॥
"संप्राप्तः पण्डितः कृच्छ्रं, प्रज्ञया प्रतिबुध्यते।
मूढस्तु कृच्छ्रमासाद्य, शिलेवाम्भसि मज्जति" ॥७६॥

—जैसे मरणासन्न व्यक्ति औषध लेना नहीं चाहता, वैसे ही मूढ पुरुष उसके कहे हुए सार्थक व गुणवाले वाक्योंको ग्रहण नहीं करता। अथवा जैसे मरणासन्न पुरुषको औषधिका असर नहीं होता वैसे मूढको सदुपदेशका कोई असर नहीं होता। पंडित जन कष्ट पाकर भी बुद्धिसे प्रतिबोध पा जाते हैं अर्थात् शिक्षा देने पर उसे ग्रहण कर लेता है पर मूर्ख कष्ट आ जाने पर जलप्रवाहमे शिलाकी तरह डूब जाता है, अत. नीच कर्म करनेको प्रेरित होता है। पडित जन सुख-दुःखके क्रमको समझकर मनको समाधानपूर्वक रख लेते हैं। मूढ कष्टसे घबरा जाते है।

मोहका अलाभ या हानि बताकर उसको त्याग करनेका उपदेश देना चाहिये। मोहका दूसरा अर्थ ससारके पदार्थों प्रति राग है। आत्मा व द्रव्यकी भिन्नता मोहसे छिप जाती है। आत्मा द्रव्यको अपना मानता है और अंतत. दुःख पाता है और संसार भ्रमण करना पडता है, अतः मोहका त्याग करना आवश्यक है।

या दूसरा उपाय—मोहका कष्टदायक फल बताकर मोहकी निंदा करे। जैसे—

"जन्ममृत्युजराव्याधिरोगशोकाद्युपद्रुतम्।
वीक्षमाणा अपि भवं, नोद्विजन्त्यपि मोहतः" ॥७७॥

" धर्मबीजं परं प्राप्य, मानुष्यं कर्मभूमिषु।
न सत्कर्मकृषावस्य, प्रयतन्तेऽल्पमेघसः " ॥७८॥
" बिडिशामिषवत् तुच्छे, कुसुखे दारुणोदये।
सक्तास्त्यजन्ति सच्चेष्टां, धिगहो! दारुणं तम. " ॥७९॥

—जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, रोग, शोक आदि उपद्रवोंसे पीडित इस संसारको देख कर भी उसमें रहनेवाले मनुष्य मोहके कारण इससे उद्वेग या वैराग्य नहीं पाते ॥७७॥

—इस कर्मभूमिमें दुर्लभ मनुष्य भवरूपी उत्कृष्ट धर्मबीज प्राप्त करके भी अल्प बुद्धिवाले उससे सत्कर्मरूपी खेती करनेका प्रयत्न नहीं करते ॥७८॥

जो मनुष्य जन्मका सदुपयोग नहीं करते वे चिंतामणि रत्नसे कौआ उडानेके समान इसे खोते है। अतः सत्कर्ममें प्रवृत्ति करके मनुष्य जन्म सफल करना चाहिये ॥७९॥

गलगोरि (कांटेमें मांस) की तरह तुच्छ तथा भयंकर परिणामवाले और सुखका आभास मात्र विषय सुखमें आसक्तिवाले मनुष्य जिस कारण सत्क्रियाका त्याग करते हैं उस भयंकर मोहरूप अंधकारको धिक्कार है।

तथा-सज्ज्ञानप्रशंसनमिति ॥ २८ ॥ (८६)

मूलार्थ-और सद्ज्ञानकी प्रशंसा करना चाहिये ॥८०॥

विवेचन-सत् या सम्यग् ज्ञानवाले पंडित-जनकी और विवेचना सहित ज्ञानकी प्रशंसा करना चाहिये। इससे श्रोताओंको ज्ञान-तथा ज्ञानी पर पूज्यभाव हो व ज्ञान प्राप्तिकी इच्छा हो। जैसे—

" तन्नेत्रैस्त्रिभिरीक्षते न गिरिशो नो पद्मजन्माष्टभिः,
स्कन्दो द्वादशभिर्न वा न मघवा चक्षुः सहस्रेण च।
संभूयापि जगत्त्रयस्य नयनैस्तद्वस्तु नो वीक्ष्यते,
प्रत्याहृत्य दृशः समाहितधियः पश्यन्ति यत् पण्डिताः॥८०॥

—" समाधिवाली बुद्धिको धारण करनेवाले पंडित अंतर-दृष्टिसे जो वस्तु देख सकते हैं वह शंकर तीन नेत्रोंसे, ब्रह्मा आठसे, कार्तिकेय बारहसे, तथा इंद्र हजार चक्षुसे भी नहीं देख सकता। इतना ही नहीं तीन जगत्के नेत्र भी एकत्र होकर उस वस्तुको नहीं देख सकते।" जो ज्ञानी हैं वह क्षणभरमें ज्ञानाग्निसे कर्म-दलको बिखेर देता है। आत्मप्रदीप स्वयमेव प्रकाशित होता है व ऐसा ज्ञानी सर्वत्र पूज्य है। और भी कहा है—

" नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति, नेष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति, नराः पण्डितबुद्धयः ॥८१॥

" न हृष्यत्यात्मनो माने, नापमाने च रुष्यति।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो, यः स पण्डित उच्यते" ॥८२॥

—पंडित जन अप्राप्य वस्तुकी इच्छा नहीं करते, नष्ट वस्तुका खेद नहीं करते, और आपत्तिमें घबराते नहीं ॥ ८१ ॥

अपना मान होनेसे हर्षित नहीं होता, अपमानसे रोष नहीं करता अर्थात् जो गंगानदीकी तरह क्षोभ रहित है वही पंडित है।

मानापमानमें हर्ष शोक रहित हृदयको स्थिर रखना बुद्धि-मानी है। ज्ञानीकी परीक्षासे ज्ञानकी परीक्षा स्वतः हो जाती है।

तथा—पुरुषकारसत्कथेति ॥२९॥ (८७)

मूलार्थ—और पुरुषार्थ (उद्योग) की प्रशंसा करे ॥२९॥

विवेचन-पुरुषकारस्य—उत्साहरूप पुरुषार्थ या उद्योग।
सत्कथा– महात्म्य-प्रशंसा।

उत्साहरूप पुरुषार्थके माहात्म्यकी प्रशंसा करे। जैसे—

"दुर्गा तावदियं समुद्रपरिखा तावन्निरालम्बनं,
व्योमैतन्ननु तावदेव विषमः पातालयात्रागमः।
दत्त्वा मूर्द्धनि पादमुद्यमभिदो दैवस्य कीर्तिप्रियैः,
वीरैर्यावदहो न साहसतुलामारोप्यते जीवितम् ॥८३॥

तथा—

"विहाय पौरुषं कर्म, यो दैवमनुवर्त्तते।
तद्धि शाम्यति तं प्राप्य, क्लीवपतिमिवाङ्गना" ॥८४।

—जब तक कीर्तिप्रिय वीरोने उद्यम नष्ट करनेवाले दैव-(भाग्य)के मस्तक पर पैर रख कर अपने जीवनको साहस-(हिंमत)की तुला पर चढाया नहीं तभी तक यह समुद्रवेष्टित पृथ्वी उनके लिये दुर्गम है, तब तक ही आकाश निरालम्ब हैं और तभी तक पाताल—यात्रा विषम है। वह आकाश, पाताल व समुद्र सब जगह जा सकता है॥

और जो पुरुषार्थ छोडकर दैवका अनुसरण करता है वह जैसे स्त्री नपुसक पति पाकर निष्फल होती है उसी तरह उसका दैव निष्फल जाता है॥

कार्य मनोरथसे नहीं, पुरुषार्थसे सिद्ध होते हैं। उनके बिना दैव कुछ नहीं कर सकता।

तथा-वीर्यर्द्धिवर्णनमिति ॥३०॥ (८८)

मूलार्थ-और वीर्यकी ऋद्धिका वर्णन करे। ॥३०॥

विवेचन–वीर्यके, शक्तिके–उत्कृष्ट रूपका जो शुद्ध आचारके बलसे प्राप्त होता है तथा अतत बढ कर तीर्थंकरके वीर्य तक पहुंचता है उसका वर्णन करे। अनुचित व्यय नहीं करनेवालेकी वीर्यवृद्धि होती है। विचार शुद्धिसे विचारबल, सदाचारसे आत्मवीर्य तथा शरीर बलकी वृद्धि होती है। उसका वर्णन ऐसे करे जैसे—

"मेरुं दण्डं धरां छत्रं, यत् केचित् कर्तुमीशते।
तत्सदाचारकल्पद्रुफलमाहुर्महर्षयः" ॥८५॥

—महर्षि कहते है कि जो मेरुको दण्ड तथा धरा (पृथ्वी) को छत्र बनानेका सामर्थ्य पाते है वह सब सदाचाररूप कल्पवृक्षका फल है, अत सदाचार सेवन करे।

तथा–परिणते गम्भीरदेशनायोग इति ॥३१॥ (८९)

मूलार्थ–और (उपदेश) से शुद्ध परिणाम होने पर गंभीर देशना देना चाहिये ॥३१॥

विवेचन–परिणते–आत्मीय भाव होना या आत्मासे एक रस होना, **गम्भीर**– उपरोक्त देशनासे अधिक व अत्यन्त सूक्ष्म जैसे आत्मा, उसका अस्तित्व, कर्मबन्ध, मोक्ष आदिकी।

जब श्रोता उपरोक्त उपदेशका यथार्थ ज्ञान व श्रद्धाकी प्राप्ति करके उस रीतिसे अनुष्ठान या आचरण करने लगे और यह उपदेशका ज्ञान व श्रद्धा उसकी आत्माके साथ एक रस हो जावे तब अधिक गंभीर उपदेशके लायक हो जाता है। गंभीर देशना या पूर्वोक्त उपदेशसे अधिक सूक्ष्म अर्थात् आत्माका अस्तित्व, उसका

बन्ध व मोक्ष आदिका वर्णन हो। इसका अर्थ यह है कि पहले सामान्य गुण और बादमें विशेष गुणकी प्रशंसा की जावे वह उसके हृदयंगम हो कर उसके अनुसार आचरण करे तब अधिक सूक्ष्म देशना देवे। बोधके असरका फल आचरण होता है तभी सूक्ष्म देशना देवे। जैसे एक बारका खाना पाचन होने पर ही खानेसे शरीर सुखी रहता है, वैसे ही अनेक प्रकारसे दिया हुआ सामान्य गुणका उपदेश, आवरण करनेवाले कर्मोंका ह्रास होकर अंगांगी भावरूप परिणामको पावे तभी वह देशनाके योग्य होता है।

इस गंभीर देशनाका योग श्रुत और धर्मके कथन बिना नहीं होता। कहते हैं—

श्रुतधर्मकथनमिति ॥३२॥ (९०)

मूलार्थ— श्रुतधर्मका कथन करना ॥३२॥

विवेचन—**श्रुतधर्मस्य**—सिद्धांतका, **कथनम्**—उपदेश।

सिद्धांत व (श्रुतधर्म) का उपदेश करे। उसका लक्षण—**वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथन** है। वे इस प्रकार हैं-गुरुका प्रथम उपदेश **वाचना** है। संदेहमें विनयसे गुरुको पूछना **पृच्छना** है। पूछ लेने पर भूल न हो अतः फिर सम्हालनेको **परावर्तना** कहते हैं। सूत्रकी तरह अर्थका चिंतन **अनुप्रेक्षा** और अभ्यास किये हुए सूत्रका दूसरेको उपदेश देना **धर्मकथा** कहलाता है। इन लक्षणों युक्त सिद्धांतका—श्रुतधर्मका जो सर्व मंगल समूहरूप कल्पवृक्षके विशाल क्यारी समान है, कथन करे। जैसे—

"चक्षुष्मन्तस्त एवेह, ये श्रुतज्ञानचक्षुषा।
सम्यक् सदैव पश्यन्ति, भावान् हेयेतरान् नराः" ॥८६॥

—जो पुरुष इस जगतमें हेय तथा इतर (ग्राह्य व अग्राह्य) पदार्थोंको श्रुतज्ञान रूप चक्षुसे सम्यक् प्रकारसे देखते हैं वे ही वस्तुतः नेत्रवाले हैं ॥८६॥

यह श्रुत (सिद्धात) प्रत्येक दर्शनमे भिन्न भिन्न प्रकारसे प्रतिपादित है तो किस दर्शनका कौनसा श्रुत अंगीकार करने योग्य है? उसके उत्तरमें कहते हैं—

बहुत्वात् परीक्षावतार इति ॥२३॥ (९१)

मूलार्थ—श्रुतधर्म बहुत हैं अतः उत्तमकी परीक्षामें उतरे।

विवेचन—श्रुतधर्म (सिद्धात) बहुतसे हैं उनमे श्रुतधर्म शब्द सामान्य है अतः कौनसा सत्य है तथा कौनसा मिथ्या है यह पता नहीं लगता अतः पुरुषकी बुद्धि चकित हो जाती है। अतः जैसे स्वर्णकी परीक्षा कष, छेद व तापसे होती है वैसे ही तीन प्रकारसे श्रुतकी भी शुद्धि करके परीक्षा करनी चाहिये। कहा है कि—

"तं शब्दमात्रेण वदन्ति धर्मं,
विश्वेऽपि लोका न विचारयन्ति।
स शब्दसाम्येऽपि विचित्रभेदैः,
विभिद्यते क्षीरमिवार्चनीयः" ॥८७॥

"लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं,
सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनम्।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः,
सुवर्णवद् वञ्चनभीतचित्ताः" ॥८८॥

—इस विश्वमें शब्द मात्रसे सबको धर्म कहते है पर कौनसा सत्य है ऐसा विचार नहीं करते। धर्म शब्द समान होने पर भी वे विचित्र भेदोंके कारण भिन्न भिन्न हैं अतः शुद्ध दूधकी तरह परीक्षा करके मान्य करना चाहिये॥ जैसे ठगे जानेके भयसे बुद्धिमान व्यक्ति स्वर्णकी परीक्षा करके उसे खरीदते है वैसे ही सर्व धन देनेमे समर्थ, अति दुर्लभ तथा जगत हितकारी श्रुतधर्मको भी परीक्षा करके ग्रहण करते हैं।

उस परीक्षाका उपाय कहते हैं—

कषादिप्ररूपणेति ॥ ३४॥ (९२)

मूलार्थ-कषादिकी प्ररूपणा करना चाहिये ॥३४॥

विवेचन-केवल स्वर्णकी समानतासे अज्ञ लोगोंमें विचार बिना शुद्ध या अशुद्ध स्वर्ण पर मुग्धतासे प्रवृत्ति होती है, पर विचक्षण पुरुष कष, छेद और ताप तीनों प्रकारसे उसकी परीक्षा शरू करते हैं, वैसे ही यहा श्रुतधर्ममें भी परीक्षा करनेके योग्य कष आदिकी प्ररूपणा करना। वह कष आदि कहते हैं—

विधिप्रतिषेधौ कष इति ॥ ३५॥ (९३)

मूलार्थ-विधि और निषेध यह कसौटी है ॥३५॥

विवेचन-विधि-अविरुद्ध अर्थात् अनुकूल कर्त्तव्य बतानेवाला वाक्य विधि वाक्य कहलाता है। जैसे तप, ध्यान आदि करना। **प्रतिषेध**- किसी कामका निषेध अर्थात् वह नहीं करना, हिंसा, असत्य, चोरी आदि नहीं करना, **कष**-यह विधि तथा निषेध कष

है- जैसे स्वर्ण परीक्षामें कसौटी पर रेखा खींचते हैं वैसे विधि-निषेध धर्मकी कसौटी है।

स्वर्ग और केवलज्ञान चाहनेवाला तप, ध्यान तथा पंच समिति, तीन गुप्ति सहित शुद्ध क्रिया करे, साथ ही असत्य, चोरी आदि न करे। ये विधि निषेध धर्मकी कसौटी हैं। जिस धर्ममें कहे हुए विधि व निषेध जगह जगह पुष्कल मिलते है वह धर्म कषशुद्ध है, परंतु—

"अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वाः, असुरा इव विष्णुना।
उच्छेदनीयास्तेषां हि, वधे दोषो न विद्यते" ॥८९॥

—"जैसें विष्णुने असुरोका नाश किया, वैसे ही अन्यधर्मीको मार देना चाहिये। उन प्राणियोंका उच्छेद या वध करनेमें कोई दोष नहीं" ऐसे वाक्यवाला धर्म कसौटी शुद्ध नहीं है।

छेदका स्वरूप कहते है—

तत्सम्भवपालनाचेष्टोक्तिश्छेद इति ॥३६॥ (९४)

मूलार्थ-उनकी उत्पत्ति तथा पालन करनेकी चेष्टाको कहना छेद है।

विवेचन-तयोः-विधि-निषेधका, **सम्भव**-उत्पत्ति, **पालना**-उनका पालन व रक्षा, **चेष्टा**-भिक्षाटन आदि बाह्य क्रियारूप चेष्टा, **उक्तिः**-कहना।

विधि-निषेध यदि न हों तो उनको उत्पन्न करके भी उनकी रक्षारूप पालना करना तथा उसकी जो शुद्ध चेष्टा हो जैसे भिक्षाटन आदि उसे कहना चाहिये।

जैसे स्वर्ण खरीदते समय कसौटी पर देखने पर शुद्ध मालूम हो तभी अंदरसे शुद्ध है या नहीं उसकी शंका रहनेसे उसे काटकर या छेदकर देखा जाता है। उसी भांति कषशुद्ध धर्ममें भी छेदकी आवश्यकता है। धर्ममें विशुद्ध बाह्य चेष्टा ही छेद है। वह बाह्य शुद्ध चेष्टा जिसमें विधि-निषेधके अनुकूल मार्ग पर चलते हुए उनसे आत्माको बाधा न पडे इस प्रकार कार्य करते हुए अपनी आत्माको प्राप्त होता है। उसे प्राप्त करके भी अतिचार तथा अनाचार रहित उत्तरोत्तर वृद्धिका अनुभव करे। ऐसी विशुद्ध बाह्य क्रियासे विधि-निषेधको उत्तेजन मिलता है। जिस धर्ममें ऐसी शुद्ध चेष्टाका वर्णन है वह छेदशुद्ध है। अत: जहां उपरोक्त विधि-निषेध मार्गकी सहायक शुद्ध क्रिया (बाह्य)का यथार्थ वर्णन है वही छेदशुद्ध धर्म है।

जैसे कष व छेदशुद्ध स्वर्णमें भी किसी वस्तुकी मिलावट हो या होने पर भी वैसा ही हो तो उसकी परीक्षाके लिये अग्नि परीक्षामें डाला जाता है और तापशुद्ध होने पर पूर्ण शुद्ध माना जाता है, इसी तरह धर्ममें भी कष व छेद शुद्ध होने पर भी ताप परीक्षा आवश्यक है। धर्ममें ताप किसे गिनना उसे बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

उभयनिबन्धनभाववादस्ताप इति ॥३७॥ (९५)

मूलार्थ—कष व छेदके परिणामी कारण जीवादि भावकी प्ररूपणा ताप है ॥३७॥

विवेचन—**उभयोः**—कष व छेदका, **निबन्धनम्**—परिणामी रूप कारण, **भावः**—जीवादि लक्षण, **वाद**—प्ररूपणा।

दोनो कष व छेदके बाद उनका परिणामी रूप कारण जो जीवादि लक्षण भाव हैं उनकी प्ररूपणा करना श्रुतधर्म परीक्षाके अधिकारमें ताप कहा गया है। जैसे स्वर्ण वही होने पर भी उसके भिन्न भिन्नरूप या स्वरूप होते हैं अर्थात् वह द्रव्यसे नित्य, पर पर्यायसे अनित्य है, उसी भांति जीवादि पदार्थ जिस शास्त्रमें द्रव्यार्थिक नयसे नित्य—न च्यवे न उत्पन्न हो— (न मरे, न पैदा हो) तथा पर्यायार्थिक नयसे अनित्य—अर्थात् क्षण क्षणमे स्वभावकी भिन्नतावाला हो, कहे गये हो वह शास्त्र तापशुद्ध हैं ऐसा जानना। अर्थात् जीवादि पदार्थ नित्य व अनित्य दोनों है, जैसे स्वर्ण बदलता भी हैं वह नहीं भी बदलता। जिस शास्त्र या धर्ममें ऐसा कहा है वह तापशुद्ध है।

इसके परिणाम स्वरूप जहा आत्मा आदिके ऐसे अशुद्ध पर्यायका निरोध करनेसे ध्यान, अध्ययन आदि अन्य शुद्ध पर्यायके प्रगट होनेसे कष (विधि-निषेध) और बाह्य शुद्धिकी चेष्टाके लक्षणवाला छेद कहा गया है वह संभव हैं, अर्थात् तापशुद्धि होनेसे ही कष व छेद शुद्धि बराबर हैं अन्यथा बराबर नहीं। कष, छेद व ताप कौन सबसे बलवान है? इसके उत्तरमें कहते हैं—

अमीषामन्तरदर्शनमिति ॥३८॥ (९६)

मूलार्थ—इनका (तीनों परीक्षाका) परस्पर अंतर बताना।

विवेचन—अमीषां—परीक्षाके तीनो प्रकारोका पारस्परिक, **अन्तरस्य**—सामर्थ्य, असामर्थ्य।

परीक्षाके इन तीनो प्रकारोंमें पारस्परिक अंतर बतावे। उनका

सामर्थ्य व असामर्थ्य बतावे। उनका भेद बताकर उत्तम, मध्य व कनिष्ठ कौन है वह बतावे।

उसे बताते हैं—

कषच्छेदयोरयत्न इति ॥३९॥ (९७)

मूलार्थ—कष व छेदसे ही वस्तुका आदर न करे ॥३९॥

विवेचन—कसौटी व छेद केवल इन दो परीक्षाओंके सामर्थ्यमें विश्वास न करे। इससे ही वस्तु आदर करने लायक नहीं होती। क्यो कि उससे कोई तात्पर्य नहीं ऐसा बुद्धिमान कहते हैं।

उसका कारण बताते हैं—

तद्भावेऽपि तापाभावेऽभाव इति ॥४०॥ (९८)

मूलार्थ—कष, छेदके होने पर भी तापके अभावमें उनका भी अभाव समझे ॥४०॥

विवेचन—कष व छेद दोनो परीक्षा कर लेने पर भी यदि उक्त प्रकारकी ताप परीक्षा न हो तो उन दोनोंका भी अभाव समझना। वह परीक्षा भी हुई, न हुई बराबर है। तापमें न रखा हुआ स्वर्ण कसौटी और छेद परीक्षाके हो जाने पर भी अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त करनेको समर्थ नहीं। वह तो नाम मात्र ही स्वर्ण है (जैसे यदि गरम करने पर रंग बदल जाय तो वह स्वर्ण नहीं है। यद्यपि कष व छेदसे स्वर्ण ही दीखे) ऐसे ही जो श्रुतधर्म ताप सहन न कर सके वह प्रमाणभूत नहीं है।

—तापशुद्धि न होने पर कष व छेदशुद्धि शुद्धि क्यो नहीं? कहते हैं—

तच्छुद्धौ हि तत्साफल्यमिति ॥४१॥ (९९)

मूलार्थ–तापशुद्धि होनेसे ही कषशुद्धि व छेदशुद्धिकी सफलता है ॥४०॥

विवेचन–तच्छुद्धौ–तापशुद्धि होने पर, **तत्साफल्यम्**–कष व छेदका सफलताभाव है।

यदि तापमेंसे शुद्ध निकले तो कष व छेद भी उपयोगी होते हैं। सूत्रका चिंतन (ध्यान) व अध्ययन विधिमार्ग है। उनका फल कर्म निर्जरा है। हिंसा आदिका प्रतिषेध किया हुआ है जिसका फल नये कर्मकी उत्पत्तिका निरोध करना है। यह विधि-निषेध कष है और इस विधि-निषेध मार्ग (कष)का पालन करनेके लिये जो बाह्य शुद्ध चेष्टा कही है वह छेद है। यदि विधि व निषेध दोनो न हो तो इनको पैदा करे और उत्पन्न हुए हों तो पालन करनेसे बाह्य चेष्टाकी शुद्धि फलवती होती है। यदि आत्मा अपरिणामी हो तो उसमें पूर्वोक्त लक्षणवाले कष व छेद अपना कार्य करनेमें असमर्थ होते हैं उससे वे तापशुद्धि होनेसे सफलताको प्राप्त होते हैं अन्यथा नहीं। क्या तब वे दोनों (कष व छेद) निष्फल होंगे? कहते हैं—

फलवन्तौ च वास्तवाविति ॥४२॥ (१००)

मूलार्थ–वे दोनों फलवान हों तभी वास्तविक (सत्य) है।

विवेचन–कष व छेदका फल मिल सके तो ही वे सत्य गिने जावे, क्योकि साध्यवस्तुको करनेवाली क्रियाको ही सन्तजन सत्य वस्तु कहते हैं। कष व छेदका फल तापशुद्धि पर रहा हुआ है।

अतः अंतमें जिसके तत्त्व शुद्ध व सत्य हो वही धर्म सत्य है ऐसा सिद्ध हुआ। कष व छेदके फलका आधार तापशुद्धि रूप धर्मके गंभीर तत्त्वों पर रहा हुआ है। कष व छेद फल देनेवाले हो तो ही सत्य गिनना नहीं तो—

अन्यथा याचितकमण्डनमिति ॥४३॥ (१०१)

मूलार्थ—नहीं तो वे मांगे हुए आभूषणोंकी तरह हैं ॥४३॥

विवेचन—अन्यथा—फल रहित हों तो, **याचितकमण्डनम्**—मांगे हुए आभूषण।

यदि कष व छेद उपरोक्त फल देनेवाले न हों तो वस्तु परीक्षाके अधिकारमें गिने जाने पर भी वे माग कर लाये हुए आभूषणोकी तरह हैं। उनमें परकीयत्वकी (परायेपनकी) संभावना होती है अतः मांगा हुआ कुत्सित (बुरा) होता है। कडा कुंडलादि आभूषण विशेष जो मांग कर लाये हुए हों उस तरह जानना। यथार्थ तत्त्वो पर रचित विधि निषेध मार्ग तथा सहायक शुद्ध क्रिया सफल होती हैं, नहीं तो मार्ग व क्रिया मागे हुए आभूषणोंकी तरह हैं।

आभूषणोंका फल दो प्रकारका है—यदि निर्वाह ठीक चलता हो तो शुद्ध अभिमान जनित सुख उत्पन्न करनेवाला शरीरको शोभा देनेवाला है। कदाचित् किसी रीतिसे निर्वाहका अभाव हो तो उससे ही निर्वाह किया जा सकता है अर्थात् उसे बेच-कर काम चलाया जा सकता है। मांगे हुए आभूषणोंमें ये दोनों नहीं होते। वे मांगे हुए तथा पराये हैं।

इसी तरह कष व छेद जब फलदायक नहीं होते तो वे मांगे हुए आभूषणोंकी तरह हैं। इसका अर्थ यह है कि द्रव्य व पर्याय दोनोंसे नित्य व अनित्य माना हुआ जीव या अन्य पदार्थ हो तो कष व छेद दोनो अर्थात विधि-निषेध मार्ग और सहायकारी क्रिया उचित गिने जा सकते हैं। पर नित्य या अनित्यके एकांतवादमें तो वादी अपने वादकी शोभाके लिये ही कष व छेदकी कल्पना करता है। वे तो मांगे हुए आभूषणोंकी तरह निष्फल दीखते हैं और अपना कार्य करनेमे असमर्थ होते हैं।

उपरोक्त बातसे सिद्ध होता है कि कष छेद व तापसे शुद्ध जो श्रुतधर्म है वह ग्रहणीय है। पर किसका कहा हुआ श्रुतधर्म प्रमाणभूत मानना ? कहते है—

नातत्त्ववेदिवादः सम्यग्वाद इति ॥४४॥ (१०२)

मूलार्थ—जो तत्त्ववेत्ता नहीं उसका वाद (धर्म) सम्यग्-वाद नहीं ॥४४॥

विवेचन—अतत्त्ववेदिनः—साक्षात् वस्तु तत्त्वको न जाननेवाला, या अर्वाग् दृष्टि छद्मस्थ पुरुष, **वाद**—सत्य वस्तुका कथन-धर्म, **सम्यग्वादः**—यथार्थ वस्तुके अर्थका वाद।

जो अतत्त्ववेदी छद्मस्थ पुरुष है उसका वाद सम्यग्वाद नहीं। साक्षात् वस्तुको नहीं देखनेवाले शास्त्रकार द्वारा रचित शास्त्र, जन्मसे अंधे चित्रकार द्वारा चित्रित चित्रकी तरह यथार्थ वस्तुके शुद्धरूपसे भिन्न होगा। इसी प्रकार ऐसे अर्धज्ञानी द्वारा प्ररूपित शास्त्र अंतर्दृष्टि खुले हुए ज्ञानीद्वारा कथित यथार्थ वस्तुकी तरह सत्य नहीं हो

सकता। अत: उसका (अतत्त्ववेदी या अर्धज्ञानीका) कहा हुआ अविपरीत कैसे हो सकता है?।

सम्यग्वाद यह है ऐसा कैसे जानना? उस उपायको कहते हैं—

बन्धमोक्षोपपत्तितस्तच्छुद्धिरिति ॥४५॥ (१०३)

मूलार्थ—बन्ध और मोक्षकी सिद्धिसे सम्यग्वादकी शुद्धि जानना ॥४५॥

विवेचन—बन्ध—मिथ्यात्व आदि कारणोंसे जीवका कर्म पुद्गलोंके साथ अभिन्न पारस्परिक बन्धन जैसे तप्त लोहेमें अग्नि या क्षीर व नीरका अभिन्न बन्धन, जिनका भेद न किया जा सके। **मोक्ष**—सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रसे कर्मका अत्यन्त छेद या पूर्ण क्षय। **उपपत्ति**—होना, **तच्छुद्धिः**—उसे शुद्ध जानना।

जिस धर्ममें आत्माका बन्ध व मोक्षका इस प्रकारका वर्णन है वही सम्यग्वाद है। जैसे दूध व पानी अविभाज्यरूपसे मिले हैं वैसे ही आत्मा तथा कर्म पुद्गल मिले हुए हैं। मिथ्यात्व, कषाय, प्रमाद व योगसे कर्मबन्ध होता है। सम्यग्ज्ञान, दर्शन व चारित्रसे कर्म छूटकर आत्माकी मुक्ति होती है। जिस धर्ममें यह बन्ध व मोक्ष कहा है तथा आत्मा बन्ध व मोक्षके योग्य है ऐसा कहा है वही वस्तुवाद निर्मल है। वह धर्म सर्वज्ञद्वारा प्रणीत है ऐसा विद्वानोंका निश्चित मत है। इस बन्ध, मोक्षकी सिद्धिकी युक्तिका आधार कहते हैं—

इयं बध्यमानबन्धनभाव इति ॥४६॥ (१०४)

मूलार्थ-इस (बंध, मोक्षकी युक्ति) का आधार बंधनेवाले जीव और बन्धन पर है ॥४६॥

विवेचन-आत्मा कर्मबन्धनसे बांधी जाती है। उस कर्मबन्धनके होनेसे (वह स्थित होनेसे) आत्माके बन्ध व मोक्षकी युक्तिका आधार बनता है। बध व मोक्ष कहना तभी सत्य है जब आत्माका बंधन होता है और उसका मोक्ष होता है। यदि आत्मा मुक्त हो तो बंध व मोक्ष कहना ही अयोग्य होगा।

कर्म जीवको बाधते है यह माननेसे ही मिथ्यात्व, कषाय आदिसे कर्मबन्धन होता है यह सत्य सिद्ध होता है। यदि आत्मा बंधता ही नहीं तो उसका मुक्त होना ही क्या ?।

इसका हेतु क्या है ? कहते है--

कल्पनामात्रमन्यथेति ॥४७॥ (१०५)

मूलार्थ-अन्यथा यह युक्ति कल्पना मात्र है ॥४७॥

विवेचन-जिस कारणसे यह केवल कल्पना है वह असत्य अर्थका आभास है। उसमें अर्थका आभास भी नहीं है। मुख्य कर्म बांधनेवाला जीव और बन्धन (कर्म)का अभाव हो तो यह सब बंध, मोक्षकी युक्ति कल्पनामात्र है। यदि आत्मा मुक्त ही है तो आगम कल्पनाजनित व निरर्थक हैं। अत. आत्मा बंधता है।

वध्यमान व बन्धन (कर्म व आत्मा)की व्याख्या करते है—

वध्यमान आत्मा बन्धनं वस्तुसत् कर्मेति ॥४८॥ (१०६)

मूलार्थ—बंधनेवाला आत्मा और बांधनेवाले विद्यमान कर्म हैं ॥४८॥

विवेचन—बध्यमानः—अपना सामर्थ्य शक्ति गुमा कर पर-वशताको प्राप्त होनेवाला आत्मा, **आत्मा**—जो चौदह भेदवाला जीव कहलाता है। यह चौद भेद यह हैं—सूक्ष्म व बादर एकेन्द्रिय, बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चउरिन्द्रिय, और गर्भज व समूर्च्छिम पंचेंद्रिय—ये ७ पर्याप्ता और ७ अपर्याप्ता—ये चौद भेद जीवके है। **बन्धनम्**—मिथ्यात्व आदि हेतुसे आत्माको बाधनेवाला, **वस्तुसत्**—विद्यमान, यथार्थ वस्तु, **कर्म**—ज्ञानावरणादि कर्म जो अनतानंत परमाणुओंके समूहरूप स्वभाववाला है तथा जो मूर्त्त प्रकृति या मूर्त्तिमान है। (साक्षात् वस्तु—यथार्थ पदार्थ)।

आत्मा मिथ्यात्व आदि कारणोंसे कर्मोंद्वारा बंधता है। कर्म विद्यमान है व सत्यवस्तु है। आत्माके चौदह भेद है। ज्ञानावरणादि कर्मके परमाणु जैसे जीव कर्म करता है वैसे ही आकर्षित होकर राग—द्वेषकी चिकनाईके कारण उस पर चिपक जाते है।

'सांख्यमत' में इस प्रकार कहा है—

"आत्मा न बद्ध्यते नापि, मुच्यते नापि संसरति कश्चिद्।
संसरति बद्ध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः" ॥८९॥

—आत्मा बंधता नहीं, मुक्त नहीं होता और न संसारमें भ्रमण करता है पर विचित्र प्रकारके आश्रयवाली प्रकृति ही भ्रमण करती है, बंधती है व मुक्त होती है।

यदि प्रकृतिका ही बंध और मोक्ष होता है तथा आत्मा निर्लेप

माना जाय तो आत्माकी सांसारिक व मोक्ष अवस्था समान होती है तब 'योगशास्त्र'में मोक्ष पानेके लिये कहे हुए यम-नियम आदि क्रिया अनुष्ठान व्यर्थ हैं।

कर्म सत्य है। बिना कर्मके केवल राग-द्वेषसे आत्मा नहीं बंधता। 'बौद्धधर्म' में कहा है—

"चित्तमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिमुक्तं, भवान्त इति कथ्यते" ॥९०॥

—रागादि क्लेशसे संस्कारित चित्त ही संसार है, जब चित्त उन रागादि क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है तो भव—संसारका अन्त हो जाता है, या मोक्ष होता है।

आत्मा राग आदिके बन्धनसे ही नहीं बंधती। राग आदि होनेसे कर्मद्वारा बन्धन होता है। राग व द्वेष चिकनाईके सदृश है जिनसे कर्मरूपी रज आत्मारूपी वस्त्र पर चिपकती है। चित्तसे आत्मा नहीं बंध सकता। जैसे पुरुष बन्धनमें पडता है तब बंधन करनेवाली वस्तु भिन्न होती है, उसी भांति आत्मा कर्मद्वारा बांधी जाती है, अपने आप नहीं बंधती।

बन्ध व मोक्षके हेतुका विचार करते हैं—

हिंसादयस्तद्योगहेतवः, तदितरे तदितरस्य ॥४९॥ (१०७)

मूलार्थ—हिंसा आदि बन्धनके कारण हैं, उससे भिन्न (अहिंसादि) मोक्षके ॥४९॥

विवेचन–हिंसादयः–हिंसा, असत्य आदि जीवके परिणाम विशेष, **तद्योगहेतवः**–बन्धका फल संसार होता है, वही वस्तुतः पापरूप बंध होता है उसका कारण है (हिंसादि), **तदितरे**–हिंसा आदिसे भिन्न–अहिंसा आदि, **तदितरस्य**–उस (बंध)से भिन्न मोक्ष।

वस्तुतः जीवको संसारमे परिभ्रमण करानेवाला पाप है। उसका कारण जीवके अशुभ परिणाम हैं, जो पाप बन्धके हेतु हैं और उसीसे संसार भ्रमणा बढती है।

पाप बन्धके कारण—

"हिंसानृतादयः पञ्च, तत्त्वाश्रद्धानमेव च।
क्रोधादयश्च चत्वारः, इति पापस्य हेतवः" ॥२१॥

—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन व परिग्रह ये पाच अव्रत, तत्त्वमे अश्रद्धा (मिथ्यात्व) तथा क्रोध, मान, माया, लोभ नामक चार कषाय–यह इस पापबन्धके हेतु है।

उससे भिन्न अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह आदि पांच व्रत, सम्यक्त्व और चारों कषायोंका त्याग ये बंधसे भिन्न मोक्षके कारण है।

"अनुरूपकारणप्रभवत्वात् सर्वकार्याणामिति"।

—सब कार्य अपने कारणके अनुरूप होते हैं। बंधहेतुसे बन्ध व मोक्षहेतुसे मोक्ष होता है।

बन्धका स्वरूप कहते हैं—

प्रवाहतोऽनादिमानिति ॥५०॥ (१०८)

मूलार्थ–बन्ध प्रवाहसे अनादि हैं ॥५०॥

विवेचन–प्रवाहतः–परंपरासे, अनादिमान्–आदि बंध काल रहित–अनादि समयसे।

कर्मका बन्ध अनादि कालसे है। कर्मसे मुक्त आत्मा किसी भी समय नहीं था। किसी एक कर्मका समय निर्धारित किया जा सकता है। पुराने कर्म छूटते जाते हैं, नये बंधते जाते हैं। अतः परंपरा व प्रवाहसे अनादिकालसे जीव कर्मके बन्धनमें है। जीव व कर्मका बन्धन अनादिकालसे है।

कृतकत्वेऽप्यतीतकालवदुपपत्तिरिति ॥५१॥ (१०९)

मूलार्थ–बन्धका कारण होने पर भी वह अतीतकालकी तरह समझना ॥५१॥

विवेचन–कृतकत्वेऽपि–कर्मके बंधका कारण जानने पर भी।

बंधके हेतुसे बंधकी उत्पत्ति होती है। तब भी बंधकी घटना, अनादिकालमें हुई यह जानना। कारण तो केवल निमित्त है उसका उत्पत्तिका कारण तो हृदयमें रहा हुआ अशुद्ध भाव है। बन्ध प्रतिक्षण किया जाता है तब भी प्रवाहकी तरह चलते आते हुए होनेसे वह अतीतकालकी तरह ही अनादि समयसे है। उसका प्रारंभ भी कालके प्रारंभकी तरह अनादि है।

वर्तमानताकल्पं कृतकत्वमिति ॥५२॥ (११०)

मूलार्थ–वर्तमानकालकी तरह बन्ध भी किया हुआ है।

विवेचन–जैसे अतीतकाल व वर्तमानलका संबंध है– आपसमें एक दूसरेसे पारस्परिक अभेद्य संबंध है वैसे ही बन्धका भी समझना।

करनेके समय तथा समाप्तिके समयमें निश्चयनयकी अपेक्षा कोई भेद नहीं है। कुछ काम तत्काल हुए हैं या हो रहे हैं या हो चुकते हैं और कुछ होते रहते हैं ये सब काम होते हैं एसा कहा जायगा। किसी भी एक कार्यकी समाप्ति व दूसरे कार्यके प्रारंभमें कोई खास समयका भेद नहीं होता। वह चलता रहता है जैसे गंगानदीका प्रवाह है वह अनंत समयसे-अनादिकालमे चलता आ रहा है। उसी तरह कर्म भी अनादिकालसे चलते आ रहे हैं अतः प्रवाहकी अपेक्षा कर्मबन्ध भी अनादि है। जिस आत्माको पूर्वोक्त बन्धका हेतु होता है उस आत्माको अन्वय तथा व्यतिरेकसे कहते हैं--

परिणामिन्यात्मनि हिंसादयो, भिन्नाभिन्ने च देहादिति ॥५३॥ (१११)

मूलार्थ-देहसे कुछ भिन्न व अभिन्न ऐसे परिणामी आत्मासे हिंसादिक बंध होता है ॥५३॥

विवेचन-आत्मा परिणामी है। द्रव्यरूपसे एक ही पदार्थ है, वह वैसा ही रहता है पर उपाधिसे भिन्न भिन्न परिणाम पाता है। उसका रूपान्तर होना है। जैसे स्वर्ण एक ही वस्तु है पर वह बनानेसे माला, अंगूठी तथा अन्य आभूषणके रूपमें आता है। उसी तरह जीव पदार्थ एक होने पर भी कर्मवश भिन्न भिन्न पर्याय (योनि) पाता है। कहा है कि—

"परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः" ॥९२॥

—परिणाम एक स्वरूको छोडकर दूसरेमे परिवर्तन होता है।

सर्वथा एक ही रूप नहीं रहता, न सर्वथा विनाश ही होता है। उसे विद्वान परिणाम कहते हैं–

ऐसे परिणामवाला आत्मा परिणामी है, पूर्वोक्त हिंसादि पदार्थ उसके द्वारा होते हैं। वह देहसे भिन्न है, देहसे अभिन्न भी है।

अन्यथा तदयोग इति ॥५४॥ (११२)

मूलार्थ–अन्यथा हिंसादिका उससे अयोग होता है ॥५४॥

विवेचन–यदि यह परिणामी आत्मा देहसे भिन्न तथा अभिन्न न हो तो वधके हेतु अहिंसा आदि आत्मासे कोई सबंध नहीं हो सकता। ऐसा क्यो? कहते हैं—

नित्य एवाविकारतोऽसंभवादिति ॥५५॥ (११३)

मूलार्थ–नित्य अविकारी आत्माद्वारा दोषोंका होना असंभव है ॥५५॥

विवेचन–नित्य एव–नित्य आत्मा, च्युत न होनेवाला, उत्पत्ति विना स्थिर स्वभाववाला, **अविकारतः**–तिलके तुषके तृतीयाश अर्थात् ऐसे सूक्ष्म भागका भी पूर्व स्वरूपका नाश न होनेसे, **असंभवात्**–हिंसादि दोषकी घटना न होना।

यदि आत्माको एकांत नित्य मानें, जो न मरे न पैदा हो पर सदा एक स्वभावमे स्थिर रहे। द्रव्यनयसे ऐसा माननेसे यदि आत्मा एक स्वभावका ही हो तो उसमें जरा भी विकार न आवे। ऐसा होने पर उसके द्वारा हिंसा आदि दोपका होना सभव ही नहीं। यदि कुछ भी नाश न हो, एक स्वभाव हो तो क्रोधादि हो ही नहीं सकते। (यह नित्य आत्माके लिये कहा है)।

पर हम देखते हैं कि हिंसा (मारने पर प्राणिका मरना) तथा क्रोध आदि वास्तवमें होते हैं। अत: आत्मा परिणामी है उसका पर्यायान्तर व विनाश स्वभाव है। कहा है—

"तत्पर्यायविनाशो, दुःखोत्पादस्तथा च संक्लेशः।
एष वधो जिनभणितो, वर्जयितव्यः प्रयत्नेन" ॥९३॥

—आत्माके पर्यायका नाश करना, आत्माको दुःख देना, और क्लेश करना, उस सबको जिन भगवान हिंसा कहते हैं उसका यत्नसे त्याग करना चाहिये।

तथा—अनित्ये चापराहिंसनेनेति ॥५८॥ (११४)

मूलार्थ—यदि सर्वथा अनित्य हो तो अन्यसे हिंसा हो नहीं सकती ॥५८॥

विवेचन—अनित्ये च—सर्वथा अनित्य, क्षण क्षणमें नाश होनेवाला, **अपरेण**—किसी शिकारी द्वारा, **अहिंसनेन**—न मार सकनेसे किसी भी प्राणीकी हिंसा असंभवित है।

यदि आत्माको पूर्णतः अनित्य मानें तो प्रतिक्षण नष्ट होती है, अतः वह अपने आप मरती है दूसरे अन्य कोई (शिकारी आदि) किसी भी प्राणिका वध नहीं कर सकता। अत: हिंसा नहीं हो सकती, व प्रतिक्षण मरता है तो कौन उसे मारनेवाला है? यदि आत्मा नित्य है तो मारता ही नहीं अतः न क्रोध होगा, न दुःख, न हिंसा। यदि अनित्य ही है तो अपने आप हर क्षण मरनेसे उसे मारनेवाला कौन? और मरनेवाला कौन? अतः वह न एकान्त नित्य है, न एकांत अनित्य ही।

तथा-भिन्न एव देहान्न स्पृष्टवेदनमिति ॥५७॥ (११५)

मूलार्थ-यदि आत्मा देहसे सर्वथा भिन्न हो तो स्पर्श आदि वेदना न हो ॥५७॥

विवेचन-भिन्न एव-देहसे सर्वथा भिन्न-अलग, देहात्-देहसे, स्पृष्टस्य-शरीरसे कंटक, जलन आदि जो इष्ट या अनिष्ट स्पर्शेन्द्रियक विषय, वेदनम्-उसका अनुभव या भोग आदिकी प्राप्ति।

आत्मा अपनी नैसर्गिक स्थितिमें शरीरसे भिन्न है और शरीर उसका साधन है। पर जब तक वह कर्मसे बंधा हुआ है, तब तक वह देहसे भिन्न नहीं है। यदि उसे शरीरसे सर्वथा भिन्न मानें तो स्पर्श आदि इंद्रियोके योग्य पदार्थोंका चाहे वे इष्ट हों या अनिष्ट उसे कोइ अनुभव ही, नहीं हो सकता। जैसे एक व्यक्ति शय्या पर सोये या भोग करे तो दूसरेको उसका अनुभव नहीं हो सकता। इसी तरह यदि देह व आत्मा भिन्न हों तो देहके भोगका अनुभव आत्माको न हो। पर ऐसा अनुभव नहीं होता है अत: आत्मा सर्वथा भिन्न या अलग नहीं है।

तथा निरर्थकश्चानुग्रह इति ॥५८॥ (११६)

मूलार्थ-और उपकार आदि निष्फल हो ॥५८॥

विवेचन-निरर्थकः-पुरुषके संतोष लक्षण रहित, अनुग्रहः-पुष्प, चंदन, स्त्री आदिका जिससे स्पर्शेन्द्रियका संबंध व संतोष हो व लाभ मिले।

यदि आत्माका देहसे संबंध न हो तो देह पर किया हुआ उपकार, चंदन, पुष्प, स्त्री आदिके नानाविध भोग जो शरीरको सुख

देनेको किये जाय पर आत्माको कोई संतोष नहीं देते। शरीरकी दुखद वस्तुका भी आत्मासे संबंध न हो। हिंसा भी नहीं हो सकती। पर इन सबका अनुभव आत्माको भी होता है अतः उससे सर्वथा भिन्न नहीं है।

भेद पक्षका निराकरण करके अब अभेद पक्षका निराकरण करते हैं—

अभिन्न एवामरणं वैकल्यायोगादिति ॥५९॥ (११७)

मूलार्थ—देह व आत्मा सर्वथा अभिन्न हो तो मृत्यु नहीं हो सकती, शरीर वैसा ही रहता है ॥५९॥

विवेचन—अभिन्न एव—देहसे सर्वथा अभिन्न, भिन्न भिन्न प्रकारमें न बदलनेवाला, **अमरणम्**—मृत्युका अभाव, **वैकल्यस्य अयोगात्**—अन्तरका न होना।

यदि यह माना जावे कि आत्मा व शरीर अभिन्न है, सर्वथा एक ही है और आत्मा भिन्न भिन्न रूप नहीं करता तो—"चैतन्य-सहित शरीर ही पुरुष या आत्मा है" ऐसे मतको माननेवाले बृहस्पतिके शिष्योंका मत अंगीकार करना पडेगा। उससे तो मृत्युकी संभावना नष्ट हो जाती है। शरीरमें अंतर नहीं आता। जैसा था वैसा ही है तो मृत्यु कैसे? शरीरमेंसे आत्माके जानेसे मृत्यु होती है। पर इस पक्षको माननेसे शरीर ही आत्मा है तो गया ही क्या? और शरीर उसी रूपमें पडा है तो जीवन मरणमे क्या भेद है? देहको प्रारंभ करनेवाले पृथ्वी आदि पंच भूतोंमेंसे मृत्यु होने पर भी किसी भी वस्तुका क्षय नहीं होता। टीकाकार इस पक्षकी शंका व

उसका उत्तर इस प्रकार देते हैं—

शंका–शरीर ही आत्मा है, आत्मा शरीरसे जुदा नहीं है।

उत्तर–मृत्यु होने पर शरीर तो वैसा ही रहता है। यदि शरीर ही आत्मा है तो मृत्यु कैसी? आत्मा भिन्न है, शरीर साधन है। आत्मा शरीरको जीर्ण होने पर जीर्ण वस्त्रकी तरह छोड देती है, अतः शरीर व आत्मा भिन्न है।

शंका–मृतदेह वैसा ही है पर वायु चला गया।

उत्तर–वायु तो है ही, वायु न हो तो शरीर ऐसा ही प्रफुल्लित न होता।

शंका–मृतदेहमें तेज नहीं है।

उत्तर–तेजके चले जानेसे तो देहका कुथित भाव न होना चाहिये। वह होता है, अतः तेजके अभावमें मृत्यु कहना वृथा है। शरीर व आत्मा भिन्न है।

पहले जैसी अवस्थावाला तेज व वायुका अभाव हो गया है इससे मृत्यु हुई है उसका उत्तर इस प्रकार शास्त्रकार देते हैं—

मरणे परलोकाभाव इति ॥६०॥ (११८)

मूलार्थ–मृत्यु माननेसे परलोकका अभाव सिद्ध होता है।

विवेचन-यदि आत्मा व देह अभिन्न माना जावे तो मृत्यु होनेसे परलोककी स्थितिको नहीं माननेका प्रसंग आता है। यदि शरीर व आत्मा एक है तो शरीर यहीं रहता है तो फिर परलोकमें कौन जाता है या क्या जाता है[१]।

शंका-परलोक है ही नहीं ?।

उत्तर-सर्व शिष्ट जनोंने प्रमाणके बलसे परलोककी स्थितिको स्वीकार किया है वह प्रमाण इस प्रकार है।

मनुष्यको जितनी अभिलाषाए होती हैं वे सब एक दूसरेसे संबंधित रहती हैं। यदि एक अभिलाषा हुई तो उससे पूर्व किसी अभिलाषासे अवश्य ही उसका संबध होता है, जैसे-यौवनावस्थामें होनेवाली अभिलाषाएं बाल्यावस्थाकी अभिलाषाओंसे संबंधित हैं। अतः जब नया जन्मा हुआ बालक आंखें खोल कर माताके स्तनकी ओर देखता है और स्तनसे दुग्धपानकी आशा करता है वह निश्चय ही पूर्वकी किसी अभिलाषासे संबंधित है। वह पूर्वभवके ससारके कारण ही है, अत' उसका पूर्व जन्म था जिससे परलोक सिद्ध होता है। ऐसी कई युक्तियोंमेंसे एक इस प्रकार है—

प्रो० मेक्समूलर लिखते हैं कि, किसी मनुष्यको प्रथम देखते ही अपने मनमें उसके प्रति स्वत प्रेमभाव या द्वेषभाव जाग्रत होता है, वह उस व्यक्तिके तथा अपने पूर्वभवके प्रेमसबंध या शत्रुताके कारण होता है। ऐसी युक्ति पूर्व जन्म और पर जन्मको सिद्ध करती है, अतः आत्मा व शरीर भिन्न है।

तथा-देहकृतस्यात्मनाऽनुपभोग इति ॥६१॥ (११९)

मूलार्थ-देह व आत्माको सर्वथा भिन्न माननेसे देहद्वारा उपार्जित कर्मका आत्माद्वारा उपभोग न होना चाहिये ॥६१॥

विवेचन-सर्वथा देह व आत्मा भिन्न माननेसे जैसा कि 'साख्यमत' में माना है तो दूसरोको मारना पीटना, तिरस्कार,-

हिंसा, व्यभिचार आदि अशुभ कर्म या देवताको नमन, स्तवन आदि शुभ कर्म जो कि देहद्वारा किये जाते हैं तो उस शुभ, अशुभ कर्मका फल किसी दूसरेको भोगना नहीं पड़ता। आत्मा व शरीर भिन्न है तो शरीरके कर्मोंका फल शरीरको तथा आत्माके कर्मोंका फल आत्माको हो। पर वस्तुत सुख, दुःख आत्माको होता है। अत जब तक कर्मसहित आत्मा है तब तक आत्मा व देह पूर्णतः भिन्न नहीं है जो ऐसा न हो तो कृतनाश (किये हुए कर्मका नाश) तथा अकृत अभ्यागम (न किये हुएका आना) ऐसे दो दोष उत्पन्न हो जाते हैं, अतः शरीर व आत्मा मिले हुए हैं और एकका किया हुआ दूसरेको भोगना होता है।

तथा-आत्मकृतस्य देहेनेति ॥६२॥ (१२०)

मूलार्थ-और आत्माद्वारा किये हुए कर्मका उपभोग देहसे नहीं हो सकता ॥६२॥

विवेचन-आत्मा व देहको सर्वथा भिन्न मानें तो आत्माद्वारा किये हुए कामका-शुभ, अशुभ अनुष्ठानका फल इहलोक व पर-लोकमें शरीर नहीं भोग सकता। आत्माद्वारा किया हुआ कम भिन्न वस्तु होनेसे न करनेवाला शरीर उसे नहीं भोग सकता।

यदि शंकाके तौर पर ऐसा ही मानें तो उसमें क्या दोष है? -कहते हैं—

दृष्टेष्टबाधेति ॥६३॥ (१२१)

मूलार्थ-दृष्ट व इष्ट गलत सिद्ध होता है ॥६३॥

विवेचन-दृष्टस्य- सब लोगोंको प्रत्यक्ष दिखनेवाला देहके

कामका आत्मासे, तथा आत्माके कार्यका देहसे जो सुख, दुःखका अनुभव होता है, **इष्टस्य**—शास्त्रसिद्ध वस्तुका।

देहद्वारा किये हुए का आत्माद्वारा तथा आत्माका, किये हुए का देहद्वारा सुख, दुःखका अनुभव करना प्रत्यक्ष है यह सब जानते हैं। जैसे देहकृत चोरी, व्यभिचार आदि अनाचारोंसे बंदीखाना आदि स्थानमें अधिक समय तक शोक आदि दुःखका अनुभव आत्माको करना पडता है और मनके क्षोभ या चिन्तासे ज्वर, संग्रहणी आदि रोग होते हैं जिनका कष्ट शरीरको भोगना पडता है तथा मुक्ति और उसे पानेके लिये करनेमें आते अनुष्ठान क्रिया आदि इष्ट वस्तुको भी बाधा पहुंचती है। इस तरह दृष्ट मान्यता कि- आत्मा व शरीर भिन्न है, सिद्ध नहीं होती। वह नास्तिकका लक्षण है।

इसका आशय यह है कि आत्मा द्रव्यनयसे नित्य, पर्यायनयसे अनित्य, व्यवहारनयसे शरीरसे अभिन्न तथा निश्चयनयसे शरीरसे भिन्न मानना।

इस प्रकार सर्वथा नित्य या अनित्य और सर्वथा शरीरसे भिन्न या अभिन्न आत्माको अंगीकार करनेसे हिंसा आदि दोषका असंभव होता है, अतः एकांतवादका इस प्रकार खंडन करके अब शास्त्रकार इस विषयका उपसंहार करते हैं। कहते हैं कि—

अतोऽन्यथैतत्सिद्धिरिति तत्त्ववाद इति ॥६४॥ (१२२)

मूलार्थ— इससे भिन्न आत्माको माननेसे बंध व मोक्षकी सिद्धि होती है वह तत्त्ववाद है ॥६४॥

विवेचन– **अतः**– एकान्तवादसे, **अन्यथा**– भिन्न अर्थात् आत्मा नित्यानित्य व देहसे भिन्न व अभिन्न है। **एतत्सिद्धिः**– हिंसा आदिका होना सिद्ध होता है, उससे आत्माको होनेवाला बंध व मोक्ष सिद्ध होता है।

एकान्तवादसे भिन्नमान्यता होनेसे अर्थात् आत्मा नित्यानित्य है तथा शरीरसे भिन्नाभिन्न है ऐसा माननेसे हिंसा आदि दोष व पापकर्मकी युक्तता सिद्ध होती है। उससे आत्माका बंध स्वीकार होता है और उस बंधसे मुक्त होनेका अनुष्ठान आदि भी यथार्थ है। यही तत्त्ववाद है और नास्तिक या अतत्त्ववादीसे यह नहीं समझा जा सकता।

इस तत्त्ववादका निरूपण करके क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

परिणामपरीक्षेति ॥६५॥ (१२३)

मूलार्थ–श्रोताके परिणामकी परीक्षा करना चाहिये॥६५॥

विवेचन– **परिणामस्य**– तत्त्ववादके विषयमें ज्ञान व श्रद्धाके लक्षणकी, **परीक्षा**– एकांतवादकी ओर अरुचि तथा तत्त्ववादकी स्तुति आदि उपायसे उसके परिणामकी परीक्षा करे। उसके बाद क्या करे? कहते हैं—

शुद्धे बन्धभेदकथनमिति ॥६६॥ (१२४)

मूलार्थ–शुद्ध परिणाम देख कर बन्धभेदका वर्णन करना चाहिये॥६६॥

विवेचन-शुद्धे-परिणामकी उत्कृष्ट शुद्धि पर, **बन्धभेदकथनम्**-बंधके भेदका वर्णन।

श्रोताके परिणाम उत्कृष्ट रीतिसे शुद्ध हो गये हों, उसे अनेकान्तवाद पर पूर्ण श्रद्धा हो जाने तब उसे बंधके ८ मूल प्रकृति-भेद तथा ९७ उत्तर प्रकृतिभेदका वर्णन करना चाहिये। ८ भेदोंके क्रमश उत्तरभेद ५, ९, २, २८, ४२, ४, २ और ५ हैं जो कुल ९७ हैं। जो 'बन्धशतक' आदि ग्रन्थ तथा 'कर्मग्रन्थो' में वर्णित हैं। इन प्रकृतिबंधका स्वभाव तथा उसका स्वरूप समझावे।

तथा-वरबोधिलाभप्ररूपणेति ॥६७॥ (१२५)

मूलार्थ-श्रेष्ठ बोधि बीजके लाभकी प्ररूपणा करे ॥६७॥

विवेचन-सत्य वस्तुको सत्य जानना तथा असत्य वस्तुको असत्यरूपमें पहचानना तथा उसकी यथार्थ श्रद्धा होनेसे **समकित**की प्राप्ति हुई कहलाती है। तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित करनेका कारणभूत बोधिबीज सामान्य समकितसे श्रेष्ठ है। अथवा द्रव्य समकितसे भाव समकित श्रेष्ठ है। उस उत्तम समकितकी प्ररूपणा करना चाहिये। उसका पूर्ण वर्णन करे। उसके **हेतु, स्वरूप** व **फलका** मुमुक्षुओंके सामने वर्णन करे।

बोधिबीजके प्राप्तिका हेतु बताते हैं—

तथा-भव्यत्वादितोऽसाविति ॥६८॥ (१२६)

मूलार्थ-उस प्रकारके भव्यत्वादिकसे उस समकितकी प्राप्ति होती है ॥६८॥

विवेचन–भव्यत्व–सिद्धिमें जानेकी योग्यता, जो अनादि कालसे आत्माका परिणामी भाव है या स्वभाव है वह आत्माका मूल तत्त्व है। तथा भव्यत्व एक रूप नहीं, उसके अनेक भेद हैं। बीज सिद्धिके भावसे भव्यत्व **काल, नियति, कर्म** और **पुरुष**को लेकर नाना प्रकारका है। **काल**–पुद्गल परावर्त्त तथा उत्सर्पिणीसे गिना जाता है। जैसे वसंत आदि ऋतु वनस्पतिको विशेष फल देनेवाली है। उसी तरह काल भव्यत्वका फल देनेवाला है। उत्सर्पिणी अधिक अनुकूल है तब भी नियतिकी जरूरत है। **नियति**–कालको निश्चितरूपसे नियत करनेवाली है। पुण्यकर्म या शुभ कर्मकी जरूरत रहती है। क्लेशको दूर करनेवाला नानाविध शुभ आशयका अनुभव करानेवाली कुशलानुबंधी पुण्य कर्मकी जरूरत होती है।

जिसने बहुत पुण्य भंडार एकत्रित किया है, महान कल्याणकारी आशयवाला, प्रधान ज्ञानवाला, तथा प्ररूपित अर्थको जाननेमें कुशल वह मोक्षाधिकारी **पुरुष** है। उस मोक्षाधिकारी पुरुषमें **काल, नियति** व **कर्म** हो तब वे सफल होते हैं।

यह भव्यत्व आदि चारों बातोंके होनेसे उसे वर बोधिलाभ, श्रेष्ठ बोधिबीज या समकितकी प्राप्ति होती है। सम्यक्त्वका स्वरूप जीवादि पदार्थ पर श्रद्धा है।

अब उसका फल कहते हैं—

ग्रन्थिभेदेनात्यन्तसंक्लेश इति ॥६९॥ (१२७)

मूलार्थ– ग्रन्थि (राग-द्वेष) को छेद देनेसे अत्यन्त संक्लेश (पूर्व कठोरता) नहीं होता।

विवेचन- ग्रन्थि- राग-द्वेषका परिणाम, ग्रंथि-गाठ समान होनेसे राग-द्वेषको ग्रन्थि कहा है, भेदेन- अपूर्वकरणरूपी वज्रकी सुई द्वारा छिद्र करनेसे शुद्ध तत्त्व व श्रद्धा तथा समकितका सामर्थ्य प्राप्त होनेसे, अत्यन्त- पूर्ववत् गहन, संक्लेशः- राग-द्वेषका परिणाम।

राग-द्वेष जिसका परिणाम ग्रन्थि(गांठ)के समान दृढ है, तत्त्व श्रद्धारूप समकितकी वज्ररूपी सूईसे छेद दिये जानेके बाद जब कि शुद्ध तत्त्वश्रद्धा प्राप्त हो जाती है तो राग-द्वेषके परिणाम पहलेकी तरह निविड या गहन नहीं होते। आत्माका तथा तत्त्वका ज्ञान हो जानेके बाद राग-द्वेषकी कमी हो जाती है। जैसे मणिमें छेद कर देनेके बाद वह मलसे पूरित होने पर भी पहले जैसा दृढ व कठिन नहीं होता, उसमें छिद्र रहता ही है और वह पूर्वावस्थाको प्राप्त नहीं कर सकता। वैसे ही राग-द्वेषकी ग्रन्थि छिद जानेके बाद वह इतनी दृढ नहीं हो सकती और परिणाम धीरे धीरे शुद्ध होते जाते हैं अर्थात् सम्यक्त्वसे राग द्वेषकी ग्रन्थि टूटने पर शुद्ध परिणाम पैदा होते हैं।

न भूयस्तद्बन्धनमिति ॥ ७० ॥ (१२८)

मूलार्थ-पुनः उस (ग्रन्थि) का बन्धन नहीं होता ॥ ७० ॥

विवेचन- भूयः- फिरसे, तस्य- ग्रन्थिका, बन्धनम्- बंधना, फिर होना।

फिरसे राग द्वेषकी उस ग्रन्थिका बन्धन नहीं होता। उस गहन

गांठके टूट जाने पर वह फिरसे बंधती ही नहीं। जब आत्माको आत्माकी तरह जान लिया, और आत्माको छोडकर अन्य सब पदार्थ विनाशी और जड माने तब ग्रन्थिभेद होनेके समयसे आयुष्यको छोडकर सभी कर्मोंकी स्थिति कुछ न्यून एक कोटाकोटि सागरोपमकी रहती है। जैसे ज्ञानावरणीय कर्मकी ३० कोटाकोटिकी उत्कृष्ट स्थितिमेंसे २९ कोटाकोटि सागरोपमका क्षय हो जाता है। ठीक तरहसे समकित प्राप्त हो जाने पर पुनः मिथ्यात्व पानेमें तीव्रतर क्लेश होने पर भी उतने ही कर्मबन्धन करेगा जितनी अन्य कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति रहती है। नवीन कर्मबन्ध उससे अधिक समयका न होगा।

तथा-असत्यपाये न दुर्गतिरिति ॥७१॥ (१२९)

मूलार्थ-और नाश न हो तो दुर्गति नहीं होती ॥ ७१॥

विवेचन-असति-अविद्यमान-न होना, अपाये-विनाश, **दुर्गतिः**-नरक, तिर्यंच व कुदेव या कुमनुष्यकी गति।

समकित दर्शनका नाश न हो या मिथ्यात्वकी प्राप्ति न हो और बुद्धिभेद आदि कारण न होने पर शुद्ध भव्यत्वके सामर्थ्यसे दुर्गति नहीं होती। वह सुदेवत्व तथा सुमनुष्यत्वको ही प्राप्त होता है। पर यदि पहले ही दुर्गतिका आयु बांध चुका हो तो दुर्गति हो सकती है। अन्यथा दुर्गति होगी ही नहीं।

तथा-विशुद्धे चारित्रमिति ॥७२॥ (१३०)

मूलार्थ-और समकितकी शुद्धिसे चारित्रकी प्राप्ति होती है ॥७२॥

विवेचन-विशुद्धे—निःशंकित आदि आठ प्रकारके दर्शनाचार-रूपी जल प्रवाहसे शंका आदिका कीचड घुल चुका है उस, उत्कर्ष प्राप्ति के लक्षणवाले (देखो सूत्र ६९ पृष्ठ १४४) ऐसे शुद्ध समकितसे, **चारित्रम्**—सर्व सावद्य (पापरूप योगका त्याग करके निरवद्य योगका आचार पालनरूप चारित्र।

समकितकी पूर्ण शुद्धिसे चारित्रकी प्राप्ति होती है। शुद्ध सम्यक्त्व ही चारित्र रूप है। 'आचारांगसूत्र' में कहा है कि—

'जं मोणंति पासहा, तं सम्मंति पासहा।
जं सम्मंति पासहा, तं मोणंति पासह॥

—"जो इस मुनिपनको देखे तो सम्यग् ज्ञानको देखो और निश्चय समकित को देखो" अर्थात् समकित भाव मुनि भाव है और मुनि भाव समकित भाव है, क्योंकि ज्ञानका फल विरति है और समकितसे मुनिभाव आता है।

भावनातो रागादिक्षय इति ॥७३॥ (१३१)

मूलार्थ—भावनासे रागादिकका क्षय होता है ॥७३॥

विवेचन—मुमुक्षु पुरुष जिसका निरंतर अभ्यास करते हैं वह भावना है वह अनित्यत्व, अशरण आदि १२ प्रकारकी है। कहा है कि—

"भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्वं तथैकताऽन्यत्वे।
अशुचित्वं संसारः, कर्माश्रव-संवरविधिश्च ॥२४॥

"[9] निर्जरण-[10] लोकविस्तर-[11] धर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ताश्च।
[12] बोधेः सुदुर्लभत्वं च, भावना द्वादश विशुद्धाः" ॥९५॥

—अनित्य १, अशरण २, एकत्व ३, अन्यत्व ४, अशुचित्व ५, संसार ६, आश्रव ७, संवर ८, निर्जरा ९, लोकविस्तार १०, धर्मस्वाख्याय ११, बोधिदुर्लभ १२–इस तरह बारह सिद्ध भावनाओंका मनन करना।

इन भावनाओंसे रागादिका क्षय होता है, राग-द्वेष तथा मोह नामक मल क्षीण होते हैं। जैसे सम्यक् प्रकारकी चिकित्सासे वात-पित्त आदि रोगका अंत आता है तथा प्रचण्ड पवनसे मेघमण्डल तितर-बितर हो जाता है, क्योंकि ये बारह भावनाओं इन मलोंकी शत्रु या हनन करनेवाली है।

यहां पाठकोंकी जानकारी तथा उनको भावनाओंके मननमें सहायभूत हो इसलिये इन बार भावनाओंका स्वरूप संक्षेपमें अन्यत्रसे उद्धृत करके देते हैं—

(१) **अनित्यभावना**—जगत्‌में सर्व वस्तुओंका पर्याय बदलता रहता है। सभी चीजें नाशवान् है अतः अनित्य है। कुछ वस्तुएं अल्पकालीन, कुछ जीवन पर्यंत तथा कुछ कल्पांत पदार्थ होते हैं। जैसे पुष्प या पौधा, मनुष्य जीवन, सूर्य या देव। तब भी सभी अनित्य हैं। शरीर भी नाशवान है। केवल आत्मा नित्य है। लक्ष्मी भी चंचल है। मृत्यु मानवको नष्ट कर देती है। मनुष्यके अभिमानकी सब चीजे, जैसे तन, धन, यौवन आदि सभी नाशवान हैं।

केवल आत्मा शाश्वत है। इस तरह नित्य, अनित्यका फर्क समझ कर अनित्य वस्तुओं परसे रागको कम करना ही अनित्यभावना है।

(२) **अशरणभावना**–आत्माका कोई भी आधार नहीं है। माता, पिता, स्वजन, बांधव आदि माने जाते हैं पर वे निश्चयतः किसी प्रकारकी शरण देनेवाले नहीं हैं। आत्माके ज्ञान, दर्शन व चारित्र आदि गुण ही आत्माकी तरह नित्य हैं। मृत्युके समय शुभ, अशुभ कर्म ही साथ आते हैं, अन्य कोई भी वस्तु न उनके साथ जाती है, न मृत्युमुखमेंसे उसे छुडा सकती है। केवल आत्मा नित्य है, अन्य सब अनित्य है। उसीका शरण लेना, जो आत्मिक गुणोंमें वृद्धि करे। अन्य सब वृथा हैं। कोई शरण या आधार नहीं। गुरु भी राह बतानेवाला है, चलना स्वयंको है, अतः स्वाश्रयी बनना-यह **अशरणभावना** है।

(३) **संसारभावना**– संसारचक्र अनन्तकालसे चल रहा है और जीव उसमें अपने अपने कर्मोंके अनुरूप फल भोग करता है। कई जीवोंके संबंधमें यह आत्मा कई बार भिन्न भिन्न भवोंमें आया है पर किसीका संबंध स्थायी नहीं, अतः आसक्तिरहित बनना। राग मनुष्यका संसार बढाता है। आसक्ति– ममत्व ही राग है। अपने संबंधमें आनेवाली आत्माका अधिक कल्याण करनेकी भावना प्रेमसे होती है, जो स्वाभाविक धर्म है अतः निःस्पृही रहना। अज्ञानी बाह्य वस्तुमें सुख खोजता है पर सुख आत्मामें ही रहा हुआ है। संसारका सुख क्षणभंगुर व इन्द्रजाल समान है। संसारके स्वरूपका मनन करना–**संसारभावना** है।

(४) **एकत्वभावना**– जीव अकेला ही उत्पन्न हुआ, अकेला ही मरेगा, अकेला ही कर्मका कर्ता है तथा अकेला ही भोक्ता है। धर्मको छोड कर कुछ भी सहायकारी नहीं। सभी विचार व कार्योंसे हुआ कर्मका फल खुद ही भोगना पडता है। प्रत्येक कार्य, विचार और वासनाका स्वय उत्तरदायी है। ममत्वकी व्याधिको मिटानेके लिये सम्यग् ज्ञान ही महौषधि है। सत्, असत्, नित्य, अनित्यका विवेक ही ममताको नाश करनेवाला है। ममता मोह राजाका मन्त्र है। ममत्वसे ससार भ्रमण बढता है अत आत्मज्ञान व **एकत्वभावना** बढाना चाहिये।

(५) **अन्यत्वभावना**– आत्माके सिवाय सब वस्तुएं पराई हैं। देह, धन, स्वर्ण, गृह आदि सब वस्तुए अन्य हैं। ये सब आत्मद्रव्यसे भिन्न हैं। जीव पुद्गलसे भिन्न है। सब पदार्थ पुद्गलके रूपांतर हैं, यह **अन्यत्वभावना** है।

(६) **अशुचिभावना**– शरीर ही सब कुछ है ऐसा जडवादी मानते हैं, जो भूल है। शरीर तो वस्त्र है। यह शरीर तो अपवित्र है, मल मूत्रसे भरा हुआ है। उस पर राग न रखे। उसे **अशुचि-भावना** कहते हैं। तब भी वह ज्ञानप्राप्ति व धर्मक्रियाका साधन है। शरीर नौकर समान है। उसे वशमें भी रखना चाहिये तथा अनादर भी नहीं करना चाहिये।

(७) **आश्रवभावना**– जीव प्रति क्षण शुभ या अशुभ कर्मका बंध करता रहता है। कर्मबन्धके हेतु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय व

योग हैं। मैत्री, कारुण्य, प्रमोद व माध्यस्थ्य भावनासे शुभ कर्मका बंध होता है। आर्त, रौद्र ध्यानसे तथा विषय कषायसे अशुभ कर्मका बन्ध होता है। इस सराग प्रवृत्तिको आश्रव कहते हैं, इसे त्याग कर निष्काम वृत्तिसे काम करे यही– **आश्रवभावना** है।

(८) **संवरभावना**– आश्रवको रोकना संवर है। नये कर्म-बन्धके कार्योंको रोकना या निरोध करना संवर है। सम्यग्ज्ञानसे मिथ्यात्वका नाश करना, विरतिसे अविरतिका रोध, तथा क्रोध, मान, माया, व लोभ नामक कषायोंको क्षमा, नम्रता व सरलता तथा संतोषसे क्रमशः जीते। संवर दो हैं - सर्व व देश। सर्व संवर तो १४ वे गुणस्थानक पर स्थित अयोगीकेवलीको होता है। देश संवर तो एक, दो या तीन प्रकारके आश्रवको रोकनेसे संभव है। इसके दो भेद हैं– द्रव्यसंवर व भावसंवर। आश्रवसे जो आत्मका पुद्गल सग्रह है वह रोकना द्रव्यसंवर है। आत्माकी अशुद्ध परिणति हटा कर स्वस्वभावमें रमण करना **संवरभावना** है।

(९) **निर्जराभावना**—नये कर्मोंका रोध सवर है। पूर्व बंधे हुए कर्मोंको तप आदिसे तितर-बितर करना निर्जरा है। निर्जराके दो भेद हैं—सकाम व अकाम। बाह्य-अभ्यतर बारह प्रकारके तपसे केवल मोक्षकी इच्छासे सकाम निर्जरा होती है, जो विरतिसे होती है। अकाम निर्जरा विरतिभाव बिना निष्कारण कष्ट सहनसे होती है। कषाय मंद करके तप करना लाभकारी है। इच्छाका रोध रूप ही सत्य तप है, ऐसे विचारमें रहना उसे **निर्जराभावना** कहते है।

(१० लोकस्वभावभावना—चौदह राजलोककी स्थिति तथा उसमें स्थित षट् द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, काल और जीवका विचार करना चाहिये। इस तीन लोकके स्वरूपके विचारको **लोकस्वभावभावना** कहते हैं।

(११) **बोधिदुर्लभभावना**—कई जन्म ग्रहण करने पर भी यह उत्तम स्थिति बड़ी दुर्लभतासे प्राप्त हुई है। मनुष्य भव, पूर्ण पंचेंद्रियपना, तथा धर्मश्रवणकी इच्छा होने पर भी उत्कृष्ट विशुद्धता बतानेवाली-कर्म मैल दूर करनेवाली, सर्वज्ञ प्ररूपित सद्वाणीमे श्रद्धा अतिदुर्लभ है। सत्को सत् व असत्को असत् जानना दुर्लभ है—यह **बोधिदुर्लभभावना** है।

(१२) **धर्मभावना**—प्राणियोको तारनेकी दृष्टिसे सर्वज्ञने सद्-ज्ञान सिखाया। रोहिणीया चोरको बिना इच्छाके भगवानकी वाणीका एक शब्द सुननेसे लाभ हुआ तो उसका श्रवण करके उसके अनुसार व्यवहार करनेमे कितना अधिक लाभ होगा? सर्वज्ञने दशविध यति धर्म तथा १२ व्रतरूप श्रावक धर्मका उपदेश दिया है। इस प्रकार धर्मका उपदेश करनेवाले सर्वज्ञ तथा धर्मका विचार **धर्मभावना** है।

यह बार भावनाओंका संक्षेपमें स्वरूप कहा ये भावनाएं रागादि मलका नाश करती है।

उससे क्या होता है? शास्त्रकार कहते हैं—

तद्भावेऽपवर्ग इति ॥७४॥ (१३२)

मूलार्थ-उससे रागादि (क्षयसे) अपवर्गप्राप्ति होती है॥

विवेचन-तस्य-रागादि क्षयसे, भावे-हो जानेसे. अपवर्ग-मोक्षकी प्राप्ति।

राग आदिके क्षय होनेसे सारे लोकालोकको देखनेकी शक्ति-वाला केवल ज्ञान, दर्शन आदिकी प्राप्तिसे इस संसाररूप समुद्रको तैर जानेवाले संतजनोंको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। सब पदार्थों व सब प्राणियोंके प्रति राग व द्वेषका अंत हो जाता है। तब आत्मा समभाव स्थित होता है। सकल लोकालोकको देखनेवाला केवल-ज्ञान व केवलदर्शन प्राप्त होता है। वह उसमेंसे प्रगट होता है। इस संसार रूप समुद्रको तैरनेवाले प्राणीको मोक्ष मिलता है। मोक्षका लक्षण क्या है? कहते हैं—

स आत्यन्तिको दुःखविगम इति ॥७५॥ (१३३)

मूलार्थ-पूर्णतया सब दुःखोंका नाश मोक्ष है ॥७५॥

विवेचन-सः-मोक्ष, अत्यन्तम्-समस्त, सकल दुःखकी शक्तिको निर्मूल करनेसे होता है, दुःखविगमः-सारे शरीर व मन संबंधी दुःखोंका नाश।

सभी दुःखोंके पूर्णत. नाशको ही मोक्ष कहते हैं। सारे जीव-लोकसे भिन्न असाधारण, आनंदका अनुभव वहा होता है। वहां जरा भी दुःख नहीं है. सब प्रकारका उच्च आनन्द है। वह सुख-स्थान ही मोक्ष है। वहां अन्य किसी सुखकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं रहती। वह उत्कृष्ट सुखधाम या परम फल शुद्ध चारित्रसे मिलेगा।

इस प्रकार देशनाविधिके बारेमें कह कर उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एवं संवेगकृद् धर्म, आख्येयो मुनिना परः ।
यथाबोधं हि शुश्रूषोर्भावितेन महात्मना ॥१०॥

मूलार्थ-इस प्रकार धर्मभावनावाला महात्मा मुनि, श्रोताको संवेग करनेवाला उत्कृष्ट धर्म अपने बोधके अनुसार कहे ॥१०॥

विवेचन-एवं-इस प्रकार, **संवेगकृत्**-श्रोताको संवेग पैदा करानेवाला, **आख्येयः**-कहना, **मुनिना**-साधुद्वारा अन्य कोई धर्मोपदेश करनेका अधिकारी नहीं, **परः**-अन्यतीर्थी धर्मसे अति उत्कृष्ट, **यथाबोधम्**-अपने बोधानुसार,-धर्माख्यानका यथार्थ बोध न होनेसे विपरीत मार्गकी प्ररूपणा होकर अनर्थ संभव है। **शुश्रूषोः**-धर्मश्रवणकी इच्छावाले श्रोताको, **भावितेन**-धर्मके प्रति वासना या प्रेमसे जिस मुनिका हृदय वासित हो, क्योंकि "भावसे भाव पैदा होता है" और गीतार्थके आख्यानसे श्रोताके मनमें श्रद्धा आदि गुणोकी उत्पत्ति होती है। **महात्मना**-प्रशंसनीय आत्मावाला, अनुग्रह करनेमे तत्पर।

इस प्रकार न्यायसे संवेग उत्पन्न करनेवाला धर्म श्रोताको कहना चाहिये। मुनि गीतार्थ हो तथा भावना व श्रद्धावाला हो। सवेगका लक्षण कहते हैं—

"तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसा प्रबन्धे, देवे राग-द्वेष-मोहादिमुक्ते।
साधौ सर्वग्रन्थसंदर्भहीने, संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः" ॥९६॥

—हिंसादिके नाश करनेवाले सत्यधर्मके प्रति; राग, द्वेष व मोहादिकसे मुक्त–१८ दोष रहित देवके प्रति; और द्रव्य तथा भाव दोनों परिग्रहरहित साधुके प्रति जो निश्चल अनुराग पैदा हो उसे **संवेग** कहते हैं। सुधर्म, सुदेव व सुगुरुके प्रति पूर्ण श्रद्धा ही संवेग है।

गीतार्थ साधु ही श्रोताको उपदेश दे। अन्य इसका अधिकारी नहीं है। 'निशीथसूत्र' में कहा है कि—

"संसारदुक्खमहणो, विबोहणो भवियपुंडरियाणं।
धम्मो जिणपन्नत्तो, पकप्पजइणा कहेयव्वो" ॥९७॥

—संसारके दुःखको नाश करनेवाला, भविजनरूपी कमलको विकसित करनेवाला या प्रतिबोध करनेवाला और जिन भगवंतद्वारा निरूपित धर्मको 'निशीथसूत्र 'का अध्ययन किया हुआ मुनि कहे।

वह मुनि अपने बोधके अनुसार धर्मोपदेश दे। इसके लिये कहा है कि—

"न ह्यन्धेनान्धः समाकृष्यमाणः सम्यगध्वानं प्रतिपद्यते"।

—अंधा मनुष्य अंधेद्वारा मार्ग दिखाये जाने पर सही राह नहीं पा सकता।

वह गीतार्थ धर्मके बारेमें शास्त्र श्रवणकी इच्छासे उपस्थित श्रोताको उपदेश दे। मुनिके मनमें धर्मकी वासना जाग्रत हो। श्रोताजनों पर अनुग्रह करनेमें तत्पर प्रशंसनीय महामुनि श्रोता जनोंको धर्मोपदेश दे।

धर्मकथनका क्या फल है? कहते हैं—

अबोधेऽपि फलं प्रोक्तं, श्रोतृणां मुनिसत्तमैः।
कथकस्य विधानेन, नियमाच्छुद्धचेतसः ॥११॥

मूलार्थ—उत्तम मुनि कहते हैं कि यदि श्रोताको लाभ न हो तो भी शुद्ध चित्तवाले उपदेशकको विधिवत् उपदेश क्रियाका निःसंशय फल होता ही है ॥११॥

विवेचन—अबोधेऽपि—सम्यक्त्वका बोध न होनेपर भी, **फलम्**-क्लिष्ट कर्मका निर्जरारूप फल, **श्रोतृणाम्**—श्रोताओंको, **मुनिसत्तमैः**—अरिहंतद्वारा, **कथकस्य**—धर्मोपदेशक साधु, **विधानेन**—बाल, मध्यम, या बुद्धियुत श्रोताओंकी अपेक्षासे, **नियमाद्**—अवश्य, **शुद्धचेतसः**—शुद्ध चित्तवाला।

श्रीअरिहंत भगवान द्वारा कहा हुआ है कि जो शुद्ध हृदयवाला धर्मोपदेशक साधु सबको उपदेश करता है उसे श्रोताओंको बोध न होने पर भी कर्म निर्जरारूप फल तो अवश्य मिलता ही है। यदि अन्य प्रकारसे देशनाका फल मिले तो इस बोध करानेका क्या प्रयोजन? कहते हैं—

नोपकारो जगत्यस्मिंस्तादृशो विद्यते क्वचित्।
यादृशी दुःखविच्छेदाद्, देहिनां धर्मदेशना ॥१२॥

मूलार्थ—प्राणियोंके दुःखका विच्छेद करनेसे धर्मदेशना जो उपकार करती है वैसा जगतमें दूसरा उपकार नहीं ॥१२॥

विवेचन-दुःखविच्छेदात्-शरीर व मनके सब दुःखोंको अंत करनेवाला, देहिनाम्-व्यक्ति (सुननेवाले), धर्मदेशना-देशनासे उत्पन्न मार्गमें श्रद्धा आदि गुण।

देशना योग्य प्राणियोको इस जगतमें किसी भी काल या क्षेत्रमें शरीर व मनके दुःखोंको नाश करनेमे धर्मदेशना जितनी उपकारक है उतना उपकार किसी अन्य पदार्थसे संभव नहीं। देशनासे मार्ग श्रद्धा आदि गुण पैदा होते हैं। सारे क्लेशोसे पूर्णतः रहित मोक्षको लानेमें वह गुण सफल (अवन्ध्य) कारण है। धर्मदेशनासे मार्ग पर श्रद्धा होती है, तथा उससे मोक्ष मिलता है। अत बोध देनेमें आलस नहीं करना। श्रोता देशनाश्रवणमें आलस न करें।

ज्ञान प्राप्त होनेसे अज्ञानांधकारका नाश होता है तब हेय व उपादेयका यथार्थ ज्ञान होता है। जितना भी ज्ञान प्राप्त हो उसे काममें लाना चाहिये। उससे अधिक ज्ञान प्राप्त करनेके योग्य बनते हैं और अधिक ज्ञान मिलता है।

श्रीमुनिचन्द्रसूरि द्वारा विरचित धर्मबिन्दुकी टीकाका देशनाविधि नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

तृतीय अध्याय।

प्रथम व द्वितीय अध्यायमें गृहस्थके सामान्य धर्मका तथा बाल जीवका धर्मकी ओर आकर्षण कैसे करना इसका विवेचन है। अब जीव किस राह जाकर मोक्षका अधिकारी होता होगा यह बताते हैं—

द्वितीय अध्यायकी व्याख्या हो चुकी, अब तृतीय अध्याय प्रारंभ करते हैं। उसका प्रथम सूत्र यह है—

सद्धर्मश्रवणादेवं, नरो विगतकल्मषः।
ज्ञाततत्त्वो महासत्त्वः, परं संवेगमागतः ॥१३॥

मूलार्थ-सद्धर्म श्रवणसे जिसका पाप चला गया है, जिसने तत्त्व पा लिया है और जो महान पराक्रमवाला है ऐसा श्रोता पुरुष उत्कृष्ट संवेगको प्राप्त हुआ है।

विवेचन-सद्धर्मश्रवणात्-पारमार्थिक सत्य धर्मके सुननेसे, **एवं**-उक्त रीतिसे, **नरः**-श्रोता, **विगतकल्मषः**-पापरहित, **ज्ञाततत्त्वः**-जीव व पदार्थके तत्त्वका भेद पा गया है, जिसने शास्त्ररूपी नेत्र-बलसे जीवादि वस्तुवादको हाथमें रहे हुए बडे मोतीकी तरह

देख लिया है. **महासत्त्व**–शुद्ध श्रद्धा प्रगट होनेसे प्रशंसनीय पराक्रमवाला, **परं संवेगम्**–उत्कृष्ट संवेगवाला।

विशेष धर्मकी व्याख्या करते हैं। उसका अधिकारी बताते हैं– जिस श्रोताका सत्य धर्मश्रवण करनेसे मिथ्यात्व मोह आदि मलिनताका नाश हो चुका है, जिसने शास्त्रबलसे जीवादि वस्तुवाद व तत्त्वको समझ गया है और शुद्ध श्रद्धासे उत्कृष्ट संवेगको पा चुका है तथा शुद्ध श्रद्धासे महान पराक्रमवाले धर्मका अधिकारी है।

संवेग पाने पर वह क्या करे, कहते हैं—

धर्मोपादेयतां ज्ञात्वा, संजातेऽच्छोऽत्र भावतः।
दृढं स्वशक्तिमालोच्य, ग्रहणे संप्रवर्तते ॥१४॥

मूलार्थ–धर्मकी उपादेयता जानकर, धर्मके प्रति भावना सहित, स्वशक्तिका दृढ विचार करके मनुष्य उसे अंगीकार करनेकी प्रवृत्ति करता है।

विवेचन–धर्मोपादेयताम्–धर्म ग्रहण करने लायक है, ऐसा भाव रखे, या **ज्ञात्वा**–जानकर, **संजातेऽच्छः**–धर्म प्राप्तिकी इच्छा या ऐसा परिणाम होना, **दृढं**–पूर्णतया सूक्ष्मरीतिसे, **स्वशक्ति**–अपने सामर्थ्यका विचार करके, **ग्रहणे**–योगवंदन आदि शुद्धिरूप विधिसे तत्पर होकर धर्म ग्रहण करनेमें, **संप्रवर्तते**–ठीक प्रवृत्ति करे।

वह धर्मका अधिकारी धर्मकी उपादेयताको जानता है। धर्मको उपादेयता कैसी है? कहते हैं—

"एक एव सुहृद्धर्मो, मृतमप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाश, सर्वमन्यत् तु गच्छति" ॥९८॥

--धर्म ही ऐसा सुहृद्-मित्र है जो मृत्यु होने पर भी जीवके साथ जाता है और धर्मको छोडकर अन्य सब शरीरकी तरह उसीके साथ नष्ट हो जाता है।

धर्मकी ऐसी उपादेयता जानकर उसकी प्राप्तिकी इच्छा हो तब दृढरूपसे अपने सामर्थ्यका विचार करके शुद्ध विधिसे धर्म ग्रहण करनेकी प्रवृत्ति करे। यदि शक्तिका ठीक विचार न करके शक्तिसे ज्यादा धर्मको ग्रहण करे तो भंग होना सभव है, जिससे उलटा अनर्थ संभव है अतः पूर्ण व दृढ विचार आवश्यक है।

क्या यही व्यक्ति धर्म ग्रहण करनेका अधिकारी है? अन्य क्यों नहीं? कहते हैं—

योग्यो ह्येवंविधः प्रोक्तो, जिनैः परहितोद्यतैः।
फलसाधनभावेन, नातोऽन्यः परमार्थतः" ॥१९॥

मूलार्थ-परहितमें उद्यत जिनेश्वरोंने फल साधनाके भावसे ऐसे ही लक्षणोंसे युक्त पुरुषोंको योग्य कहा है। वस्तुतः अन्य पुरुष इसके योग्य नहीं है।

विवेचन-योग्यः-भव्य, **एवंविधः**-इस प्रकारके उपरोक्त गुणोवाला धर्मग्रहणके योग्य नर, **परहितोद्यतैः**-सब जीव लोकके कल्याणमें उद्यत प्रभुद्वारा, **फलसाधनभावेन**-फल साधनाके

भावसे योग्यको ही अधिकारी कहा है, अन्यः—इससे भिन्न, परमार्थतः—वस्तुतः ।

श्री जिन भगवान जो लोकका कल्याण करनेवाले हैं, उन्होंने उपर्युक्त श्लोकोमे वर्णित गुणवाले पुरुषको ही इस विशेष धर्मके ग्रहणका अधिकारी माना है। क्योकि ऐसा साधक ही मोक्ष नामक साध्य फलकी साधना कर सकता है। अयोग्य पुरुष जो सामान्य धर्मका भी ठीक पालन न कर सके वह विशेष धर्मको कैसे सफलतासे पाल सकता है । साथ ही शासनकी उन्नति भी योग्य व्यक्तिके धर्म ग्रहण करनेसे ही होती है । अन्य व्यक्ति वस्तुत. इस विशेष धर्मका अधिकारी नहीं है, क्योंकि वह मोक्षफलकी साधना नहीं कर सकता ।

इति सद्धर्मग्रहणार्ह उक्तः, साम्प्रतं तत्प्रदान-विधिमनुवर्णयिष्यामः ॥१॥ (१३४)

मूलार्थ—इस प्रकार सद्धर्म ग्रहण करने योग्य पुरुषका वर्णन किया। अब उस सद्धर्मको देनेकी विधि कहते हैं ॥१॥

विवेचन—धर्म अपनी चित्तशुद्धिके आधीन है तो उसके ग्रहण करनेसे क्या ? कहते हैं कि—

धर्मग्रहणं हि सत्प्रतिपत्तिमद् विमलभाव-करणमिति ॥२॥ (१३५)

मूलार्थ—सत्प्रतिपत्तिसे धर्म ग्रहण करना निर्मलभावका कारण है ॥२॥

विवेचन–**सत्प्रतिपत्तिसद्**–स्वशक्तिका विचार करके धर्मकी शुद्धि प्राप्त करनेसे, **विमलभावकरणं**–अपने फलके उत्कृष्ट साधनसे सफल परिणाम उत्पन्न करनेवाला।

ऊपर कहे हुए धर्मको सत्प्रतिपत्तिसे–अपनी शक्तिका विचार करके शुद्ध परिणामसे अंगीकार करनेसे वह विमल भावनाको पैदा करता है। यदि अपनी शक्तिका दृढ विचार करके धर्मको ग्रहण करें तो उसका उत्कृष्ट फल अवश्य मिलता है, जिनसे निर्मल भाव पैदा होता है। अतः विधिपूर्वक धर्म ग्रहण करनेका वर्णन करते हैं—

तच्च प्रायो जिनवचनतो विधिनेति ॥३॥ (१३६)

मूलार्थ–प्रायः वह धर्मग्रहण वीतरागके सिद्धांतके अनुसार निम्न विधिसे होता है ॥३॥

विवेचन–**तच्च**–वह सत्प्रतिपत्ति सहित धर्मग्रहण, **प्रायः**–ज्यादातर, **जिनवचनतः**–श्रीवीतराग प्रभुके सिद्धांतसे, **विधिना**–कही जानेवाली।

प्रायः इस विधिसे वीतरागके सिद्धांतके अनुसार धर्मग्रहण करनेसे विमलभाव पैदा होता है। कभी कभी मरुदेवी आदिको जैसे बिना धर्म ग्रहणके भी विमलभाव पैदा होता है, इस विधिसे सत्प्रतिपत्तिवाला धर्म ग्रहण किया जाता है।

इति प्रदानफलवत्तेति ॥४॥ (१३७)

मूलार्थ–इस प्रकार धर्मका दान सफल होता है ॥४॥

विवेचन–इस प्रकार सत्प्रतिपत्ति सहित धर्मका विधिवत् ग्रहण करनेसे विमल भाव पैदा होता है। गुरु यदि शिष्यको अनुग्रह व उपकारपूर्वक धर्मग्रहण करावें तो गुरुआशिषसे वह शिष्यको उपकार करनेवाला व अधिक फल प्रदान करनेवाला होता है। अन्यथा अविधिसे या अयोग्य पुरुषको किया हुआ धर्मका दान ऊषर भूमिमें बोये हुए की तरह प्रायः निष्फल होता है।

पहले योग्य पुरुषका विशेषतः धर्म ग्रहण करनेको कहा है, जिसने प्रायः श्रावक धर्मका अभ्यास या पालन ठीक तरहसे किया है वह यतिधर्मके योग्य होता है, अतः जो विशेष प्रकारका गृहस्थधर्म है वह ग्रहण करनेकी विधि पहले कहते हैं—

सति सम्यग्दर्शने न्याय्यमणुव्रतादीनां ग्रहणं नान्यथेति ॥५॥ (१३८)

मूलार्थ–सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होने पर अणुव्रत आदि ग्रहण योग्य होता है अन्यथा नहीं ॥५॥

विवेचन–सति–होते पर, सम्यग्दर्शने–सम्यक्त्व प्राप्त होने पर, न्याय्यम्–योग्य, अणुव्रतादीनाम्–५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत–इस प्रकार श्रावकके १२ व्रत।

सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होने पर अणुव्रतादिका ग्रहण करना योग्य है, बिना समकित प्राप्तिके ये व्रत निष्फल जाते हैं। जब तत्त्वको तत्त्वरूपसे जान ले, तभी उसके योग्य व्यवहारकी इच्छा होती है। तभी उसे श्रावकके १२ व्रत–अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षा-

व्रतको ग्रहण करना न्याय्य है। यदि सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हो तो १२ व्रत धारण करना वृथा है। क्योंकि तब वे निष्फल हो सकते हैं। कारण कि बिना क्रियाका भाव फल नहीं होता। कहा है—

"सस्यानीवोषरे क्षेत्रे, निक्षिप्तानि कदाचन।
न व्रतानि प्ररोहन्ति, जीवे मिथ्यात्ववासिते ॥९९॥
"संयमा नियमाः सर्वे, नाश्यन्तेऽनेन पावनाः।
क्षयकालानलेनेव, पादपाः फलशालिनः" ॥१००॥

—जैसे ऊषर भूमिमें बोये हुए बीज कभी नहीं ऊगते उसी प्रकार मिथ्यात्ववासनासे भरे हृदयमें ये व्रत नहीं फलते, इनके अंकुर नहीं निकलते या कर्मक्षय रूप फल पैदा नहीं होता। जैसे प्रलयकालकी अग्निसे सभी फलशाली वृक्ष नष्ट हो जाते हैं वैसे ही इस मिथ्यात्वसे सब पवित्र संयम और नियम नाश हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति कैसे होती है सो कहते हैं—

जिनवचनश्रवणादेः कर्मक्षयोपशमादितः सम्यग्दर्शनमिति ॥६॥ (१३९)

मूलार्थ—जिनवचनके श्रवणादिकसे और कर्मके क्षयोपशम आदिसे सम्यग्दर्शन होता है ॥६॥

विवेचन—जिनवचनश्रवणादेः—जिन भगवानके वचनका श्रवण तथा उसमें श्रद्धाकी उत्पत्ति तथा भव्यत्वके परिपाकसे उत्पन्न जीवकी वीर्यशक्ति और उससे, **कर्मक्षयोपशमादितः**—कर्म याने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मिथ्यात्व मोह आदिका क्षयोपशम, उपशम

व क्षयके गुणसे, सम्यग्दर्शनं-तत्त्वमें श्रद्धा जो स्वाभाविक रीतिसे या उपदेशसे होती है—

कर्मक्षयका रूप इस प्रकार है—

"खीणो निव्वायहुआसणो व्व, छारपिहिय व्व उवसंता।
दरविज्झायविहाडिय, जलणोवम्मा खओवसमा" ॥१०१॥

—क्षायिक भाव बुझे हुए अग्नि समान, उपशमभाव राखसे ढकी हुई अग्नि समान तथा क्षयोपशमभाव थोडा बुझा हुआ व थोडा बिखरा हुआ अग्नि हो उसके समान है।

जिन वचनको श्रद्धासे सुननेसे तथा भव्यत्वके पकने या समीप होनेसे उत्पन्न कर्मके क्षयोपशम आदिमे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। विरुद्धताका नाश करके कदाग्रह रहित शुद्ध वस्तु बतानेवाला, तीव्र क्लेशसे वर्जित, उत्कृष्ट अशुभ कर्मबन्धका अभाव पैदा करनेवाला आत्माके शुभ परिणामरूप सम्यग्दर्शन है; उसकी प्राप्ति कैसे होती है उसका स्वरूप या पहचान क्या है? कहते हैं—

प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्याभिव्यक्ति-लक्षणं तदिति ॥७॥ (१४०)

मूलार्थ—प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य-इन लक्षणोंवाला सम्यग्दर्शन है ॥७॥

विवेचन—प्रशम—स्वभावसे क्रोधादि क्रूर कषाय रूप विषके विकारसे उत्पन्न कटु फलको देख कर उसका निरोध करना, संवेग-मोक्षकी अभिलाषा, निर्वेद—संसारसे उद्वेग होना, अनुकम्पा—दुःखी

प्राणी पर द्रव्य तथा भावसे दया, आस्तिक्य–जिन भगवान द्वारा कथित ही निःशङ्क सत्य है ऐसा मानना ।

जिस व्यक्तिमें प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य-ये पांचों गुण तथा लक्षण प्रगट हों तथा जिनके हृदयमें इनका उदय हो वह सम्यग्दर्शनवाला है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी शुद्धि होने पर गुरुको जो करना चाहिये वह कहते हैं—

उत्तमधर्मप्रतिपत्त्यसहिष्णोस्तत्कथनपूर्वमुपस्थितस्य विधिनाऽणुव्रतादिदानमिति ॥८॥ (१४१)

मूलार्थ–उत्तम (यति) धर्मको ग्रहण करनेमें असमर्थ, अपने पास धर्म ग्रहण करनेके लिये आये हुए पुरुषको अणुव्रत आदिका स्वरूप समझाकर उसका विधिवत् दान करे ॥८॥

विवेचन–प्रतिपत्तिः–लेनेमें या पालनमें, **असहिष्णुः**–असमर्थ, **तत्कथनपूर्वम्**–स्वरूप व भेद सहित अणुव्रतादिको कह कर, **उपस्थितस्य**–ग्रहण करनेको तत्पर ।

इस भव्य-जीवके सामने जो संसारसे डर कर धर्म ग्रहण करनेको तैयार है, उसको पहले क्षमा, मार्दव आदि यतिधर्मका सविस्तर वर्णन करके उसे यतिधर्म ग्रहण करने योग्य करना । क्योंकि वही सर्व रोगोको हरण करनेवाली औषधि है । यदि वह अभी भी विषय-सुख आदिकी तृष्णासे उत्तम ऐसे क्षमा, कोमलता आदि गुणवाले यतिधर्मको अंगीकार करनेमें असमर्थ हो तो उसे अणुव्रत आदिके

स्वरूप व भेदोंको वर्णन करके विधिसहित अणुव्रत आदि श्रावकके १२ व्रतोंका दान करे, जब वह धर्मग्रहण करनेको तत्पर हो।

बिना यतिधर्म कहे श्रावक धर्म प्रदान करे तो जो दोष होता है, वह कहते हैं—

सहिष्णोः प्रयोगेऽन्तराय इति ॥९॥ (१४२)

मूलार्थ—समर्थ व्यक्तिको व्रतदानसे यतिधर्ममें अन्तराय होता है। ॥९॥

विवेचन—सहिष्णोः—उत्तम (यति) धर्मका पालन करनेमें समर्थ, प्रयोगे—अणुव्रत आदिका दान करनेसे, अन्तराय—चारित्र धर्म पालनमें रुकावट।

यदि वह व्यक्ति चारित्र धर्मका पालन करने योग्य है, समर्थ है और उसे श्रावकके १२ व्रत ग्रहण करा दिये जाय तो गुरुद्वारा चारित्र पालनमें अंतराय किया जाता है। इस अंतरायसे गुरुको भी भवांतरमें चारित्र प्राप्ति दुर्लभ होती है, अतः प्रत्येकको उसके योग्य धर्म प्रदान करना चाहिये।

अनुमतिश्चेतरत्रेति ॥१०॥ (१४३)

मूलार्थ—श्रावक धर्म देनेसे अनुमोदना दोष आता है ॥१०॥

विवेचन—अनुमतिः—अनुज्ञा दोष—उसकी अनुमोदना, इतरत्र—अणुव्रत आदि देनेसे सौगंध लिये हुए सावद्य अंशसे भिन्न, बिना सौगंध लिया हुआ सावद्य अंशका।

यदि वह श्रावक साधुधर्मके योग्य हो तो उसे श्रावक धर्म देनेसे जिस सावद्य अंशका वह पच्चक्खाण नहीं करता उससे अनुमोदना दोष होता है। यदि वह यतिधर्म ग्रहण करता तो वह सावद्य आचरण करता ही नहीं। अतः जो भी सावद्य आचरण वह करे उसमें उसकी अनुमोदना हो जाती है। साथ ही यावज्जीव उस साधुको अपने सर्व पाप रहित यतिधर्मके नियममें मलिनता आती है। अतः उसे पहेले यतिधर्म कह कर फिर श्रावक व्रत ग्रहण करावे। ऊंचेके योग्यको नीचा स्थान देनेसे अंतराय होता है। नीचेके योग्यको ऊंचा स्थान देनेसे वह उभयभ्रष्ट होता है। अतः सबको उसके योग्य धर्म ग्रहण कराना चाहिये।

अन्यथा जो दोष है वह कहते हैं—

अकथन उभयाफल आज्ञाभङ्ग इति ॥११॥ (१४४)

मूलार्थ-(ऐसे) न कहनेसे दोनों धर्मके फल रहित होनेसे आज्ञाभंग होता है ॥११॥

विवेचन-आज्ञाभङ्गः-भगवानके शासनके खत्म होने रूप दुःखद अंत।

यदि उत्तम चारित्रधर्मके पालनमें असमर्थ पुरुषको श्रावकधर्म न कहे तो वह यतिधर्म व श्रावकधर्म दोनोंके फलसे वंचित रहता है। उससे भगवानके शासनकी आज्ञा भंग होती है—

"श्रममविचिन्त्यात्मगतं, तस्माच्छ्रेयः सदोपदेष्टव्यम्।
आत्मानं च परं च हि, हितोपदेष्टाऽनुगृह्णाति" ॥१०२॥

—('तत्त्वार्थसूत्रटीका' कारिका)

—उपदेष्टा गुरु उपदेश करनेसे होनेवाले अपने श्रमका विचार किये बिना कल्याणका उपदेश करे। हितका उपदेश करनेवाला गुरु अपने व दूसरे दोनों पर अनुग्रह करता है।

क्या यतिधर्मके अयोग्य पुरुषको श्रावकधर्म ग्रहण करानेसे, बिना त्याग किया हुआ जो सावद्य अंश (पाप सहित कार्य) रहता है जिसे वह करेगा, उसके अनुमोदनका दोष गुरुको नहीं होगा? कहते हैं—

भगवद्वचनप्रामाण्यादुपस्थितदाने दोषाभाव इति ॥१२॥ (१४८)

मूलार्थ—भगवानके वचनके प्रमाणसे श्रावकधर्म ग्रहण करनेमें तत्पर पुरुषको उसका दान करनेमें दोष नहीं है ॥१२॥

विवेचन—'उपासकदशांग' आदिमें भगवानने स्वयं आनंद आदि श्रावकोंको अणुव्रतादि श्रावकधर्म ग्रहण कराया है ऐसा पाठ है। भगवानको उसमें अनुमति दोष नहीं है। भगवानका आचरण सर्वांग सुंदर है, अतः वह एकांत दोष रहित है।

अणुव्रतादि श्रावकधर्म ग्रहण करनेको तत्पर पुरुषको भगवानके वचनकी प्रामाणिकतासे अणुव्रतादि श्रावकधर्म ग्रहण करानेमें गुरु केवल साक्षी मात्र रहता है। अन्य पापव्यापार न रोकनेसे उसे उसका अनुमति दोष नहीं लगता। व्रतका अभाव अनादि कालसे है, उसमें गुरुकी कोई साक्षी नहीं है। व्रत लेनेवाला उतना ही व्रत लेना चाहता है अतः उसमें गुरु साक्षी देता है पर बाकी अव्रतमें पहलेसे

ही उसकी प्रवृत्ति है और वह उसे रोकता नहीं ॥

गुरुको अनुमोदना दोष नहीं आता वह कैसे ? कहते हैं—

गृहपतिपुत्रमोक्षज्ञातादिति ॥१३॥ (१४६)

मूलार्थ—गृहपतिके पुत्रको मुक्त करानेके दृष्टांसे ज्ञात होता है ॥१३॥

विवेचन—निम्न कथानकमें गृहपति नामक गृहस्थने राजगृहसे अपने एक पुत्रको मुक्त कराया, उस दृष्टांत परसे ऐसा ज्ञात होता है। उसका भावार्थ कथानक परसे समझमें आ सकता है। वह कथानक इस प्रकार है—

[गृहपतिका कथानक]

मगध नामक एक देश था, जिसमें स्त्रियोंके कटाक्षसे अप्सराओंके विलासको भी नीचा देखना पडे उससे वह सारा देश रमणीय था। वहा हिमालय पर्वत जैसे शुभ्र महल थे। उस महलके उच्च शिखरोंसे शरद् ऋतुके श्वेत मेघ जैसा शोभायमान वसंतपुर नगर दिखाई देता था। उसका प्रतिपालक जितशत्रु नामक राजा था। सेवा करनेके समय जब कई राजा उसे एकसाथ मस्तक नमाते थे तो उनके मुकुटोंमें रहे हुए माणिकोंकी किरणोंसे उसके चरणकमल रंगे हुए दिखते थे। अपनी प्रचंड भुजासे तलवार द्वारा उसने अपने शत्रुके मदोन्मत्त हाथियोंके कुंभस्थलको भेदा था, वह यथार्थ रक्षक था। उसके धारिणी नामक रानी थी, जो मनुष्य मात्रके नेत्र तथा मनको हरण करनेमें समर्थ थी। वह अपने पूर्वभव कृत पुण्यके

फलोंका उपभोग करती थी और अपने भोग और ऐश्वर्यसे अप्सराओंके गर्वको भी हरण करती थी।

वह जितशत्रु राजा जिससे सर्व दूषण दूर भागते थे, अपनी प्रियाके साथ पंच प्रकारके मनोहर भोग भोगता हुआ रहता था।

उस समय उसी शहरमें समुद्रदत्त नामक सेठ रहता था। उसके पास कई सेवक तथा जनावर थे। उसके भंडार धान्यसे भरपूर थे और वह स्वर्ण आदि धातुएं तथा मणि, माणिक, शिला, मुक्ता, प्रवाल, पद्मराग, वैडूर्य, चन्द्रकान्त, इन्द्रनील, महानील, राजपट्ट आदि उत्तम प्रकारके पदार्थोंसे परिपूर्ण समृद्धिवान तथा कुवेरके गर्वको हरण करनेवाला था। वह दीन, अनाथ, अंध, पंगु आदि प्राणियोंके शोकका हरण करानेवाला था। वह वणिक शिरोमणि, सुंदर आकृतिवाला तथा सर्व शुभ गुणोंका आगार था।

उसको सुमंगला नामक पतिव्रता स्त्री थी। वह स्त्री सर्व लावण्यके गुणोंका आधार, सर्व कल्याणकारी वस्तुओंका उदाहरण स्वरूप पुण्य-रत्नोंके महाभंडाररूप, स्वकुल संततिके आभूषणरूप और कोमलतामें वनलताके समान तथा सधर्मचारिणी थी। उसके साथ गाढ अनुरागसे बद्ध वह सेठ विषयसुख सागरमें निमग्न होकर समय व्यतीत करता था।

समुद्रदत्त और सुमंगलाके समय व्यतीत होने पर उनके निर्मल आचारसे पवित्र, प्रियंकर, क्षेमंकर, धनदेव, सोमदेव, पूर्णभद्र और माणिभद्र नामक छ पुत्र उत्पन्न हुए। वे स्वभावसे ही गुरुजनोंका विनय करनेमें तत्पर थे। उनका परम कल्याणकारी और शुद्ध धर्म,

अर्थ व काम नामक त्रिवर्ग पर पूर्ण अनुराग था। उनके लोकप्रिय स्वभावसे कीर्तिकामिनी उनका वरण कर चुकी थी। वे सर्व सज्जनोंके मनको संतोष देनेवाले और दया, दान व दाक्षिण्य आदि महत् गुणोंसे अलंकृत थे। उनके सुंदर शरीरकी लावण्यता कामदेवकी सुंदरताको नीचा दिखाती थी। उन छहों पुत्रोंने वणिक जनोंके योग्य श्रेष्ठ व्यवहारसे अपने पिताको कुटुंबकी चिंताके अतिशय भारसे मुक्त कर दिया था।

एक समय अंतःपुरमें जब राजा जितशत्रु सुंदर वाद्य बजा रहे थे, उनकी स्त्री धारणीने अनेक अवयवोंके हावभावसे अति आनंद-दायक नृत्य किया। राजाने हर्षातिरेकसे रानीको वरदान मांगनेको कहा। धारणी बोली—"अभी वह वरदान आपके पास रहने दो, मैं अपनी इच्छाके समय वरदान मांग लूंगी"। कुछ समय व्यतीत होने पर कामीजनोंके विलास व उल्लासका सहायक शरद् पूर्णिमाका दिवस आया। उस देवीने राजासे जाकर कहा—"हे देव! प्रथम दिये हुए वरदानको अर्पण करो। आज रात्रिमें जब कर्पूरके समान उज्ज्वल चंद्रकिरणोंसे सब दिशाएं व्याप्त हैं, मैं इस महान नगरीको अपने पूर्ण परिवार सहित तथा शेष अंतःपुर सहित सब चौराहे, बाजार आदि रमणीय प्रदेशोंकी सुंदरताको देखनेके लिये इधर उधर सर्वत्र घूमनेकी अभिलाषा रखती हूं।

तब राजाने नगरमें सर्वत्र यह घोषणा करवाई कि आज रात्रिमें सर्व पुरुष (नर) नगर छोड कर बाहर चले जाय। सर्व जन अपनी अपनी अनुकूलताको देख कर शहरसे बाहर जाने लगे। राजा भी

यथोचित समय पर मंत्री आदि नगरके प्रधान व्यक्तियों सहित नगरके बाहर ईशान दिशामें स्थित मनोरम उद्यानमें चले गये। वे छहों श्रेष्ठीपुत्र हिसाव आदि करनेमें व्यग्र हो जानेसे "अभी जाते हैं, अभी जाते हैं" सोचते हुए सन्ध्या समय तक दुकानसे बाहर न जा सके।

सूर्य अस्त हो गया और ज्यों ही वे वेगसे बाहर जाते समय— मानों उनके जीनेकी आशाके साथ ही नगरद्वारके दानों पुर वद हो जानेसे उनके जीनेकी आशा भी जाती रही। अपने जीवनको बचानेके लिये कोई न देखे उस प्रकार लौट कर गृहके अंदर गुप्तभूमिमें जाकर छिप गये। धारिणी रानी भी श्रेष्ठ शृंगार धारण करके अतः-पुर तथा परिवार सहित रात्रिमें उस पुरुष रहित नगरमें घूमने लगी।

प्रातःकाल होने पर कमलको विकसित करनेवाला, टेसूके समान चमकते हुए रंगसे दिशा मंडलोंको रंजित करनेवाला जगत्के नेत्रसमान सूर्य उदय हुआ। उस समय राजाने पुरुषोंके नगरमें प्रविष्ट होनेसे पहले नगर रक्षकोंको आज्ञा दी—" इस शहरको भले भाति देख कर पता लगाओ कि कोई मेरी आज्ञा भंग करनेवाला व्यक्ति तो वहाँ नहीं है "?।

नगरको देखते हुए वे यमके दूत समान नगररक्षक उन छ श्रेष्ठि पुत्रोंके समीप आये तथा उनको पकड कर राजाके समक्ष ले गये। तव उस राजने क्रोधसे कुपित होते हुए यमराजाके समान भीषण भ्रकुटी सहित ललाटसे उन श्रेष्ठी पुत्रोंको वध करनेकी आज्ञा

प्रदान की। मुद्गरके आघात समान यह बात जब सेठके कानोंमें पड़ी तब वह एकदम निश्चल व शांत हो गया। उसकी बुद्धि भ्रांत हो गई तथा उसका मन पीडित हो ऊठा। हस्तीके समान बुडे मगरके करास्फालनसे उद्वेलित हुए समुद्रके मध्यमें स्थित टूटते हुए जहाजके मनुष्यों समान व किंकर्तव्यमूढ हो गया। क्षणभर तो वह दारुण कष्टका अनुभव करने लगा। कुछ देर पश्चात् कायर मनुष्यों समान धैर्यको धारण करके, नगरके मुख्य लोगोंकी सहायतासे उत्तम रत्नादि हाथमें ग्रहण करके राजाके सम्मुख विनति करनेके लिये उपस्थित हुआ। उसने प्रार्थना की कि–" हे महाराजा! किसी भी चित्तके दोषसे मेरे पुत्र नगरके बाहर निकलनेमें असमर्थ नहीं हुए परंतु उस प्रकारके हिसाव आदिमें व्यग्र हो जानेसे पहले नहीं निकल सके तथा सूर्यास्तके समय जब नगरके बाहर निकलने लगे तो वेगसे चलने पर भी दरवाजे बंध हो जानेके कारण वे बाहर नहीं जा सके। अतः उनका यह एक अपराध क्षमा कीजिए और मेरे प्रिय पुत्रोंको जीवनदान देनेकी कृपा किजिये।" इस प्रकार सेठके बारबार कहने पर भी राजा उनको छोडनेको उत्साहित नहीं हुआ। इसके क्रोधको शांत करनेके लिये एक पुत्रको छोडकर अन्य पुत्रोको छोडनेकी प्रार्थना की। राजाके न माननेसे क्रमशः दो, तीन तथा चार पुत्रोंकी अपेक्षा चार, तीन तथा दो पुत्रोंको मुक्त करनेकी प्रार्थना की। अंततः उसने पांच पुत्रोंको छोड कर ही ज्येष्ठ पुत्रको मुक्त करनेकी प्रार्थना की। तब समीपस्थ मंत्री, पुरोहित आदिनें भी मुक्त करनेकी अत्यंत प्रार्थना की तथा कुलका मूलोच्छेद

करनेसे महापाप होता है ऐसा कहने पर क्रोधके मन्द हो जानेसे राजाने सेठके ज्येष्ठ पुत्रको मुक्त कर दिया।

इस कथाका भावार्थ (उपनय) इस प्रकार है—

इस कथानमें आये हुए वसंतपुर नगर, राजा, श्रेष्ठी और छ पुत्रोंकी तरह क्रमशः यह संसार, श्रावक, गुरु तथा षट्जीवनिकाय हैं। जैसे वह सेठ शेष पुत्रोंकी उपेक्षा करके एक ही पुत्रको मुक्त करा पाता है और पुत्रोंके वधकी अनुमति नहीं देता, उसी प्रकार गुरु भी अपने पुत्र सम षट्जीवनिकायरूप गृहस्थको साधु धर्म देकर श्रावकसे जो उनका वध करना चाहता है-मुक्त कराना चाहते हैं और उसके वर्तमानमें मुक्त करनेकी इच्छाके न होनेसे ज्येष्ठ पुत्र सम त्रसकायको शेषकी उपेक्षा करके भी मुक्त कराते हैं, तो गुरुको शेष कायके वधका अनुमति दोष नहीं है। अर्थात् श्रावकको विशेष गृहस्थ धर्म अंगीकार करानेमें जो पाप व्यापार अंश श्रावक करता है उसका अनुमोदन दोष गुरुको नहीं होता।

विधिसे अणुव्रतादि ग्रहण करनेका पहले कहा है, वह विधि कहते हैं—

योगवन्दननिमित्तदिगाकारशुद्धि-विधिरिति ॥१४॥ (१४७)

मूलार्थ-योगशुद्धि, वन्दनशुद्धि, निमित्तशुद्धि, दिक्शुद्धि और आगारशुद्धि-ये अणुव्रतादिकी प्राप्तिमें विधि हैं ॥१४॥

विवेचन-यहां मूलमें शुद्धि शब्द आया है, वह सबके साथ

लगता है, अतः पूर्वोक्त अर्थ हुआ। योग तीन प्रकारके हैं–काययोग, मनयोग, वचनयोग–तीनोंके कामकी शुद्धिको योगशुद्धि कहते हैं। उपयोगसहित जाना–आना–कायशुद्धि, निर्दोष भाषण–वचनशुद्धि और शुभ चिन्तन–मनशुद्धि–इन तीनोंकी शुद्धिसे योगशुद्धि होती है। अस्खलित व बिना मिले हुए प्रणिपातादि तथा दंडकसूत्रके शुद्ध उच्चार और भ्रांतिरहित कायोत्सर्ग करना–वन्दनशुद्धि है। तत्काल उत्पन्न शख, पणव (नौबत) आदि शुभ वाजित्रका नाद श्रवण करना, पूर्णकुम्भ, छत्र, ध्वज, चामर आदिको देखना, शुभ गन्धको सूंघना आदि निमित्तशुद्धि कहलाती है। पूर्वदिशा, उत्तरदिशा और जिस दिशामे जिनेश्वर या जिन चैत्य हों उस दिशाका आश्रय लेना–दिशाशुद्धि है। राजा आदिके अभियोगसे पच्चक्खाणमे अपवाद रखनेको आगार शुद्धि कहते हैं।

तथा–उचितोपचारश्चेति ॥१५॥ (१४८)

मूलार्थ–और देवगुरु आदिकी उचित सेवा करना ॥१५॥

विवेचन–देव, गुरु, स्वधर्मी बंधु, स्वजन, दीन अनाथ आदिकी यथायोग्य सेवा करना चाहिये अर्थात् जो जिसको योग्य हो वैसी सेवा करनी चाहिये। धूप, पुष्प, वस्त्र, विलेपन, आसन आदि देकर उनका गौरव बढाना–विनय करना यह सेवा भी विधिमें आ जाती है। अब क्रमशः अणुव्रतादिका वर्णन करते हैं—

स्थूलप्राणातिपातादिभ्यो विरतिरणुव्रतानि पञ्चेति ॥१६॥ (१४९)

मूलार्थ—स्थूल हिंसा आदि पांच अव्रतसे निवृत्त होनेको पांच अणुव्रत कहते हैं ॥१६॥

विवेचन—१. यहां प्राणातिपातका अर्थ प्रमादसे प्राणीका नाश करनेको हिंसा कहा है। वह दो प्रकारकी है—स्थूल तथा सूक्ष्म। पृथ्वी, पानी, तेज, वायु तथा वनस्पति—पंच स्थावरकाय सूक्ष्म हैं तथा बेइंद्रिय आदि त्रसकाय स्थूल है, जो दृष्टिगोचर भी हो सकते हैं ऐसे स्थूल प्राणीओंकी हिंसा स्थूल है। इसी प्रकार—

२. स्थूल मृषावाद—दिखता हुआ या ज्ञात झूठ।

३. स्थूल अदत्तादान—जान बूझ कर चोरी करना।

४. स्थूल अब्रह्मचर्य (मैथुन)—स्वस्त्रीको छोड कर अन्य मैथुन, परस्त्री, पर पुरुष, पशु, नपुंसक अथवा अप्राकृतिक मैथुन।

५. स्थूल परिग्रह—नियमित परिग्रहसे अधिक रखनेको कहते है। इन पांचोंका त्याग, इनका न करना, स्थूल प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन व परिग्रह विरमण व्रत कहलाते हैं। वे प्रायः प्रसिद्ध हैं। इन पांचों स्थूल प्राणातिपात आदि महापातकोंसे विरति या इनका त्याग स्थूल प्राणातिपातादि विरमण व्रत कहलाते हैं। ये पाचों अणुव्रत कहलाते हैं, कारण कि साधुके व्रतसे वे छोटे व्रत हैं। साधुके नियम महाव्रत हैं तथा श्रावकके अणुव्रत। इन पांचोंका त्याग स्थूल प्राणातिपात आदि पांच अणुव्रत कहलाते हैं।

तथा—दिग्व्रतभोगोपभोगमानानर्थदण्डविरतयस्त्रीणि गुणव्रतानीति ॥१७॥ (१५०)

मूलार्थ-और दिग्परिमाण व्रत, भोगोपभोगका प्रमाण तथा अनर्थदंड विरमण-ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं ॥१७॥

विवेचन-शास्त्रोमें दिशाओंका अनेक प्रकारका वर्णन है। जिस दिशामें सूर्योदय होता है वह पूर्व दिशा है। अन्य पश्चिम, दक्षिण, उत्तर आदि आठ दिशाये तथा ऊपर व नीचे इस प्रकार दस दिशाओंमें गमनागमन-जानेका परिमाण कर लेना, इस नियमको दिग्व्रत या **दिग्परिमाण व्रत** कहते हैं।

भोजन आदि जो एकबारमें समाप्त हो जाता है-भोग कहलाते हैं। वस्त्र, स्त्री आदि जो बार बार भोगे जाते हैं-वे उपभोग कहलाते हैं। इन भोग तथा उपभोगकी वस्तुओंका परिमाण करना-उनका नियम करना-**भोगोपभोग परिमाण व्रत** कहलाता है।

प्रयोजनके लिये धर्म, स्वजन तथा इंद्रिय आदिके शुद्ध उपकारके लिये अनुष्ठान अर्थदंड कहलाते हैं, इनके विरुद्ध कर्मको अनर्थ-दण्ड कहते हैं। वह अनर्थदंड चार प्रकारसे होता है-१ अपध्याना-चरित-बुरा चिंतन व ध्यानसे, २ प्रमादाचरित-प्रमाद करनेसे, ३ हिंसाप्रदान-हथियार आदि हिंसाके साधन देनेसे, तथा ४ पाप-कर्मोपदेश-पाप कर्मका उपदेश करनेसे-चार प्रकारका अनर्थदंड होता है। इस अनर्थदंडको नहीं करना, इसका त्याग करना-**अनर्थदंड विरमण व्रत** कहलाता है।

ये तीनों गुणव्रत कहलाते हैं, गुण या उपकारके लिये ये तीनों व्रत होनेसे दिक्परिमाण, भोगोपभोग परिमाण तथा अनर्थदंड

विरमण-गुणव्रत कहे जाते हैं। कारण कि गुणव्रत सिवाय अणुव्रतकी शुद्धि नहीं होती।

तथा-सामायिकदेशावकाशिकपौषधोपवासातिथिसंविभागश्चत्वारि शिक्षापदानीति ॥१८॥ (१५१)

मूलार्थ-सामायिक, देशावकाशिक, पौषध और अतिथिसंविभाग-ये चार शिक्षाव्रत हैं ॥१८॥

विवेचन-सम+आय=समाय, मोक्षके साधनके प्रति समान शक्तिवाले सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी आय या लाभ-समाय है। राग-द्वेषके बीचमें-दोनोंके न रहनेसे उत्पन्न समभावसे या मध्यस्थतासे सम्यग्दर्शनादिका लाभ अथवा सर्व जीवोंके साथ मैत्रीभावके लक्षणका लाभ होना अर्थात् मैत्रीभावको प्राप्त होना समाय है। इसमें तीनों प्रकारके अर्थवाले शब्दोंमें इक प्रत्यय लगानेसे सामायिक शब्द बनता है, जिससे सर्व सावद्य योगका त्याग और निरवद्य योगके अनुष्ठानरूप जीवके परिणामको-**सामायिक** कहते हैं।

देश+अवकाश=देशावकाश, देश अर्थात् कुछ अंशमें पहलेसे ही ग्रहण किया हुआ दिशाव्रत-जैसे शत योजन आदिका परिमाणसे अवकाश अर्थात् "आज इतने योजन तक जाना इसका नित्य पच्चक्खाण करना"-उसे **देशावकाशिक व्रत** कहते हैं।

पोष+ध=पोषध, पोष अर्थात् गुणकी पुष्टिको धारण करनेवाला **पौषध** कहलाता है।

अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व दिवसोंमें दोषनिवृत्तिके साथ

आहारत्याग आदि गुणों सहित निवास करना उपवास कहलाता है। कहा है—

"उपावृत्तस्य दोषेभ्यः, सम्यग्वासो गुणैः सह।
उपवासः स विज्ञेयो, न शरीरविशोषणम्" ॥१०३॥

—दोषसे निवृत्त होकर गुणो सहित सम्यक् प्रकारसे रहना—उपवास कहलाता है, गुण बिना शरीर शोषण उपवास नहीं है। इस तरह पौषध सहित उपवास करनेको पौषधोपवास व्रत कहते है।

अतिथये विभजनम्—अतिथिसंविभागः—श्रीवीतरागके धर्मका पालन करनेवाले साधु, साध्वी, श्रावक या श्राविका—ये अतिथि कहलाते हैं। इनको न्यायोपार्जित व कल्पनीय अन्नपानादिका विभाजन करके योग्य-उचित रीतिसे अर्पण करनेको **अतिथिसंविभाग** कहते हैं।

उमास्वाति वाचकद्वारा रचित 'श्रावकप्रज्ञप्तिसूत्र'में भी इस प्रकार कहा है कि—"अतिथिसंविभाग व्रत उसे कहते हैं कि अतिथि अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविकाको घर पर लाकर या इनके आने पर भक्तिसे उठना, आसन देना, पैर धोना, नमस्कार करना आदि रीतिसे सेवा करके अपनी समृद्धिकी शक्तिके अनुसार अन्न, पान, वस्त्र, औषध, स्थान आदि देकर संविभाग करना"।

ये चारों—सामायिक, देशावगासिक, पौषधोपवास और अतिथि-संविभाग—शिक्षाव्रत कहलाते है।

ततश्च एतदारोपणं दानं यथार्हं साकल्यवैकल्या-भ्यामिति ॥१९॥ (१५२)

मूलार्थ—जिस प्रकार योग्य हो, सकलता या विकलतासे

धर्म योग्य प्राणीको इन व्रतोंका आरोपण या व्रतदान करना चाहिये ॥१९॥

विवेचन—धर्मके योग्य प्राणीको जिसका लक्षण कह चुके हैं ये अणुव्रत आदि व्रतोंको पूर्वोक्त विधिके अनुसार (श्रावकको) ग्रहण कराना चाहिये, इसे व्रतदान कहते हैं। ये दो प्रकारसे होता है—सकलतासे तथा विकलतासे। सकलतासे अर्थात् सर्व अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतोंके दानको सकलतासे व्रतदान कहते हैं और आदिमें किसी एक दो या ज्यादा व्रतोंका ग्रहण कराना विकलतासे व्रतदान होता है।

इन समकित मूलवाले अणुव्रत आदि अंगीकार करानेके बाद जो करना उचित है वह इस प्रकार है—

गृहीतेष्वनतिचारपालनमिति ॥२०॥ (१५३)

मूलार्थ—ग्रहण करनेके बाद अनतिचार पालन करना या अतिचार नहीं लगने देना चाहिये ॥२०॥

विवेचन—गृहीतेषु—सम्यग्दर्शन आदि गुणोंका ग्रहण करके **अनतिचारपालनं**—निरतिचार पालन करना—अतिचार, विराधना या देशभंग एक ही है अर्थात् व्रतका अंशतः भंग। अतिचारका न होना अनतिचार है। उसका पालन या धारण करना **अनतिचार पालन** है।

सम्यग्दर्शन आदि गुण तथा अणुव्रत आदिके ग्रहण करने पर उन व्रतोंका आंशिक खंडन भी न होने देना चाहिये। जिस प्रकार बुरी हवासे शस्य—धान अपना फल पूर्ण रूपसे नहीं दे सकते उसी प्रकार अतिचार दोषसे व्रत भी अपना फल देनेमें असमर्थ हो जाते हैं अतः निरतिचारपालन आवश्यक है।

अब अतिचार कहते हैं—

शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचारा इति ॥२१॥ (१५४)

मूलार्थ—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दर्शनकी प्रशंसा व परिचय करना—ये छ सम्यग्दृष्टिके अतिचार है ॥२१॥

विवेचन—यहा शंका, काक्षा तथा विचिकित्साके लक्षण व व्याख्या "ज्ञानाद्याचारकथनमिति ॥११॥ (६९)" सूत्रमें कहे जा चुके हैं।

जैनधर्म या वीतराग प्रणीत धर्ममें शंका करना **शंका** है। दिगबर आदि किसी भी अन्य दर्शनके अंगीकार करनेकी आकांक्षा करना **कांक्षा** है। तथा बुद्धिभ्रम—फलप्राप्तिमें शंका आदिको **विचिकित्सा** कहते हैं। अन्यदृष्टि अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत दर्शनसे भिन्न शाक्य (बुद्ध), कपिल, कणाद, अक्षपाद आदि द्वारा प्रणीत शास्त्रो व उनके अनुसार चलनेवाले लोगोकी प्रशंसा करना उनका परिचय करना—ये दो अतिचार हैं। जैसे यह पुण्यवंत है, इनका जन्म उत्तम है, ये दयालु हैं-आदि शब्द कहना—**प्रशंसा** करना है। संस्तव अर्थात् सहवास सहित परिचय—जो वस्त्र, भोजन, दान, आलाप आदि लक्षणोवाला है—करना **संस्तव** अतिचार है।

ये पांचों अतिचार सम्यग्दृष्टिके है। ये सब अतिचार सम्यग्दर्शनकी विराधनाके प्रकार हैं, कारण कि इससे शुद्ध तत्त्वश्रद्धामें बाधा उत्पन्न होती है।

तथा-व्रतशीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रममिति ॥२२॥ (१५५)

मूलार्थ-अणुव्रत और शील व्रतके प्रत्येकके पांच पांच अतिचार हैं। ॥२२॥

विवेचन-व्रतेषु-अणुव्रतोंमें, शीलेषु- शीलव्रत अर्थात् गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत-सबमें, यथाक्रमम्-अनुक्रमसे।

श्रावकके सभी बार व्रतोंमें जिसमें ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत तथा ४ शिक्षाव्रत हैं, प्रत्येकमें पांच पाच अतिचार होते हैं।

उसमें पहले अणुव्रतके अतिचार—

बन्धवधच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधा इति ॥२३॥ (१५६)

मूलार्थ-बन्ध, वध, चर्म या अंगछेदन, अतिभार रखना तथा अन्नपानको रोकना-ये पांच प्रथम व्रतके अतिचार हैं॥२३॥

विवेचन-स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत नामक पहले अणुव्रतके बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार आरोपण तथा अन्नपान निरोध-ये पांच अतिचार हैं। बंधका अर्थ रस्सी आदिसे बांधकर संयम करना या रोकना। वधका अर्थ चाबुक आदिसे मारना। छवि + छेदः=छविच्छेद अर्थात् चर्म या अंगका भेदन या तलवार, छुरी आदिसे काटना। अतिभारारोपणका अर्थ बैल आदिके पृष्ठ पर सुपारी आदि किसी भी पदार्थका बहुत ज्यादा बोझा लादना या मनुष्यके ऊपर भी बहुत सामान देना अथवा गाडी आदिमें पशुके सामर्थ्यसे अधिक भार लादना है। अन्नपान निरोधका अर्थ है भोजन,

जल आदि वस्तुओंका रोकना, उनको बंध कर देना अथवा अपेक्षाकृत कम मात्रामें देना है।

ये सब अतिचार क्रोध, लोभ आदि कषायसे जिसका अंतःकरण कलंकित हो और जो प्राणीओंको अकारण ही मारता है या कष्ट देता है उसे लगते है। जो निरपेक्ष होकर ऐसा करे उसे अतिचार लगते हैं। जो सापेक्ष बंध आदि करे तो उसे अतिचार नहीं लगते। उसकी विधि 'आवश्यकचूर्णि' आदिसे उद्धृत करके यहां लिखते हैं—

बंध द्विपद व चतुष्पद (मानव तथा पशु) दोनोंका होता है। वह दो प्रकारका है—अर्थसे तथा अनर्थसे। जो अनर्थ या निरर्थक वध, वह करना योग्य नहीं। सार्थक बंधके दो भेद हैं—सापेक्ष और निरपेक्ष। जो पूर्णतया निश्चल प्रकारसे बांधा जाय वह निरपेक्ष। जो बंध-रस्सीकी गांठ आदिसे बांधा जावे और अग्नि आदिके प्रकोपके समय छोडा जा सके या काटा जा सके वह सापेक्ष बंध है। पशुके इस प्रकार बंधके अलावा मानवका बंध इस प्रकार है-दास, दासी, चोर अथवा प्रमादी पुत्रको यदि वह हिलडुल सके और उनका रक्षण हो सके, अग्नि आदिके भयसे नष्ट न हो। इनको सापेक्ष या सार्थक बंध कहते है, जो किया जा सकता है। पर श्रावकको ऐसे ही द्विपद व चतुष्पदोंका सग्रह करना चाहिये, जो बिना बांधे भी रह सके ॥१॥

वध भी उसी तरह है। निर्दय रीतिसे मारना जो निरपेक्ष वध है, सर्वथा त्याज्य है। वहा वधका अर्थ प्राणहानि नहीं, ताडना या

पीटना है, अर्थात् निरर्थक तथा निरपेक्षरीतिसे त्याज्य है। सार्थक और सापेक्षका वर्णन यहां दिया जाता है। प्रथम तो श्रावक इस प्रकार रहे कि सर्व जन उससे मानते रहे। यदि कोई विनय न करे तो उसके मर्मस्थलको छोड कर हाथ, पैर अथवा रस्सी या लकडीसे एक या दो वार ताडन करना चाहिये ॥२॥

छविच्छेद भी उसी प्रकार समझना। हाथ, पैर, कान, नाक आदिका काटना त्याज्य है, जो निर्दयतासे व निरपेक्ष हो। सापेक्ष व सार्थक, गण्ड, व्रणसंधिका छेदन अथवा डाम (जलाना–किसी अंगको ठीक करनेके लिये) देना है ॥३॥

अतिभारका आरोपण करना ही नहीं चाहिये। पहले तो श्रावक द्विपद आदि वाहनसे होनेवाली आजीविका छोड दे। यदि कोई अन्य आजीविका न मिल सके तो वह व्यक्ति जितना बोझा स्वयं उठा सके या नीचे रख सके उतना ही उसे देना चाहिये। चतुष्पद आदिको जितना योग्य हो उससे कुछ कम–भार लादना चाहिये और हल, बैलगाडी आदिको उचित समय पर छोड देना चाहिये ॥४॥

किसी भी प्राणीका भोजन और पानका विच्छेद नहीं करना चाहिये। अन्यथा तीव्र क्षुधावाला मृत्युको प्राप्त हो जाता है। इसका विच्छेद भी बंधके दृष्टांतकी तरह सार्थक व निरर्थक समझ लेना चाहिये। सापेक्ष निरोध रोगचिकित्सा आदिके लिये हो सकता है। अपराध करनेवालेको वचनसे ही कहना बहुत है पर द्रव्यसे निरोध करना न चाहिये। रोग–शांति आदि निमित्तसे उपवास भी कराया जा सकता है ॥५॥

अधिक क्या लिखा जावे ? जिस प्रकारसे मूलगुण प्राणातिपात विरमण व्रतको कोई अतिचार न लगे उस प्रकार सर्वत्र यत्नसे कार्य करना चाहिये।

शंका—व्रत अंगीकार करनेवालेने प्राणातिपात (हिंसा)का व्रत लिया है उसमें वंध आदि करनेसे कोई दोष नहीं, क्योंकि उससे व्रतभंग नहीं होता। यदि वंधादिका पच्चक्खाण लिया हो तो वंध आदि करनेसे व्रतभंग होता है, जिससे विरतिका खंडन होता है। प्रत्येक व्रतमें पांच पांच अतिचार होनेसे वह व्रतमें अधिकता हो जाती है अतः वध आदिको अतिचार नहीं गिनना चाहिये।

समाधान—यह सत्य है कि प्राणातिपातका व्रत लिया है, वंध आदिका नहीं। परन्तु प्राणातिपातका व्रत लेनेसे अर्थतः वध आदिका भी व्रत हो जाता है ऐसा समझो, क्योंकि वध आदि प्राणातिपातके उपाय है। वध आदि करनेसे व्रतभंग नहीं होता किन्तु अतिचार ही लगता है। देशसे व्रतभंग होना अतिचार कहलाता है। व्रत अंतर्वृत्ति तथा बहिर्वृत्तिसे दो प्रकारका है। 'मैं मारता हूं' ऐसा विकल्प या विचार न करके कोप आदिके आवेशसे अन्यके प्राण जानेका न सोचकर वंध आदिकी जो प्रवृत्ति करता है उससे प्राण-नाश नहीं होता, अतः दयारहित होनेसे विरतिकी अपेक्षा विना जो प्रवृत्ति की है वह अन्तर्वृत्तिसे व्रतभंग है और प्राणघातके अभावसे बहिर्वृत्तिसे व्रतका पालन हुआ है या भंग नहीं हुआ। व्रतका देशसे भंग तथा देशसे पालन अतिचारके नामसे पहचाना जाता है। कहा है कि—

"न मारयामीति कृतव्रतस्य, विनैव मृत्युं क इहातिचारः ? ।
निगद्यते यः कुपितो वधादीन्, करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्षः ॥१०४॥

"मृत्योरभावान्नियमोऽस्ति तस्य, कोपाद् दयाहीनतया तु भङ्गः ।
देशस्य भङ्गादनुपालनाच्च, पूज्या अतीचारमुदाहरन्ति" ॥१०५॥

—"मैं प्राणीको न मारुं" ऐसा व्रत करनेवाले व्यक्तिको मृत्यु विना अतिचार कहासे होता है ? अर्थात् नहीं । इसका उत्तर यह है कि जो कोप आदिसे वध आदि करता है और नियमकी अपेक्षा नहीं करता वह अतिचार है ।

मृत्युके अभावसे उसका नियम रहता है, कोप तथा हृदयहीनतासे व्रतभंग होता है या अंतर्वृत्तिसे नियम भंग होता है । अतः देशसे भंग तथा देशसे पालन पूज्य पुरुषोंद्वारा अतिचार कहा गया है ।

"ये व्रतसे अधिक हैं" ऐसा जो कहा व अयुक्त है । विशुद्ध हिंसासे जो विरति है उसमें बंध आदि आ जाते हैं (अर्थात् उनका निषेध है) अत ये बंध आदि अतिचार हैं । बंध आदिके कहनेसे तथा उसके लक्षणसे समान ऐसे मंत्र-तंत्र आदिके प्रयोग भी अतिचार ही गिने जाते हैं ॥

अव मृषावाद विरमण नामक दूसरे व्रतका अतिचार कहते हैं—

मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारस्वदारमन्त्रभेदा इति ॥२४॥ (१५७)

मूलार्थ—इसके पांच अतिचार ये हैं—१ मिथ्या उपदेश, २ रहस्यकथन, ३ झूठे दस्तावेज या साक्षी, ४ अमानतका

दुरुपयोग और ५ स्त्री आदिके साथ हुई गुप्त बात प्रगट करना ॥२४॥

विवेचन–१. मिथ्योपदेश–असत्य बात संबंधी उपदेश–यह ऐसा है, ऐसा ही 'बोलो' इत्यादि असत्य कहनेको सिखाना। सत्य जानने पर भी असत्य कहना या कहलाना।

२. रहस्याभ्याख्यान–'रह' अर्थात् एकान्त, वहा हुआ 'रहस्य'–रहस्यका कथन, जैसे किसीको एकांतमें बातचीत करते हुए देखकर इस प्रकार कहना कि "ये लोग राजा आदिके विरुद्ध इस प्रकार सलाह कर रहे है" या ऐसा विचार करते है आदि कहना। या किसी अन्यका ज्ञात हुआ रहस्य किसी दूसरे पर प्रकट करना।

३. कूटलेखक्रिया–असत्य अर्थ दर्शानेवाले अक्षरोको लिखना।

४. न्यासापहार–न्यास+उपहार–किसी अन्यके यहां रखे हुए रूपये आदिकी रखी हुई अमानतका समय पर न देना, गायब कर देना या स्वय उपयोग कर लेना।

५. स्वदारमन्त्रभेद–स्वदारा–अपनी स्त्रीके गुप्त भाषणका भेद बाहर प्रकाशमें लाना। यहां स्वदारामें मित्र तथा हितैषी और विश्वास करनेवाले मित्र भी आ जाते हैं उनका रहस्य कहना।

मिथ्या उपदेशमें 'दूसरेके पास झूठ न बुलाना' इस व्रतका भंग करता है। 'झूठ नहीं बोलूंगा' इस व्रतका खंडन नहीं होता। तो भी सहसात्कार और अनाभोगसे अतिक्रम, व्यतिक्रम अथवा अतिचारसे अन्य व्यक्तिद्वारा झूठमें प्रवृत्ति कराना इस व्रतका अतिचार

है। यद्यपि वह अपने व्रतकी रक्षाके लिये स्वयं झूठ न बोलने पर दूसरेके द्वारा झूठ बुलवाये या परवृत्तांत कहलानेसे मिथ्या उपदेश करे वह अतिचार है। वह अपने व्रतका रक्षण करनेके लिये न बोले पर अन्यको मृषावादका उपदेश करे या उसे उसमें प्रवृत्ति करावे तो वह भंग हुआ तथा न हुआ–दोनो होनेसे व्रतका अतिचार है जैसे, "देशाद् भङ्ग अनुपालनाच्च" देशसे भंग तथा देशसे पालन–या वहिर्वृत्तिसे पालन, अंतर्वृत्तिसे भंग–यह अतिचार हुआ।

रहस्याभ्याख्यानमें असत् दोष दिया जाता है या झूठी बातको कहा जाता है अतः निश्चय व्रतभंग ही है, अतिचार नहीं।

यह शंका सत्य है पर जब दूसरेको हानि करनेवाला वाक्य अनजानमें कहा जाय तो उसमें संक्लेश (कष्ट देनेका) भाव न होनेसे व्रतभंग नहीं होता परंतु दूसरेको हानि होती है अतः भंग भी है। इस तरहसे भंग, अभंग होनेसे अतिचार ही होता है। पर यदि तीव्र संक्लेश (कष्ट पहुंचानेकी इच्छा से कहे तो व्रतभंग ही है क्योंकि वहां व्रतकी अपेक्षा नहीं रही। कहा है कि––

"सहसऽभक्खाणाई, जाणंतो जइ करेइ तो भगो।
जइ पुणणाभोगाईहिंतो तो होइ अइयारो" ॥१०६॥

—यदि जान बूझ कर सहसात्कार करे तो व्रतका भंग होता है पर अनजाने कह देनेसे अतिचार ही होता है॥

किसीके प्रति बुरा विचार प्रगट करना अनुचित है। किसीको बात करते देख कर ऐसी बात करते हैं, ऐसा निश्चय करना तथा दूसरों पर प्रकट करनेसे बिलकुल झूठी बात बहुत फैल जाती है

और अनिष्टका दोष पहले कहनेवाले पर आता है, अतः असत्य दोषको कहना नहीं चहिये।

कूटलेखक्रियामे 'कायासे मृषावाद नहीं करुं' अथवा 'न करुं, न कराऊं' व्रतका भंग ही होता है। 'झूठ नहीं बोलूंगा' इस व्रतका किंचित् भी भंग नहीं हुआ। तथापि सहसात्कार आदिसे या अतिक्रम आदिसे अतिचार होता है। 'मैंने मृषावाद अर्थात् असत्य बोलनेका व्रत नहीं लिया' ऐसी मोटी बुद्धिवाले पुरुषको व्रतकी अपेक्षा है, अत व्रतभंग होने पर भी भग होता है अतः अतिचार है।

यद्यपि असत्य लेखसे द्रव्यरूपसे लाभ हो जाता है पर भाव-रूपसे आत्मद्रव्यकी कितनी अधिक हानि हो जाती है? न्याय-वृत्तिका आत्मगुण नष्टप्राय हो जाता है। असत्य लेखसे दूसरे व्यक्तिके द्रव्यप्राण और भावप्राणका नाश होता है, अत हिंसा होती है। उसकी चिंता, द्वेषके कारण स्वयं बनते है। कोर्टमें असत्य साक्षी भी इसीमे आ जाता है।

कोई मनुष्य अपना धन अनामत या व्याजसे रखे और वापस मांगे तब उसे न दिया जाय तो **न्यासापहार**—अनामतका गायब करना है। इसमें अदत्तादान तो प्रत्यक्ष हो जाता है। कूटलेखकी तरह इससे भी द्रव्यप्राण तथा भावप्राणके नष्ट करनेसे हिंसा भी होती है। "तुम्हारी अनामत या रकम हमारे पास नहीं है" यह मृषावाद हुआ। जब ऐसा विना सोचे कहा जाय तब अतिचार होता है। जान बूझ कर बोला हुआ असत्य तो व्रतभंग ही है।

स्वदारमंत्रभेद-अपनी स्त्री या मित्रके गुप्त विचार बाहर प्रगट करना। यदि सत्य बात जो हुई है वही कही जाय तो असत्य न होनेसे व्रतभंग नहीं होता पर सहसात्कारसे ऐसी गुप्त बातके प्रगट हो जानेसे लज्जा आवे अथवा आत्महत्या करे तो उसका कारण बात करनेवाला है, अतः परमार्थसे वह असत्य हो जाती है, जिससे कुछ व्रतभंग होनेसे अतिचार कहा है, व्रतभंग नहीं। विना हुई गुप्त बात कहनेसे तो व्रतभंग होता है।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीना-धिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहारा इति॥२५॥(१५८)

मूलार्थ-अदत्तादान व्रतके पांच अतिचार ये हैं-१ स्तेन-प्रयोग-चोरको मदद करना, २ चुराई हुई वस्तुका संग्रह, ३ शत्रु देशमें प्रवेश, ४ न्यूनाधिक तोल नाप रखना तथा ५ मिलावट अथवा समान दिखानेवाली हलकी व कीमती वस्तुका आपसी बदलना॥२५॥

विवेचन-१. **स्तेनप्रयोग**-स्तेन या चोरको मदद या सहायता करना, 'इस स्थानसे अथवा इस प्रकार चोरी करो' जो एक प्रकारकी अनुमति है।

२. **तदाहृतादान**-चोर द्वारा चुराई हुई वस्तुओंका संग्रह जो लोभवश कम कीमतमें खरीदना अथवा लेके चुपकीसे रखना।

३. **विरुद्धराज्यातिक्रम**-अपने राजा या राष्ट्रके प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रमें अपने राज्यकी सीमाका उल्लंघन करके प्रवेश करना।

४. हीनाधिकमानोन्मान—स्वभाव अथवा वस्तुतः नाप या तौलसे कम अथवा अधिक नाप और तौलकी वस्तुएं—सेर आदि तोले या भरनेके नापको जितना चाहिये उससे कम अथवा अधिक लिया जावे।

५. प्रतिरूपकव्यवहार—शुद्ध व्रीहि या घृत देनेके स्थान पर उसके सदृश दिखनेवाले पदार्थ अथवा मिलावटसे देना—उसका विक्रय करना—अधिककी कीमत लेकर कम देना या अच्छा नमूना बताकर हल्की वस्तु देना। प्रतिरूपक—समानरूपवालीका व्यवहार—व्यापार।

यहां स्तेनप्रयोगमे यद्यपि 'चोरीं नहीं करूगा, न कराऊंगा' ऐसे व्रतका भग होता है पर स्वत चोरीका त्याग करनेवाला दूसरेको प्रेरणा देता है वह अतिचार ही है। जैसे 'आजकाल निरुद्यमी क्यो हो? यदि खाने पीनेको न हो तो मै देता हू, यदि तुम्हारे चोरीके मालको बेचनेवाला न हो, तो मै बेच दूं' आदि वचनोंसे चोरोको उत्तेजन देना तथा अपनी कल्पनासे चोरीका त्याग करना, व्रतकी सापेक्षताके कारण अतिचार है।

चोरोद्वारा चुराई हुई वस्तुओंको लोभसे चुपकीसे लेनेवाला पुरुष भी चोर ही है। कहा है कि—

"चोरश्चोरापको मन्त्री, भेदज्ञः काणकक्रयी।
अन्नदः स्थानदश्चैव, चौरः सप्तविधः स्मृतः ॥१०७॥

—चोर, चोरी करानेवाला, चोरीकी व्यवस्था करनेवाला, चोरकी गुप्त बात जाननेवाला या जानकर सहायता करनेवाला,

चोरीकी वस्तु लेनेवाला या बेचनेवाला, चोरको अन्न देनेवाला और स्थान देनेवाला ये सात प्रकारके चोर कहे गये हैं।

चोरी करनेसे व्रतभंग होता है। मैं चोरी नहीं करूंगा पर मुझे व्यापार करना है (चाहे कैसा ही हो) ऐसा ध्यान करके व्रत ग्रहण करनेवालेको व्रतभंग नहीं होता। पर देशसे पालन तथा देशसे भंग—जो कि लोभके कारण चोरी हुई वस्तु लेनेसे होता है—के कारण अतिचार है।

विरुद्ध राज्यातिक्रममें व्यापार वास्ते अथवा अन्य कारणसे अन्य राज्यमें आज्ञा बिना चोरीसे जाना विरुद्धराज्यातिक्रम है। ऐसे व्यक्तिको राज्यद्वारा दंड भी होता है, यह चोरीके समान है।

"सामी जीवादत्तं तित्थयरेणं तहेव य गुरूहिं"—जो 'पक्खी-सूत्र'में कहा है उस योगसे भी स्वामीअदत्त होनेसे यह चोरी या व्रतभंग है। तथापि यदि केवल व्यापारके लिये हो तथा चोरी करनेकी इच्छा न हो, साथ ही 'यह चोर है' ऐसी बात न होनेसे यह देशभग होता है और देशसे पालन भी होता है, अतः यह अतिचार है।

न्यूनाधिक नाप, तौल रखना तथा प्रतिरूपक व्यवहार दूसरेको ठगनेके कारण तथा परद्रव्यके ग्रहणसे व्रतभंग ही है। केवल सेंध लगाना अथवा पराई वस्तु उठाना ही चोरी है पर न्यूनाधिक नाप, तौल और प्रतिरूपक व्यवहार यह वाणिज्य कलाएं हैं ऐसा मानकर व्रत लेनेवालेके लिये व्रतभंग नहीं, पर अतिचार है।

स्तेन प्रयोग आदि पांचों अतिचार वस्तुतः चोरी ही है अतः

व्रतभंग ही है। पर यदि केवल सहसात्कार आदिसे तथा अतिक्रम, व्यतिक्रमसे होनेवाले ये अतिचार कहे गये हैं।

ये अतिचार राज्य कर्मचारियोंको नहीं लगते ऐसा नहीं है, उन्हें भी लागू होते हैं। पहले दो स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान-चोरोंकी मदद व वस्तुसंग्रह—तो उनको स्पष्ट ही लागू पडते हैं अर्थात् वे भी ऐसा कर ही सकते है। यह काम वे शायद ज्यादा अच्छा कर सकते हैं क्योकि वे चोरोंको पकडनेका काम भी करते हैं। उत्तेजन देना, खासकर पुलिसके लिये, बहुत आसान है। मंत्री आदि अन्य नौकर भी अपने स्वामीका नमक खाने पर भी यदि शत्रु राष्ट्रकी सहायता करते हैं तो स्पष्टतः यह अतिचार लगता है। राज्य भंडारकी वस्तुएं लेने देनेमें अथवा राज्यके लिये आवश्यक सामग्रीके खरीदनेमें हल्की वस्तु लेकर अधिक कीमत वसूल करके जेबमें डाल देना या बीचमें दलाली व कमीशन खाना—ये सब चौथे व पांचवे अतिचारके भेद हैं। ये सब वस्तुतः व्रतभंग ही है कारण कि इससे चोरी ही होती है, पर यदि ऐसा ही व्रत ध्यानमें लिया हो तो अतिचार है।

अब स्वदार—संतोष व परदारविरमण नामक चतुर्थ अणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिलाषा इति ॥२६॥ (१५९)

मूलार्थ—दूसरोंके पुत्र या पुत्रीका विवाह करना, दूस-

रेकी रखेली स्त्री और वेश्याके साथ संभोग, अनंगक्रीडा तथा तीव्र काम अभिलाषा–ये पांच अतिचार हैं। ॥२६॥

विवेचन–परविवाहकरण–परेषां विवाहकरणम्–अपने पुत्र पुत्रीको छोडकर अन्य जनोंकी संततिका विवाह कराना। कन्या-दानके फलकी इच्छासे अथवा स्नेहसंबधसे दूसरे लोगोंका विवाह कराना अतिचार है। इसमें भी अपने संतानका लग्न करनेमें भी संख्याका नियम रखना न्याय्य है।

जो किसी प्रकारसे पैसे देकर कुछ समयके लिये भोगी जाय वह इत्वरी स्त्री रखेली या वेश्या है। ऐसी स्त्रीके साथ कामभोग भी अतिचार है। किसी एकने खास कर न रखी हो ऐसी वेश्या तथा कोई कुलीन या अनाथ स्त्री हो ऐसी सब स्त्रियां या इनमेंसे किसी एकके साथ कामभोग करना इत्वरपरिग्रहीता–अपरिगृहीतागमन नामक दो अतिचार होते हैं।

अनंग–अंगका अर्थ यहां देहके मैथुनका अवयव अर्थात् लिंग या योनि, इनको छोड कर अन्य अंग–कुच, कक्ष, उरू, वदन आदि सब अनंग हैं। इनसे क्रीडा करना या खेलना अनंगक्रीडा है। अनंगका दूसरा अर्थ काम है। कामक्रीडा या कामद्वारा क्रीडा भी **अनंगक्रीडा** है। अथवा तो कामांगके विना ही अन्य किसी प्रकारसे कामभोग करना भी अनंगक्रीडा है। अथवा तो पशुमैथुन और गुदा-मैथुन भी अनंगक्रीडामें आते हैं।

तीव्रकामाभिलाषा–कामभोग या मैथुन तथा शब्द और

रूपका काम तथा रस, गंध व स्पर्श ये भोग इन सबमे तीव्र अभिलाषा रखना, उसमें अत्यंत अध्यवसाय (हर घडी उसीमें ध्यान) रखना या निरंतर विषयसुख भोगनेके लिये वाजीकरण आदि उपचारसे कामोद्दीपन करना या हर समय विषयसुख व कामभोगकी इच्छा व लालसा करना।

इसमे दूसरा व तीसरा अतिचार स्वदारा संतोष व्रत रखनेवालेके लिये अतिचार है, परदारविरमणवाले व्रतीके लिये नहीं। दूसरे तीनों इन दोनोके लिये हैं। सूत्रमें कहा है—

"सदारसंतोसस्स इमे पंच अइयारा"—स्वदारा संतोषके लिये ये पांचों अतिचार हैं। इस प्रकार कहनेमें निम्नभावना है—

पैसे देकर अल्प कालके लिये रखी हुई स्त्री या वेश्या वह स्वस्त्री तरीके मान लेता है, अतः स्वदारा संतोषकी कल्पनाकी उसका व्रतभंग नहीं होता तथापि वस्तुतः वह थोडे समयके लिये है अतः उसकी स्वस्त्री नहीं है अतः व्रतभंग होता है। अतः भंग व अभंग होनेसे अतिचार हुआ। न रखी हुई ऐसी वेश्याके साथ गमन, अनाभोग आदि व अतिक्रम आदिसे अतिचार होता है। परदार विरमण व्रतवालेके ये दोनो अतिचार नहीं है। थोडे कालके लिये रखी हुई अथवा न रखी हुई दोनो वेश्या हैं। अनाथ कुलीन स्त्री भी अनाथ होनेसे तथा वेश्या ये परस्त्री नहीं है।

वस्तुतः रीतिसे तो ये दोनों स्वदारा संतोषीके लिये व्रतभंग ही है, कारण कि स्व खुदकी व्याही हुई स्त्रीको छोड कर किसीके भी

साथ भोग करना व्रतभंग है। परदार विरमण व्रतीके लिये ये अतिचार है कारण कि पर अर्थात् अपनी विवाहितासे जुदी चाहे कोई स्त्री हो वह पर है, अतः स्वदाराको छोड कर किसीके साथ भी भोग करनेसे भंग होता है तथा कहनेको नहीं भी होता, अतः अतिचार है।

कुछ आचार्योके मतसे **इत्वरपरिगृहीतागमन** स्वदार संतोषीके लिये अतिचार है, जिसमें भावना पूर्ववत् है और **अपरिगृहीतागमन** परदार विरमण व्रतीके लिये अतिचार है, जिसकी भावना इस प्रकार है- **अपरिगृहीता**- वेश्यामें यदि उसने किसी अन्यसे पैसे ग्रहण किये हैं तो उसके साथ सभोग करनेसे परस्त्री हो जानेसे दोष आता है। साथ ही वेश्या होनेसे व्रतभंग नहीं होता है, अतः भंग व अभंगसे अतिचार हुआ।

पुनः दूसरे आचार्य इस प्रकार कहते हैं—

"परदारवज्जिणो पंच, होंति तिन्नि उ सदारसंतुट्ठे।
इत्थीए तिन्नि पंच व, भंगविगप्पेहिं नायव्वा" ॥१०८॥

—परस्त्री विरमण व्रतीको पांच तथा स्वदार संतोषीको तीन अतिचार होते हैं। स्त्रीको भी इसी प्रकार भंगके विकल्पसे तीन और पांच अतिचार होते हैं—

दूसरेने थोडे समयके लिये जिसे रखा हो ऐसी वेश्याके साथ गमन करनेसे परस्त्री विरमण व्रतीको अतिचार होता है क्योंकि वह कुछ तो 'परस्त्री'के नामसे प्रख्यात है। अतः व्रतभंग हुआ और कामुककी कल्पनासे और उसके भर्तारके अभावसे वह परस्त्री नहीं

है। इस तरह व्रतभंग न भी हुआ, अतः भंग व अभंगसे ये दोनों अतिचार हुए।

बाकी तीनो अतिचार दोनोंको हैं। वह बताते हैं— स्वदारा संतोषीने अपनी स्त्रीके प्रति तथा दूसरेने वेश्या व स्वस्त्री दोनोंके प्रति यद्यपि इन्होने अनगरतका— लिंग, योनिको छोड कर अन्य अगोंके साथ क्रीडा या दूसरा अप्राकृतिक मैथुनका साक्षात् पच्चक्खाण नहीं लिया तब भी इसे न करे। क्योकि ये लोग पापभीरु हैं और ब्रह्मचर्य रखनेकी ही इच्छा करते हैं पर जब पुरुषवेदके— कामभोगेच्छाके उदयको नहीं रोक सकते और ब्रह्मचर्य पालनमें असमर्थ होते हैं तब निर्वाहके लिये स्वदारसंतोष आदि करते हैं कारण कि मैथुनसे ही कामेच्छाकी तृप्ति होती है। अतः अनंगरतका पच्चक्खाण तो आ ही जाता है। इसी प्रकार परविवाह व कामकी तीव्र अभिलाषाको समझ लेना चाहिये। क्योकि उनका पच्चक्खाण होते हुए भी उनमे प्रवृत्ति होती है अतः वे अतिचार हैं।

दूसरे आचार्य अनंगक्रीडाके लिये इस प्रकार कहते हैं— व्रत लेनेवाला साक्षात् मैथुनको ही व्रत समझता है। आलिंगन आदिका नियम नहीं लिया ऐसा सोच कर स्वदारसंतोषी वेश्या आदिसे तथा परदार विरमणव्रती परदारसे भी आलिंगन आदि रूपसे अनंगक्रीडा करता है अतः ये, व्रतका कुछ अतिक्रम करते है पर व्रतकी अपेक्षा रखते है अतः यह अतिचार है।

स्वदार संतोषीने अपनी स्त्रीसे अन्य (भिन्न कोई भी) और दूसरेने स्वस्त्री तथा वेश्यासे भिन्न 'मन, वचन व कायासे मैथुन न

करना व न कराना ' ऐसा कह कर जो व्रत लिया है तब परविवाह कराने से अर्थतः मैथुन कराना ऐसा हो जानेसे व्रतका भंग होता है साथ ही वह व्रती यह सोचता है कि मैंने विवाह कराया है मैथुन नहीं अतः व्रतकी सापेक्षतासे भंग नहीं होता, अतः यह अतिचार है।

शंका–कोई यह कहे कि परविवाहकरणमें कन्यादानके फलकी इच्छा उसका कारण बताया हो तो वह व्रती सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि ? यदि सम्यग्दृष्टि है तो उसे फलकी इच्छा नहीं क्योंकि सम्यग्दृष्टि ऐसी इच्छा न करे। यदि मिथ्यादृष्टि है तो उसे व्रत ही नहीं होता, अतः पर विवाहकरण अतिचारका यह कारण कैसे हो सकता है ?।

उत्तर–सत्य है, पर ऐसी अव्युत्पन्न दशामें ही– जब सर्वथा मिथ्यादृष्टि नहीं हुई, न सर्वथा सम्यग्दृष्टि उत्पन्न हुई है ऐसी दशामें ही यह संभव है या ऐसी इच्छा संभव है और भद्रिक मिथ्यादृष्टिवालेको गीतार्थ पुरुष सन्मार्ग प्रवेश करानेके लिये भी अभिग्रह देते हैं जैसे श्रीआर्यसुहस्ती आचार्यने रंकको सर्वविरतिव्रत ग्रहण कराया था।

अपनी संतानका विवाह करना और परविवाहको वर्जनीय कहना न्याय्य है अन्यथा अविवाहिता कन्या स्वच्छंदचारिणी हो जाती है उससे शासनकी भी अवहेलना होती है। विवाहिता हो जानेसे व्रतबंध विवाहके कारण वह वैसी नहीं होती। कहा है कि–

" स्वापत्येष्वपि संख्याभिग्रहो न्याय्यः "

अपने बच्चोंके विवाह करानेकी संख्याका भी अभिग्रह न्याय्य है।

उस अवस्थामें कोई अन्य विवाहकी चिन्ता करनेवाला हो तो ठीक है, अन्यथा संततिकी वह संख्या पूर्ण हो जाने पर अधिक उत्पत्तिसे अधिक विवाह करने पडेंगे व नियमभंग होगा आदि विचारसे उत्पत्तिका निरोध अथवा कामभोगसे निवृत्ति आवश्यक है।

दूसरे आचार्य इस तरह कहते हैं—

परविवाह— परः— अन्यः अर्थात् स्वयं दूसरा विवाह करना। पूर्ण संतोष न होनेसे अन्य स्त्रीसे विवाह करना भी परविवाहकरण कहलाता है। यह स्वदारसंतोषी पुरुषको लगता है। स्त्रीके लिये स्वपुरुष संतोष तथा परपुरुष त्यागमें कोई भेद नहीं। स्वभर्तारको छोडकर अन्य सब परपुरुष ही हैं। अतः स्वदारासंतोषी पुरुषको १ परविवाहकरण, २ अनंगक्रीडा, और ३ तीव्रकामाभिलाष—ये तीन अतिचार है वैसे ही स्त्रीको स्वपुरुषके विषयमें है। यदि वह अपने पतिको सपत्नीके ग्रहण करनेके दिन अंगीकार करती है —उसे ग्रहण करती है तो सपत्नीकी बारी—का अतिक्रमण करनेसे उसे दूसरा अतिचार लगता है (इत्वरपरिगृहीता)।

अतिक्रम आदि करके परपुरुषसे गमन करनेवाली स्त्रीको तृतीय अतिचार लगता है। ब्रह्मचारीको अतिक्रम आदिसे अतिचार लगता है।

अब पांचवे अणुव्रतके अतिचार कहते है—

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्य-प्रमाणातिक्रमा इति ॥२७॥ (१६०)

मूलार्थ—क्षेत्र-वास्तु, स्वर्ण-चांदी, धन-धान्य, दासी-दास,

और आसन-शय्या; इन सबका अतिक्रमण- ये पांच अतिचार है ॥२७॥

विवेचन-क्षेत्र-धान्यकी उत्पत्ति भूमि, यह तीन प्रकारकी होती है—१ सेतुक्षेत्र-जिसमें कुंए पर रहट हो, जिससे पानी नीकाल कर सींचा जा सके। २ केतुक्षेत्र-जिसमें आकाशसे गिरनेवाले पानीसे खेती होती हो। ३ उभयक्षेत्र-सेतुकेतु-जिसमें दोनों रीतिसे अन्न उत्पन्न की जाती है। **वास्तु**-घर, ग्राम व नगर, उसमें घरके तीन प्रकार हैं-१ खात-भूमिके नीचे गुप्त गृह २ उच्छ्रित-भूमिके उपरका घर। ३ खातोच्छ्रित-जिस घरमें दोनों हों।

इन सब क्षेत्र व वास्तुका जो प्रमाण किया हो, उस संख्यासे अधिक रखनेसे अतिक्रम-अतिचार होता है। अथवा तो यदि एक ही क्षेत्र या वास्तु रखनेका अभिग्रह किया हो और अधिककी अभिलाषा हो जाने पर व्रतभंग होनेके डरसे उसके समीपस्थ क्षेत्र या गृह लेकर उसके बीचकी आड या दीवार आदिको हटाकर उसे पुरानेके साथ मिला देनेसे व्रतकी सापेक्षतासे विरतिको कुछ हानि होती है और उससे भंगाभंग होकर अतिचार लगता है।

हिरण्य-सुवर्ण—रजत-हेम-इसका भी जो परिमाण किया जाय उससे अधिक यदि कोई दूसरा उसे दे या अपने पास न रखते हुए दूसरेको दे तो वह अतिक्रम-अतिचार होता है। उदाहरणार्थ-किसीने चातुर्मासमें स्वर्ण व चादीका परिमाण किया, उससे राजा या सेठ प्रसन्न होकर उससे अधिक स्वर्ण या चांदी उसे देता है। वह व्रतभंग होनेके डरसे उस अवधिके लिये दूसरेको दे देता है तथा अवधि

पूर्ण होने पर पुनः लेनेकी इच्छा करता है, वह कुछ विरतिकी हानि होनेसे व सापेक्षतासे भंग न होनेसे अतिचार होता है।

धन-धान्य- धनके चार प्रकार हैं- १ गणिम-गिनने योग्य —सुपारी आदि वस्तुएं अथवा रूपये, पैसे। २ धरिम-तोलने योग्य गुड आदि वस्तुएं। ३ मेय-नापने योग्य घृत, दुग्ध आदि तथा ४ परिच्छेद्य-परीक्षा योग्य हीरा, माणिक, मोती आदि और धान्य-मूंग, उडद, गेहूं आदि इनका जो परिमाण किया हो उस मर्यादाका उल्लघन करनेसे अतिचार होता है। यदि धनके निश्चित किये हुए प्रमाणसे अधिक उसे कोई दे तो उसे व्रतभंगके भयसे चातुर्मास आदिकी समाप्ति पर या अपने पासके ऐसे द्रव्यको वेचनेके वाद ग्रहण करूंगा इस भावनासे बंध बाधकर या निमंत्रणा करके अथवा रस्सी आदिसे बाधकर अथवा वचन लेकर उसे स्वीकार करके भी उसीके घर रहने दे या दूसरेके यहा रखे तो वह अतिचार होता है। इसमें भी स्वयं लेनेसे अभग, पर इस प्रकार ग्रहण कर लेनेसे भंग हो गया अतः भंगाभंगसे अतिचार हुआ।

दासी-दास-इसमें द्विपद तथा चतुष्पद (पशु) सबका समावेश हो जाता है। द्विपदमे पुत्र, पुत्री, स्त्री, दास, दासी, शुकसारिका तथा चतुष्पदमें गौ, ऊंट, भैस, घोडा आदि आते है। उनके परिमाणसे ज्यादा न होना चाहिये। उनका गर्भाधान करानेसे अतिक्रम- अतिचार होता है। यदि एक वर्षका परिमाण किया हो तो गर्भाधानसे संवत्सरके बीचमें प्रसव हो जानेसे व्रतभंग नहीं भी होता है, अतः वर्षमें काफी समय बीत जाने पर जो गर्भाधान होता है वह

भी अतिचार ही है क्योंकि संख्यामें वृद्धि होनेसे भग नहीं भी होता अतः भंगाभंगसे अतिचार हुआ।

कुप्य– आसन– शय्या आदि घरके उपकरण– इसका जो परिमाण किया हो उससे संख्यामें अधिकता करनेसे व्रतभग होता है पर उसका रूप अथवा आकार वदल कर वही रखनेसे अतिचार लगता है। उदाहरणार्थ– यदि किसीने तावे या पीतलके दस पात्र रखे वे किसी प्रकार वढ जावे तो दो दोका एक एक पात्र करावे जिससे व्रतभंग न हो। इस पर्यायान्तरसे अपनी संख्या पूर्ण करनेसे तथा स्वाभाविक संख्या या वस्तुसे अधिक हो जानेसे भंगाभंग हुआ अतः यह अतिचार है। कुछ आचार्य कहते हैं कि जिसे अधिक पात्रादिककी आवश्यकता हो वह 'मैं इनको ग्रहण करूंगा' ऐसा विचार कर किसी अन्यको उन पात्रोंको अपने परिमाणकी अवधि तकके लिये रखनेको कहे। दूसरेको मत देना ऐसी व्यवस्था करावे तो यह अतिचार लगता है।

इनके प्रमाणका अतिक्रम करनेसे अतिचार लगता है यह प्रगट अर्थ है। अतिचारको विशेषतः समझानेके लिये यहां मिलाने तथा बांटनेकी भावना वताई है। क्षेत्रादि परिग्रह नौ प्रकारका है पर उसे पंच संख्यक वनानेके लिये सजातीयताको आपसमें मिला दिया है। शिष्य हितके लिये प्राय: पाच पाच अतिचार होनेसे यहा भी पांच अतिचार ही गिनाये हैं।

परिग्रह परसे मोहको कम करनेके लिये यह पाचवा गुण अणुव्रत है इससे प्रमाण की हुई संख्यासे मनुष्य संतुष्ट हो सकता

है। इच्छा व तृष्णा बढती ही जाती है उसे रोकनेका यह उत्तम साधन है। इस अणुव्रतमे जो बढे उसे सन्मार्गमें लगाना ही उत्तम है।

अब पहले अणुव्रतके अतिचार कहते हैं—

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तर्धानानीति ॥२८॥ (१६१)

मूलार्थ—ऊपर, नीचे व तिरछा क्षेत्रका व्यतिक्रम (ये तीन), क्षेत्रवृद्धि और स्मृतिनाश- ये पांच अतिचार पहला गुणव्रत- दिशा परिमाणके हैं ॥२८॥

विवेचन—ऊर्ध्व—अधः—तिर्यग्—व्यतिक्रमः—ऊपर, नीचे व तिरछे इस प्रकार तीन तरफ जानेका जो दिक्परिमाण होता है उसका व्यतिक्रम— ऊपरका, नीचेका, या तिरछेका व्यतिक्रम तीन अतिचार हुए। जितने क्षेत्रका प्रमाण किया है उससे बाहरसे कोई वस्तु अपने क्षेत्रमें दूसरेके द्वारा लाना या भेजना या दूसरेके द्वारा भेजना व लाना, उसमें यह अतिचार लगता है। स्वयं इन दिशाओंमें जितना परिमाण किया है उससे अधिक आगे जावे तो व्रतभग होता है।

दूर देशसे वस्तु मंगानेसे अतिचार 'मैं व्यतिक्रम न करूं, न कराऊं' ऐसे व्रतीको लगता है। दूसरेको जिसने सिर्फ स्वय अति-क्रम 'न करू' ऐसा व्रत लिया है उसे नहीं लगता क्योंकि यह व्रत ही उसे नहीं है।

क्षेत्रवृद्धि— पूर्वादि दिशाओंको लेकर व्रत लिया गया है उसमें एक दिशामे कम करके उलटी दिशामें बढा देनेसे क्षेत्रवृद्धि अतिचार

होता है। उदाहरणार्थ– किसीने प्रत्येक दिशामें सो योजन जानेका परिमाण किया है, वह एक दिशामें नव्वे योजन तथा दूसरी दिशामें एकसो दस योजन जानेका परिमाण करता है। दोनों प्रकारसे कुल दोसौ योजनसे अधिक क्षेत्र न होनेसे व्रतकी सापेक्षतासे भंग नहीं होता पर एक दिशामें किये हुए सो योजनके परिमाणकी वृद्धि करनेसे भंग होता है अतः भंगाभंगसे यह अतिचार हुआ।

कभी अधिक व्याकुलतासे, प्रमादसे या बुद्धि चातुर्यकी कमीसे अपने लिये हुए परिमाण– जैसे योजनका विस्मरण हो जावे तो उसे स्मृतिनाश अतिचार कहते हैं।

यहा पर वृद्ध संप्रदायका मत है कि ऊपर जानेका जो प्रमाण किया हो उससे अधिक ऊपर पर्वत शिखा या वृक्ष पर बंदर या पक्षीद्वारा वस्त्र या आभूषण ले जाया जावे तो उसे वहां जाना नहीं चाहिये। यदि वह गिरे या कोई अन्य ले आवे तो ले सकता है। ऐसा अष्टापद, गिरनार पर्वत आदि पर हो सकता है। इसी प्रकार नीचे भी कुए आदि प्रमाणमें समझना।

तिरछा जानेमें जो प्रमाण किया हुआ है उसका उल्लंघन तीन प्रकार होता है जो न करना चाहिये। क्षेत्रवृद्धि न करना चाहिये। वह किस प्रकार? जो पूर्व दिशामें जानेवाला अपने लिये हुए प्रमाण तक जाकर माल खरीदता है वहां न बिकनेसे या आगे जानेसे ज्यादा लाभ व अच्छा माल मिलनेकी आशासे पश्चिम दिशाकी दूरीको पूर्वमें जोडकर उतना आगे जावे तो वैसे स्थलसे वस्तु न लेवे।

अब द्वितीय गुणव्रत–भोगोपभोगपरिमाण व्रतके अतिचार कहते है–

सचित्तसंबद्धसंमिश्राभिषवदुष्पक्वाहारा इति ॥२९॥ (१६२)

मूलार्थ–सचित्त, सचित्तसे संबद्ध, सचित्तसे मिश्रित, मदिरा, आसव आदिसे संसर्गवाला, अर्ध पक्व या दुष्पक्व– ये पांच अतिचार हैं ॥२९॥

विवेचन–यहां सचित्त आदि (३)की निवृत्ति करने पर उसमें प्रवृत्ति करनेसे अतिचार होता है। वह अतिचार व्रतकी सापेक्षतासे अविचारसे, अतिक्रम आदि कारणोसे उत्पन्न होने पर लगता है अन्यथा व्रतभंग होता है।

सचित्तमें कन्द, मूल व फल आते है। **संबद्ध**– जैसे सचित्त वृक्षसे लगे हुए गूंदे या पके हुए फल आदि हों उसे खानेसे सावद्य आहारका परित्याग करनेवालेको सावद्य आहारमें प्रवृत्ति होनेसे अनाभोगके कारण अतिचार लगता है या उसमें बीज आदि रही हुई वस्तु जो सचित्त है उसे त्याग करूंगा और केवल अचित्त भाग खाऊंगा ऐसा विचार करे उसे संबद्ध अतिचार लगता है, व्रतभंग नहीं होता।

संमिश्र– अर्ध पक्व फल या कुछ सचित्त व कुछ अचित्त ऐसे जल आदि या तत्काल पीसे हुए आटे आदिमें रहे हुए सचित्त कणके कारण वह संमिश्र है, उसे खानेसे यह अतिचार लगता।

अभिषव–अनेक द्रव्यसंघातसे उत्पन्न मदिरा, मधु आदि

अथवा सुरा और संघात अर्थात् कालका अतिक्रम होनेके बाद— निश्चित अवधिके पश्चात्‌का आचार— खानेवालेको सावद्य त्याग होनेसे अतिचार होता है।

दुष्पक्वाहार—आधी पकी हुइ और आधी कच्ची ऐसी वस्तु सावद्य आहार है और अविचारी अवस्थामें खानेसे अतिचार लगता है— ये पांचों अतिचार भोजनके बारेमें कहे, अन्यत्र यह भोगोपभोग परिमाण व्रत भोजनकी अपेक्षा कहा जाता है अतः उसके ये अतिचार कहे और भी सर्व व्रतोंके पांच पांच होनेसे इसके भी पांच कहे। 'आवश्यक निर्युक्ति' आदिमें इन्हे कर्मसे भी कहा हैं।

आजीविकाके लिये आरम्भ कर्म होता है उससे जो तीव्र कर्म होते हैं और निर्दय जनोंके योग्य कठोर कर्मके आरंभ करनेवाले चौकीदार या जेलर आदिके कर्मोंका त्याग करना ही अच्छा है। इन खर कर्मके अलावा अंगार कर्मके जो १५ अतिचार हैं वे कहते हैं—

"इंगाली वणसाडी, भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव य दंत-लक्ख-रस-केस-विस-विसयं ॥१०९॥
"एवं खु जंत-पिल्लणकम्मं निल्लंछणं च दव्वदाणं च।
सर-दह-तलायसोसं, असईपोसं च वज्जिज्जा" ॥११०॥

—इंगाली— अंगारकर्म, वण— वनकर्म, साडी— शकटकर्म, भाडी— किराये पर वाहन देना, फोडी— स्फोटी कर्म— फोडना; इन कर्मोंका त्याग करना, दंत— हाथीदांत, लक्ख— लाख, रस— मदिरा आदि रस, केस—बाल अथवा बालवाले मनुष्य व पशु, विस—विषका —ये पांचों व्यापार वर्जनीय हैं। जंतपीलण— चक्की, घाणी, निल्लं—

छण– पशुओंके लिंगको काटना, दवदाणं– जंगल जलाना, सरदह-तलायसोसं– सरोवर, तालाब आदि सुखाना, असईपोसं– असती-पोषण– इस प्रकारके पंद्रह कर्म व व्यापार श्रावकके लिये वर्जित हैं।

इसका भावार्थ वृद्ध संप्रदायकी परंपरासे जानना चाहिये जो इस प्रकार है—

१. **अंगार कर्म**– अंगारे या कोयले करके बेचना, उसमें छ काय जीवोंका वध होता है अतः वह वर्जित है।

२. **वन कर्म**– वन या जंगल खरीद करके उसे काट काट कर, बेच कर उससे आजीविका चलाते हैं। उसके पेड– पत्ते आदि लकडीका बेचना निषिद्ध है। इससे सचित्तको मारनेका तथा उसके जलने, खानेसे जो पाप होता है उसका भागी बनना पडता है।

३. **शकट कर्म**– जो गाडी आदि वाहन रखे और उससे आजीविका करे– उसमें गाय, बैल आदिका वध, बन्ध आदि दोष है। उसी प्रकार इस समयमें मोटर आदि वाहनका है। उसमे भी टकरानेसे मनुष्य तथा अन्य प्राणीकी मृत्यु होती है तथा उसमें पैट्रोल आदि जलने तथा उससे चलनेसे कई जीवोका वध आदि होता है।

४. **भाडी कर्म**– किराया लेकर गाडी आदिसे दूसरोंका माल लाना, ले जाना, अथवा दूसरेको गाडी, बैल आदि किराया पर देना– यह वर्जित है।

५. **स्फोटी कर्म**– तोडना, फोडना व खोदना तथा हल आदिसे

जमीनको उखेडना– इसका त्याग करना, क्योंकि उसमें कई जीवोंकी विराधना होती है।

६. **दंतवाणिज्य**– हाथीके दांतके व्यापारका निषेध है। इसका व्यापार करनेवाले भील आदि लोगोको पहलेसे पैसे देकर 'थोडे समयमें मुझे दांत ला दो' आदि कहते हैं। वे दांतके लिये हाथी आदिका हनन करते हैं अथवा उसके लाये हुए मालको वेचते हैं। इसमें पंचेन्द्रिय जीवका हनन होता है और पापकर्मके भागी बनते हैं।

आजकल इस प्रकारकी अन्य कई वस्तुए जैसे दवाईया आदि तथा अगम्य वस्तुएं जिसमें जीव हिंसा होती है, वेची जाती है। प्रत्येक अंग्रेजी दवामें मदिरा और अन्य प्राणीकी हिंसाका समावेश होता है उसे वेचने व खानेसे उस जीवहिंसाके भागी होते हैं तथा उस जीव हिंसाको उत्तेजना देनेवाले बनते हैं। इन सब वस्तुओंका व्यापार भी श्रावक न करे।

७. **लक्षवाणिज्य**– उसमे भी यह दोष है– उसमें जीवकी उत्पत्ति होती है।

८. **रसवाणिज्य**– मदिरा आदि रसोका व्यापार– भट्ठीसे मदिरा नीकाली जाती है। उसी प्रकार मधुका निषेध है। मदिरामें अनेक दोष है– उपरांत पीनेवाला मारना, क्रोध, हिंसा आदि भी करता है। अत. ऐसा व्यापार न करे।

९. **केशवाणिज्य**– दास, दासी तथा पशु आदि बालवाले प्राणियोंका व्यापार– दास दासीको एकसे खरीद कर दूसरेको वेचना–

इसमें कई दोष हैं, जैसे उसका परवश बनना आदि। आजकल गुलामी प्रथाके बंद होने पर भी कहीं कहीं ऐसा होता है। ऐसे किसी प्राणीको वेचनेसे उसको जो लेनेवाला दुःख दे उससे भी पाप होता है।

१०. **विषवाणिज्य**- विषका व्यापार या वेचना श्रावकको योग्य नहीं, उससे बहुतसे जीवोंकी विराधना होती है।

११. **यन्त्रपीडन कर्म**- तिल, गन्ने आदिको उसके यंत्रों-द्वारा दबानेसे रस आदि नीकालना- उसी प्रकार चक्की आदिसे आटा पीसना भी इसीमें आ जाता है। इससे वे सब एकेन्द्रिय जीव तो मरते ही है अन्य भी कई प्राणयोंकी हिंसा व विराधना होती है।

१२. **निर्लांछन कर्म**- वैल आदि पशुओंको जलाना, उनके अंडकोश आदिको काटना- इससे उन प्राणियोंको बहुत कष्ट होता है।

१३. **दवदाव कर्म**- वनको जलानेका कार्य- यह क्षेत्रकी रक्षाके निमित्त कहीं कहीं करते है, इससे कई सहस्र प्राणियोंका नाश होता है। किसी भी कारणसे हो, यह पाप ही है।

१४. **सरो-ह्रद-तडागपरिशोषण**- जिसमे तालाव आदिका खेतके लिये अथवा किसी अन्य कारणसे शोषण करते हैं। इससे कई जलचर जीव मर जाते है और अपने तालाव आदि मछली मार-नेवालोंको नहीं देना चाहिये।

१५. **असतीपोषण**- योनि पोषण करनेवाली दासीको रखना, उसका पोषण करना तथा उनके व्यभिचारसे आजीविका चलाना। व्यभिचार ही पाप है तब उससे पैदा किया हुआ पैसा तो पापका

ही है। इसी तरह हिंसक पशुओंका पोषण भी समझना।

इसी प्रकारके अन्य कई सावद्य कर्म हैं। यहां उनका दिग्दर्शन मात्र है तथा उनका संक्षिप्त वर्णन है। सब यहां नहीं गिनाये जा सकते।

ये पनरह अतिचार तथा पूर्वोक्त पांच मिलानेसे २० अतिचार हुए।

व्रतकी विस्मृति आदि अतिचार सभी व्रतोंमें होते हैं। जो पांच अतिचार सब जगह बताये हैं। उसी प्रकारके अन्य व्रतके परिणामको कलुषित करनेवाले हों ऐसे सबको अतिचार जानना। कोई भी व्रतमें जिससे बुराई आवे उसे अतिचार गिनना। यह बतानेको ही यहां १५ कर्मादान अतिचार कहे हैं।

शंका—कोई कहे कि अंगार कर्म आदि किस व्रतके अतिचार हैं?

उत्तर—खर कर्म या क्रूर कर्मके व्रतके।

तो अतिचार व व्रतमें परस्पर क्या भेद है?

खर कर्मरूप अंगार कर्म आदि हैं जो यहां कहे गये हैं। खर कर्म आदि खर कर्म व्रतवालेके लिये वर्जनीय हैं। जब अनाभोग आदिसे इनमें प्रवृत्ति करे तब ये अतिचार होते हैं। यदि जान बूझकर करे तो व्रतभंग होता है।

अब अनर्थदंड नामक तीसरे गुणव्रत के अतिचार कहते हैं—

कन्दर्पकौकुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोप-
भोगाधिकत्वानीति ॥३०॥ (१६३)

मूलार्थ—कामोद्दीपक, नेत्रकी कुत्सित क्रिया, वाचालता,

विचार बिना साधनोंका रखना तथा उपभोगमें अधिकता–ये पांच अतिचार हैं।

विवेचन–कन्दर्प–काम या उस हेतु वाणिका प्रयोग या मोहको उत्पन्न करनेवाले शब्द कन्दर्प है। श्रावकको अट्टहांस नहीं करना चाहिये। मौका आने पर मुस्करा देना चाहिये। गंभीरता श्रावकका एक विशेष गुण है। अनर्थदंड उसे कहते है जब ऐसे वचन कहना या कर्म करना जिसका कोई प्रयोजन न होने पर उससे उलटे अनर्थ हो। अतः उससे बचनेके लिये उसे त्याग करने-रूप यह व्रत है। कदर्प आदि इसके अतिचार हैं पर मनकी तीव्रतासे ऐसा कर्म या वाणीका प्रयोग किया जावे तो व्रतभंग ही होता है।

कुकुच–नेत्रका संकोच या विकार चेष्टा जो निंदित कही जा सके कौकुच्य कहलाती है। अनेक प्रकारके मुख, नेत्र आदिकी विकारपूर्वक चेष्टा या परिहास आदिसे होनेवाली, भाडोकी तरह होनेवाली विडम्बन क्रिया। श्रावकका कर्तव्य है कि श्रावक उस प्रकार न बोले, न हंसे, न बैठे, न चले जिससे लोग हसे। अर्थात् जिससे लोग हंसे ऐसी कोई क्रिया श्रावक न करे। ये दोनों कंदर्प व कौकुच्य प्रमादसे व्रतका आचरण करनेवालेको होते हैं कारण कि ये दोनों प्रमादरूप हैं।

मौखर्य–जिसके मुख है वह मुखर। उससे होनेवाला कर्म-मौखर्य। मौखर्य वह वाचालता है जिससे धृष्टताभरे प्रायः असभ्य, असत्य, असबद्ध प्रलापकी तरह वचन कहे जाते हैं। यह पापो-पदेशका दूसरा नाम है। मौखर्यसे पापोपदेशका–पाप करनेकी प्रवृ-

त्रिंका-संभव होता है। ऐसे वचन श्रावक न बोले। उससे सब अनर्थ होते हैं, अतः श्रावक मित, हित, प्रिय व सत्य बोले।

असमीक्ष्याधिकरण-कोई कार्यमें किसी वस्तुकी आवश्यकता है या नहीं यह विचारे बगैर किसी अधिकरण या सामग्रीका रखना-ऐसी सामग्री या वस्तु जो खास कर पापमें प्रवृत्ति करावे। जैसे खरल, ओखली, शिला, गेहूंका पीसनेका यंत्र-घंटी या चक्की, तलवार, धनुष आदि साधन श्रावक न रखे, क्योंकि उससे हिंसा होती है तथा दूसरे ले जाकर उसका दुरुपयोग भी करते हैं। टीकाकार बताते हैं कि-"श्रावक जुडी हुई गाडी आदि न रखे" क्योंकि कोई मांग कर ले जाय तो वह या ऐसी वस्तुओंसे हिंसा करे तब हिंस्रप्रदान व्रतका अतिचार लगता है।

उपभोग अधिकत्व-उपभोग तथा भोगकी अधिकता अर्थात् आवश्यकसे अतिरिक्त- आवश्यकतासे अधिक वस्तुएं होनेसे ममत्व बढ़ता है। उसका अन्य कोई दुरुपयोग करे तो भी उस वस्तुके स्वामीको दोष लगता है।

ये सब अतिचार तब लगते हैं जब व्रतका आचरण प्रमाद-सहित होता है। अतः उसका परिहार-त्याग करना चाहिये। यदि व्रतका आचरण अपध्यानसे अतिचारसे किया जावे तो अपध्यान प्रवृत्ति अनाचार लगता है। जो कंदर्प आदि अतिचार कहे हैं वे यदि निर्दयतापूर्वक और जानबूझकर काये जावे तो वह भग ही होता है, अतिचार नहीं।

अब शिक्षाव्रतोंके अतिचारमें प्रथम (सामायिक)के अतिचार कहते हैं—

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुप-स्थापनानीति ॥३१॥ (१६४)

मूलार्थ—मन, वचन, कायाके योगोंकी पापमार्गमें प्रवृत्ति, अनादर व स्मृतिनाश—ये पांच प्रथम शिक्षाव्रतके अतिचार हैं।

विवेचन—योगदुष्प्रणिधान—योग अर्थात् मन, वचन व कायाके योग—मनोयोग, वचनयोग व काययोग—उनका दुष्प्रणिधान या पापमार्गमें प्रवृत्ति—ये तीन अतिचार हुए।

अनादर—प्रबल प्रमाद आदि दोषसे जैसे तैसे सामायिक करना-सामायिक पूर्ण हुई या नहीं इसका ख्याल किये बिना या प्रारंभ करके संपूर्ण हुए बिना उसी क्षण पार लेना—या समाप्त कर देना।

स्मृत्यनुपस्थापन—स्मृतिनाश अर्थात् सामायिक करनेके अव-सर या समयकी स्मृतिका न रहना अथवा "मुझे सामायिक कब करना है" या "मैने सामायिक किया या नहीं" इस प्रकारके स्मरणका नष्ट होना।

मनोदुष्प्रणिधानसे सामायिककी निरर्थकता और उससे अभाव ही का प्रतिपादन किया है। सामायिकके अभावसे क्या होता है। अतः यह अतिचारका मलिनरूप हो जाता है। यह तो भंग हुआ अतिचार कैसे?

यह सत्य है पर अनाभोग या अतिचारसे ऐसा हो तो यह अतिचार ही है।

सामायिक 'द्विविधं त्रिविधेन' सावद्य व्यापारका त्याग करनेके पच्चक्खाणरूप है, अतः "मन, वचन, कायासे न करुं, न कराऊ" ऐसा व्रत लिया जाता है। उसमें मन दुष्प्रणिधान आदिसे—सावद्य चिंतन आदिसे पच्चक्खाणभंग होता, है अतः सामायिकका अभाव है। उसके भंग होनेसे प्रायश्चित्त करना होता है। मनका दुष्प्रणिधान—सावद्य चिंतन बहुत मुश्किलसे छूटता है कारण कि मन अस्थिर होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि सामायिक लेनेसे न लेना ज्यादा अच्छा है—इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है—

ऐसा नहीं है। "मन, वचन, कायासे न करना, न कराना"—इस तरह "द्विविधं त्रिविधेन" सामायिक व्रत लिया जाता है। उससे "मनसे सावद्य न करूंगा" आदि छ पच्चक्खाण हुए। उसमें एकका भग होता है और शेष पांच रहते हैं उससे सामायिक बिलकुल नहीं ऐसा नहीं है। मनदुष्प्रणिधानका प्रायश्चित्त 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' ऐसा करनेसे शुद्धि हो जाती है। सर्व विरति सामायिकके लिये भी ऐसा ही कहा गया है। गुप्तिका भंग होने पर 'मिथ्या दुष्कृत—मेरा दुष्कृत मिथ्या हो'—प्रायश्चित कहा गया है। कहा है कि—

'बीओ उ असमिओमित्ति कीस सहसा अगुत्तो वा ?"॥

—दूसरे अतिचार अर्थात् समिति—गुप्तिका भंगरूप अतिचारकी शुद्धि "अरे मै सहसा अगुत्तो—बिना गुप्तिवाला या बिन समिति-

वाला कैसे हुआ ?" कहनेसे होती है अर्थात् इस प्रकार प्रायश्चित्त करनेसे उसकी शुद्धि होती है ।

अतः "सामायिक न करना—करनेसे अच्छा है" ठीक नहीं। अभ्याससे मनको वश करके सामायिक करना चहिये। अतिचार सहित भी अनुष्ठान होनेसे समय व्यतीत होने पर अभ्याससे निरतिचार अनुष्ठान होगा। इसके लिये आचार्योंने कहा है—

'अभ्यासोऽपि प्रायः प्रभूतजन्मानुगो भवति शुद्धः'॥

—कई जन्मोंसे चला आनेवाला अभ्यास भी धीरे धीरे प्रायः शुद्ध होता है या कई जन्मोंसे करते करते अभ्यास शुद्ध होता है। अतः निरतिचार शुद्ध सामायिक मनको वशमें करके अभ्याससे होगी।

सामायिकमें मनके संकल्प प्रयत्नपूर्वक कम करने हो तो धर्मके बारेमें करना ही श्रेष्ठ है। मनको अशुभ विचारसे खींच कर शुद्ध ध्येयकी तरफ प्रवृत्त करना चाहिये। मनके दश दोष टालने चाहिये। वचनके दश दोष भी टालना। सामायिकमें मौन रखना—अथवा तो प्रभुस्तुति या धार्मिक वाचन या पठन करना चाहिये। शरीरसे निश्चल रहना अथवा तो धार्मिक क्रियाकी विधिपूर्वक शरीरकी हलचल करना, अन्यथा नहीं। कायाके १२ दोष टालने चाहिये।

अब द्वितीय देशावकासिक शिक्षाव्रतके अतिचार कहते है—

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलप्रक्षेपा इति ॥३२॥ (१६५)

मूलार्थ-नियमित क्षेत्रके बाहरसे वस्तु मंगाना, सेवक या

मनुष्य भेजना, शब्द सुनाना, रूप दिखाना, तथा कंकर आदि पुद्गल फेंकना– ये पांच अतिचार हैं ॥३२॥

विवेचन–आनयन– जिस क्षेत्रका परिमाण किया है उससे बाहरसे सचेतन आदि द्रव्यको उस क्षेत्रके भीतर मंगवाना। स्वयं जानेसे व्रतभंग होता है, अतः किसी जानेवालेके साथ संदेश आदि भेजकर अपना काम कराना ॥१॥

प्रेष्य– अपना नियत किया हुआ स्थान या क्षेत्रसे बाहर आज्ञा देकर किसीको भेजना– स्वयं जानेसे व्रतभंगका भय है, अतः किसी दूसरेको भेजना, यह दूसरा अतिचार है ॥२॥

आनयन और प्रेष्य दोनों प्रयोग कहलाते हैं।

शब्द (अनुपात)– इसी प्रकार किसी व्यक्तिको बुलानेके लिये खांसी आदि शब्द करना जिससे उसे अपनी स्थितिका ज्ञान हो ॥३॥

रूप (अनुपात)– नियमित क्षेत्रकी बाहरके किसी व्यक्तिको बुलानेके लिये अपनी आकृति या शरीरको दिखाना, यह रूपानुपात चौथा अतिचार हुआ ॥४॥

यहां भाव यह है कि नियमित क्षेत्रसे बाहरके किसी व्यक्तिको व्रतभंगके भयसे बुलानेमें असमर्थ होनेसे उसे खांसी आदि शब्दसे या अपनी आकृति या शरीर आदि दिखानेसे उसके उपर आकर्षित करते हैं, अतः व्रतकी सापेक्षतासे रूपानुपात व शब्दानुपात अतिचार होता है ॥

पुद्गल प्रक्षेप–उस क्षेत्रके बाहरके मनुष्यको अपनी स्थिति

दर्शानेके लिये कंकर आदि पुद्‌गलको उसकी ओर फेंकना ॥५॥

देशव्रत दिग्व्रतका एक भाग है। दिग्व्रतमें दश दिशाओंका परिमाण करते हैं। देशव्रतमें घर, ग्राम आदि संबंधी जाने-आनेकी सीमा बांधते हैं। इसका अभिप्राय गमनागमनसे प्राणिनाश होता है, वह न हो। अतः स्वयं न जाकर दूसरेको भेजे तब भी वही फल (प्राणनाश) होता है। उलटा स्वयं जानेसे अधिक अच्छा है। इससे यतनापूर्वक जाना-आना होनेसे इर्यापथिकी शुद्ध होती है। सेवकके जानेसे वह अशुद्ध होगी। इसमें प्रथम दो अतिचार तो अपक्व बुद्धि या सहसात्कारसे होते हैं तथा अंतिम तीनो किसी वहानेसे दूसरेको बतानेसे होते हैं। इस बारेमें वृद्ध पुरुष इस प्रकार कहते हैं—

दिग्व्रत संक्षेपसे देशावकासिक होता है। इस प्रकार यदि प्रत्येक अणुव्रतका संक्षेप किया जावे तो होता है और उससे भिन्न व्रत होनेसे व्रतकी संख्या १२ है, इससे विरोध होता है अर्थात् व्रत बढ जाते हैं। अत. इसके अतिचार भी दिग्व्रतके अतिचारोंके अनुसार ही हैं।

इस शकाका समाधान इस प्रकार है—अन्य व्रतोके संक्षेपको देशावकासिक कहते हैं, अतः उसके अतिचार भी उनके अनुसार होते हैं। जैसे प्राणातिपात आदिका संक्षेप करनेसे वन्ध आदि अतिचार यथार्थतः उसी प्रकार संभवत होते हैं। दिग्व्रतके संक्षेपसे क्षेत्रके कम हो जानेसे शब्दानुपात आदि अतिचार होते हैं। अतः भेद होनेसे कहे गये हैं। सब जगह व्रतभेद होनेसे विशेष अतिचार कहनेकी आवश्यकता नहीं। जैसे रात्रिभोजन आदि व्रतमें उसके अतिचार नहीं बताये गये।

अब तृतीय शिक्षाव्रतके अतिचार कहते हैं—

अप्रत्युपेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादाननिक्षेपसंस्तारोपक्रमणाऽनादरस्मृत्यनुपस्थापनानीति ॥३३॥ (१६६)

मूलार्थ—बिना देखे व बिना प्रमार्जित किये मल-मूत्र त्याग करना, ऐसे ही स्थानमें धार्मिक उपकरण रखना या लेना, संथारा (पथारी)को बिना देखे या प्रमार्जे बिना उपभोग करना, पौषधोपवासका अनादर करना और स्मृतिनाश—ये पांच अतिचार हैं।

विवेचन—अप्रत्युपेक्षित—नेत्रों द्वारा पहलेसे देखे बिना, प्रमादसे भ्रांत नेत्रों द्वारा भली प्रकार निरीक्षण किये बिना—यहां दोनों अर्थ बिना देखे तथा बिना ठीक प्रकारसे देखे—लेने चाहिये।

अप्रमार्जित—वस्त्र या पूंजीसे बिना साफ किये या आधा साफ करके ही—इस प्रकारकी भूमिमें स्थंडिल—शौच व मूत्र आदिका त्याग करना। पौषधोपवासमें प्रत्येक वस्तु भली प्रकारसे देखकर तथा साफ करके लेना—देना चाहिये। यतनापूर्वक जाना—आना चाहिये तथा मल—मूत्रादिका त्याग या परठनेके समय देखकर व साफ करके करना चाहिये।

पौषधोपवासमें उपयोगी तथा स्थंडिल वगेरहमें उपयोगी धर्मके उपकरण—पाट, पूंजी, ठवणी आदिको भली प्रकारसे देखकर तथा साफ करके काममें लेना चाहिये। उनको लेते समय तथा रखते समय इसकी बहुत सावधानी रखना चाहिये, जिससे किसी प्रकारसे भी

जीवकी विराधना आदि न हो। सूक्ष्म जीवका भी प्राणनाश न हो।

संस्तारोपक्रमण– शय्या अथवा सस्तार– सर्व अंगसे पूर्णतः शयन करना, संस्तार– शय्याका बिना निरीक्षण किये व बिना प्रमार्जित किये उपभोग करना– यह तीसरा अतिचार हुआ। अर्थात् शय्याको वस्त्र या चरवलेसे साफ करके तथा भली भांति देखकर उसका उपयोग करना चाहिये

अनादर– भक्ति व बहुमान बिना पौषध करना या जैसे तैसे करना।

स्मृत्युपस्थापन– स्मृतिनाश। ये चौथा व पांचवां अतिचार सामायिक व्रतके जैसा ही है, इसकी भावना उसी प्रकारकी है।

संस्तारोपक्रमकी वृद्ध सामाचारी इस प्रकार है– पौषधोपवास-वाला पडिलेहण बिना शय्या पर न बैठे, या पडिलेहण बिना पौषधशाला या शय्याका सेवन न करे। न वस्त्रको भूमिमें बिछाये। मूत्रादिक करके आने पर पुनः शय्याका निरीक्षण या पडिलेहण करे, अन्यथा अतिचार होता है। अन्य पाट आदि वस्तुओंके विषयमें भी जानना अर्थात् प्रत्येक वस्तुका प्रमार्जन किये बिना उपयोग नहीं करना।

अब अतिथिसंविभाग नामक चतुर्थ शिक्षाव्रतके अतिचार कहते हैं—

सचित्तनिक्षेपपिधानपरव्यपदेशमात्सर्य-कालातिक्रमाः इति ॥३४॥ (१६७)

मूलार्थ—साधुको अर्पण करने योग्य वस्तुको सचित्त पर रखना, उसे सचित्तसे ढंकना, अपनी वस्तुको दूसरेकी बताना, मत्सरभाव तथा समयका उल्लंघन करना– ये पांच अतिचार अतिथि संविभागव्रतके हैं।

विवेचन– सचित्त– जिसमें जीव हो– सचेतन, जैसे पृथवी आदि। निक्षेप– ऐसे स्थान पर साधुको देने योग्य वस्तु रखना ॥१॥

पिधान– सचित्त वस्तु जैसे बीजोग आदिसे साधुको देने योग्य वस्तुको ढांकना ॥ २ ॥

परव्यपदेश– अपनेसे भिन्न साधुको देनेकी इच्छा न होने पर साधुके सामने "यह अन्नादिक वस्तु मेरी नहीं है" कहना ॥ ३ ॥

मत्सर– सहन न करना, साधु आदि द्वारा मागने पर क्रोध करना अथवा तो "क्या मैं उस रंकसे कम हूं, जो उसने दी" आदि विकल्प करना ऐसा भाव रखना– असहनशीलता– मत्सर भावको मात्सर्य कहते हैं ॥ ४ ॥

कालातिक्रम– साधुकी गोचरीके योग्य समयका व्यतीत हो जाना– उस समयको जाने देना– अथवा तो उसे गोचरी न देनेके हेतु, समय जाने बाद साधुको विनंति करना– कालातिक्रम है ॥४॥

ये पांचो अतिचार हैं, जो त्याज्य है। इसमें भावना यह है कि यदि अनाभोग व अतिक्रमसे हों तो ये अतिचार हैं अन्यथा व्रतभंग होता है, अत इनका त्याग ही उचित है।

इस प्रकार अणुव्रत आदि १२ व्रत तथा उसके अतिचार कहनेके बाद उसी विषय पर आते हैं—

एतद्रहिताणुव्रतादिपालनं विशेषतो गृहस्थधर्म इति ॥३५॥ (१६८)

मूलार्थ–इन अतिचारों रहित अणुव्रतका पालन गृहस्थका विशेष धर्म है ॥३५॥

विवेचन–इस प्रकार जिन अतिचारोंका वर्णन किया है वे न लगें, उनके रहित निरतिचारपनसे अणुव्रत आदि और उस प्रकार सम्यक्त्वका पालन करना चाहिये। इनका निरतिचार पालन गृहस्थका विशेष धर्म है ऐसा शास्त्रोंमें प्रथमत' ही सूचित है।

कहा है कि यदि विधिवत् व्रत ग्रहण किये हों तो सम्यक्त्व तथा इन अणुव्रतादि १२ व्रतोंमें अतिचार असभव हैं तो "इनके रहित अणुव्रतादिका पालन करना चाहिये" ऐसा क्यों कहा है? इस शंकाका उत्तर देते हैं—

क्लिष्टकर्मोदयादतिचारा इति ॥३६॥ (१६९)

मूलार्थ–क्लिष्ट कर्मके उदयसे अतिचार लगते हैं ॥३६॥

विवेचन–सम्यक्त्व आदिको अंगीकार करनेके समय उत्पन्न शुद्ध गुणोंसे भी जिन कर्मोंका सर्वथा नहीं हुआ है, जो कर्मबध छिन्न नहीं हुए ऐसे मिथ्यात्व आदि कर्मोंके उदयसे– उनके विपाकसे ये अतिचार होते हैं। शंका तथा वधबंध आदि अतिचार उत्पन्न होते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि जब भव्यत्वकी शुद्धिसे मिथ्यात्व

आदि कर्मका अति अनुबंध आदि नहीं होता और सम्यक्त्व प्राप्त होता है तब अतिचार असंभव होते हैं– होही नहीं सकते। अन्यथा सम्यक्त्वके अंगीकार करनेमें ही अतिचार लगता है।

तब ये अतिचार किस तरह नहीं हों– कहते हैं—

विहितानुष्ठानवीर्यतस्तज्जय इति ॥३७॥ (१७०)

मूलार्थ–अंगीकृत सम्यक्त्वके आचरण (सामर्थ्य)से अतिचार विजित होते हैं ॥३७॥

विवेचन–विहितानुष्ठान– विहित या अंगीकृत सम्यक्त्वके अनुष्ठान व नित्यस्मरणके आचरणसे, **वीर्यतः**– उसकी शक्तिसे– जीवके अनुष्ठानके सामर्थ्यसे, **तज्जयः**– अतिचारोंका जय– उनके ऊपर विजय।

सम्यक्त्वके नित्य स्मरण आदि अनुष्ठानसे जीवके सामर्थ्य–बलसे अतिचार कम होते हैं– उनका नाश होता है। विहित अनुष्ठान (शास्त्रोक्त आचरण) ही सर्व अपराधरूप व्याधिको नाश करनेका महौषध है।

सत्श्रद्धासे सद्विचार उत्पन्न होता है और उससे सत्कार्यकी उत्पत्ति होती है। सत्श्रद्धा आधार है तथा जीवके बल, वीर्य व पराक्रमसे अतिचार समाप्त होते हैं। अग्निमें धूंआ होने पर उसे सतेज करते हैं अत. अतिचार भयसे व्रतत्याग नहीं पर शुद्ध व्रतको पुष्ट करनेसे अतिचार समाप्ति होगी। इस विषयका उपदेश करते हैं—

अत एव तस्मिन् यत्न इति ॥३८॥ (१७१)

मूलार्थ—अतः अनुष्ठान करनेके लिये यत्न करना चाहिये।

विवेचन—अत एव— विहित अनुष्ठानमे—उसके प्रति, यत्न—सर्व उपाधि रहित उद्यम।

शास्त्रोक्त विधिवत् आचरण करनेसे ही अतिचार कम होते हैं, अतः शास्त्रोक्त आचरण करनेके लिये शुद्ध प्रयत्न करते रहना चाहिये। कहा है कि—

" तम्हा निच्चसईए, बहुमाणेणं च अहिगयगुणम्मि।
पडिवक्खदुगंछाए, परिणइ आलोयणेणं च " ॥११॥

—अंगीकृत समकित आदि गुणोंके प्रति प्रयत्न करना चाहिये, व्रतोका स्मरण निय करना चाहिये। उनका कारण फल, विघ्न आदिके विचारसे चित्तमे स्थिरता आती है। उसके प्रति बहुमान तथा उच्च भावना रखनी चाहिये। प्रतिपक्ष अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन आदि जो बुरे फल देनेवाले हैं, ऐसा विचार करना और शुद्ध परि-णति—धर्मके तथा व्रतोंके प्रति शुद्ध परिणाम रख कर उसके शुद्ध फल—मोक्षको विचारना चाहिये।

' तित्थंकरभत्तीए, सुसाहुजणपज्जुवासणाए य।
उत्तरगुणसद्धाए, एत्थ सया होइ जइयव्वं ॥११२॥ "

—तीर्थंकरकी भक्तिसे, साधुजनोंकी सेवासे, उत्तर गुणमें श्रद्धाऐ, निरंतर उच्च भावनासे सर्वदा प्रयत्न करना चाहिये।

उत्तरगुणश्रद्धा— समकितसे अणुव्रत तथा अणुव्रतसे महाव्रत लेनेकी अभिलाषा— बादके गुणोंको प्राप्त करनेकी इच्छा व उसमे श्रद्धा।

पवमसंतोऽवि इमो, जायइ जायो य ण पिडइ कयाव।
ता पत्थं बुद्धिमया, अपमाओ होई कायव्वो" ॥११२॥

—इस प्रकार विरति व सम्यक् दर्शनका परिणाम या भाव गुप्त हो वह प्रगट होता है और उत्पन्न परिणाममे वृद्धि होती है कभी घटता नहीं। अत. बुद्धिमान् पुरुष अंगीकृत व्रतोंको नित्य स्मरण आदि करते हैं, इसमें अप्रमाद कर्तव्य हो जाता है।

अब सम्यक्त्व आदि गुणोंकी प्राप्तिके लिये तथा प्राप्त हो जाने पर उनका रक्षण तथा पालन करनेके लिये विशेष शिक्षा इस प्रकार देते हैं—

सामान्यचर्याऽस्येति ॥ ३९ ॥ (१७२)

मूलार्थ—इस गृहस्थकी सामान्य चर्या(चेष्टा) इस प्रकार होती है ॥

विवेचन- जिसको सम्यक्त्व आदि गुण प्राप्त हो गये है ऐसे सर्व प्राणियोकी साधारण या सामान्य चर्या या चेष्टा अर्थात् विशेष गृहस्थ धर्मके पालन करनेवालेकी प्रवृत्ति इस प्रकारकी होती है। कैसी होती है वह कहते है—

समानधार्मिकमध्ये वास इति ॥४०॥ (१७३)

मूलार्थ-समान धर्मवालेके बीचमें रहना चाहिये ॥४०॥

विवेचन-समानाः- तुल्य आचारवाले अथवा अधिक शुद्ध आचारवाले, **धार्मिकाः**- धर्मवाले- धार्मिक जन, **वासः**- रहना।

अपने समान गुणवाले या विशेष अधिक गुणवाले ऐसे धार्मिक

भाईयोंके बीचमें रहना चाहिये। उसमें खास गुण यह है कि उस प्रकारके दर्शन मोहनीय कर्मोंके उदयसे यदि कदाचित् धर्मच्युत हो अथवा स्वयं धर्मच्युत हो तो वे उसे धर्ममें स्थिर करते हैं। वह धर्ममें पुन: दृढ हो जाता है। कहा है कि—

"यद्यपि निर्गतभावस्तथाप्यसौ रक्ष्यते सद्भिरन्यः।
वेणुर्विलूनमूलोऽपि, वंशगहने महीं नैति" ॥१८४॥

—यद्यपि मनुष्य भावरहित हो जाय तो भी अन्य सत्पुरुष उसकी रक्षा कर लेते हैं। जैसे बांस निर्मूल हो जाने पर भी समूहमें होनेसे पृथ्वी पर गिरता नहीं है। सत्पुरुषोंके साथ रहनेसे उनके सद्विचारोंसे बल मिलता है तथा शुद्ध आचार व शुद्ध विचार पैदा होते हैं।

तथा-वात्सल्यमेतेष्विति ॥४१॥ (१७४)

मूलार्थ-इन साधर्मिकों पर वात्सल्यभाव रखना चाहिये।

विवेचन-वात्सल्यम्- अन्न, पान, तांबूल आदि देकर सत्कार करना तथा बिमारी आदिमें रात्रिजागरण करके भी सेवा व वेयावच्च करना। एतेषु- धार्मिक जनोंका।

उन साधर्मिक जनोंका वात्सल्य तथा सेवा सत्कार आदि करना चाहिये। कारण कि यही जिनशासनका साररूप है। कहा है कि—

"जिनशासनस्य सारो, जीवदया निग्रहः कषायाणाम्।
साधर्मिकवात्सल्यं, भक्तिश्च तथा जिनेन्द्राणाम्" ॥१८५॥

—जीवदया, कषायनिग्रह, साधर्मिक वात्सल्य और जिनेन्द्रोंकी भक्ति यही जिनशासनका सार है।

तथा- धर्मचिन्तया स्वपनमिति ॥४२॥ (१७५)

मूलार्थ-और धर्मचिन्तन करते हुए सोना चाहिये ॥४२॥

विवेचन-धर्म चिन्तन कैसे करना सो कहते हैं—

"धन्यास्ते वन्दनीयास्ते, तैस्त्रैलोक्यं पवित्रितम्।
यैरेष भुवनक्लेशी, काममल्लो विनिर्जितः" ॥११६॥

—जिन्होंने जगत्को कष्ट देनेवाले कामदेवको जीता है वे धन्य हैं, वे वंदनीय हैं तथा उनके द्वारा यह तीनो लोक पवित्र हुए हैं॥

ये तथा ऐसी शुभ भावनाओंको सोचते हुए सोना चाहिये। क्योंकि शुभ भावना व शुभ चिंतन करते हुए सोया हुआ मनुष्य उतने समयके लिये शुभ परिणामवाला रहता है।

तथा-नमस्कारेणावबोध इति ॥४३॥ (१७६)

मूलार्थ-नमस्कार मन्त्र कहते हुए जागना चाहिये ॥४३॥

विवेचन-नमस्कारेण-सर्व कल्याणरूप नगरके श्रेष्ठी (नगर-सेठ) ऐसे पचपरमेष्ठि द्वारा अधिष्ठित 'नमो अरिहंताणं' आदि शब्दों-वाला प्रख्यात रूपवाला नवकार मंत्र, अवबोध- निद्रात्याग।

प्रातःकालमें ऊठते हुए निद्रात्यागके समय नमस्कार मंत्रका स्मरण करना चाहिये। परम कल्याणकारी अरिहंत आदि पदोंको नमस्कार करनेवाला यह पदस्मरण करते हुए ऊठना चाहिये। यह परमेष्ठि नमस्कार महागुणवान है। कहा है कि—

'एष पञ्चनमस्कारः, सर्वपापप्रणाशनः।
मङ्गलानां च सर्वेषां, प्रथमं भवति मङ्गलम्' ॥११७॥

—ये पांच नमस्कार सर्व पापोंको नाश करनेवाले हैं और सर्व मंगलोमें मुख्य (प्रथम) मगल है।

तथा–प्रयत्नकृतावश्यकस्य विधिना चैत्यादि-वन्दनमिति ॥४४॥ (१७७)

मूलार्थ–प्रयत्नसे आवश्यक क्रिया करके विधि सहित चैत्यवंदन करना ॥४४॥

विवेचन–आवश्यक– यह आवश्यक क्रिया मल-मूत्रका त्याग तथा अंगप्रक्षालन, नहाना तथा शुद्ध वस्त्र ग्रहण करना आदि हैं। **विधिना**– पुष्पादि द्वारा पूजा करके मुद्रा, न्यास आदि प्रसिद्ध विधि द्वारा– चैत्यवंदन करना चाहिये। तथा माता-पिता आदि गुरुजनोंका वंदन भी।

प्रातःकाल ऊठनेके पश्चात् शारीरिक क्रियाएं करना। मलमूत्रका त्याग करके नहाकर तथा वस्त्र धारण करके विधिसे प्रभुकी पूजा आदि करके चैत्यवंदन करना। माता-पिता आदि गुरुजनोका तथा साधु आदिका वंदन व भक्ति करना चाहिये। कहा है कि—

"चैत्यवन्दनतः सम्यक्, शुभो भावः प्रजायते।
तस्मात् कर्मक्षयः सम्यक्, ततः कल्याणमश्नुते" ॥११८॥

—चैत्यवंदनसे सम्यक् प्रकारसे शुभ भाव उत्पन्न होते हैं, उससे सर्व कर्मका क्षय होता है, उससे सर्व कल्याणकी प्राप्ति होती है इत्यादि फल प्राप्ति है।

तथा–सम्यक्प्रत्याख्यानक्रियेति ॥४५॥ (१७८)

मूलार्थ-और सम्यक् प्रकारसे पच्चक्खाण ग्रहण करे ॥४५॥

विवेचन-सम्यक्- जैसे बने वैसे मान, क्रोध, अनाभोग (अविचार) आदि दोषोंका त्याग करके, प्रत्याख्यान- मूलगुण तथा उत्तरगुणकी वृद्धिके लिये पच्चक्खाण करना। इच्छानिरोध इसका हेतु है। क्रिया- ग्रहण करना।

मान, क्रोध, अनाभोग आदि दोषोको टालते हुए पच्चक्खाण करना चाहिये। इससे इच्छानिरोध होता है तथा मन और आत्माकी क्रमशः शुद्धि प्रकट होती है। परिणाम किये हुए सावद्य कर्मके सेवनके साथ अपरिमित सावद्यका त्याग करनेसे महान् प्राप्ति होती है। कहा है कि—

"परिमितमुपभुञ्जानो, ह्यपरिमितमनन्तकं परिहरञ्च।
प्राप्नोति च परलोके, ह्यपरिमितमनन्तक सौख्यम्" ॥११९॥

—परिमित सावद्य कर्म करते हुए भी अनन्त अपरिमित सावद्यका त्याग करनेवाला परलोकमें निश्चय ही अपरिमित अनंत सुख पाता है।

तथा-यथोचितं चैत्यगृहगमनमिति ॥४३॥ (१७९)

मूलार्थ-योग्य रीतिसे मंदिरमें जाना चाहिये ॥४६॥

विवेचन-यथोचितं-यथायोग्य, चैत्यगृहगमनम्-जिनभवन अर्थात् मंदिरमें अरिहंत प्रभुके बिंब या मूर्तिके दर्शनार्थ प्रत्याख्यान क्रियाके बाद जाना चाहिये।

पच्चक्खाण क्रियाके बाद यथोचित रीतिसे जिनमंदिरमें प्रभुके दर्शनार्थ जाना चाहिये। श्रावक दो प्रकारके कहे हैं-ऋद्धिवान तथा

ऋद्धिरहित। ऋद्धिवान अर्थात् राजा आदि तथा धनी कुटुंबवाला, अपने सारे परिवार व समुदायसहित मंदिरमें जावे जिससे शासनकी प्रभावना होती है। दूसरा—भी ऋद्धिरहित श्रावक भी स्वकुटुंब सहित मंदिरमे जावे। समुदायमें किये हुए कर्म भवांतरमे भी समुदायमें ही भोगे जाते हैं।

तथा-विधिनाऽनुप्रवेश इति ॥४७॥ (१८०)

मूलार्थ- और विधिसहित मंदिरमें प्रवेश करे ॥

विवेचन—चैत्यगृह अर्थात मंदिरमें विधिसहित प्रवेश करना चाहिये। प्रवेश करनेकी विधि इस प्रकार है—

"सच्चित्ताणं दव्वाणं विउस्सरयणाए, अचित्ताणं दव्वाणं विउस्सरणाए, एगसाडियएणं उत्तरासंगेण, चक्खुफासे अंजलि-पग्गहेणं मणसो एगत्तीकरणेणं"॥

—सचित द्रव्यका त्याग करके, अचित्त द्रव्यका त्याग किये बिना एकशाटिकेन—ओढनेके वस्त्रका उत्तरासन बनाकर, जिन बिंब देखते ही अंजलि जोडकर तथा मनको एकाग्र करके मंदिरमें प्रवेश करें।[1]

तत्र च उचितोपचारकरणमिति ॥४८॥ (१८१)

मूलार्थ—वहां उचित उपचार (सेवा-भक्ति) करना चाहिये।

विवेचन—उचित—अर्हत् बिंबके योग्य, **उपचार**—पुष्प, धूप आदिसे पूजा व सेवाभक्ति।

---

१ यदि राजा मंदिरमें जावे तो राजचिह्नोंका त्याग करे। राजचिह्न ये हैं—१ वाहन (जूते आदि), २ मुकुट, ३ तलवार, ४ छत्र व ५ चामर।

वहां मंदिरमें जाकर फल, फूल तथा धूप, दीप आदिसे प्रभुकी सेवा भक्ति व पूजा करना चाहिये ॥

ततो भावतः स्तवपाठ इति ॥४९॥ (१८२)

मूलार्थ-तब भावसे स्तोत्र पाठ या स्तवन आदि करना चाहिये ॥४९॥

विवेचन-जैसे दरिद्री व्यक्तिको लक्ष्मीका भंडार मीलने पर संतोष होता है, ऐसा प्रभुके पूजनसे सतोष पाकर भावना सहित गंभीर अर्थवाले, प्रभुके गुणोके वर्णनवाले, भक्ति तथा पूज्यभाव प्रदर्शन करनेवाले स्तवन व स्तोत्र आदिका उचित ध्वनिसे उच्चार करना चाहिये। अथवा सद्भूत गुणोको प्रगट करनेवाले नमस्कार आदि स्तवनोंसे प्रभुकी स्तुति करना चाहिये।

ततः चैत्यसाधुवन्दनमिति ॥५०॥ (१८३)

मूलार्थ-तब अरिहंत बिंब व साधुका वन्दन करना चाहिये ॥५०॥

विवेचन-प्रभुके दर्शन, पूजन, स्तवन आदि करके अन्य अरिहंत बिंबोंको तथा भाव अरिहंत, द्रव्य अरिहंत व नाम अरिहंत-सबको वन्दन करे तथा साधुओको और व्याख्यान आदिके लिये आये हुए वंदनीय मुनिराजोको वन्दना-नमस्कार करें। वंदनका अर्थ वंदन आदिके प्रसिद्धरूपसे साधुवंदन करना चाहिये। प्रभुवंदन तथा तत्पश्चात् क्या करना सो कहते हैं—

ततः गुरुसमीपे प्रत्याख्यानाभि-
व्यक्तिरिति ॥५१॥ १८४)

मूलार्थ—तब गुरुके सम्मुख पच्चक्खाण प्रगट (उच्चार) करे ॥५१॥

विवेचन—जो पच्चक्खाण पहले घर पर किया है उसको शुद्धि-सहित उत्तम साधुके समक्ष प्रगट करे अर्थात् गुरुकी साक्षीके लिये उसका गुरुके सामने उच्चारण करे।

ततो जिनवचनश्रवणे नियोग इति ॥५२॥ (१८५)

मूलार्थ—फिर जिनवचन सुननेमें ध्यान लगावे ॥५२॥

विवेचन—श्रावक—सम्यक्दर्शन आदिको प्राप्त करके हमेशां साधुजनोंसे सामाचारी—अपना कर्तव्य संबधी उपदेश—सुने वह श्रावक है। इस अर्थको पूरा करनेके लिये इसका अनुसरण करनेके लिये जिनवचन—धर्मशास्त्र सुननेमें मनको लगाना चाहिये। धर्मश्रवण बार बार करना चाहिये। अतः प्रतिदिन श्रवण करना जरूरी है।

ततः सम्यक् तदर्थालोचनमिति ॥५३॥ (१८६)

मूलार्थ—तब जिनवचनके अर्थ पर सम्यक्रीतिसे विचार व मनन करे ॥५३॥

विवेचन—संदेह, विपर्यय तथा अनध्यवसायका त्याग करके सम्यक् प्रकारसे जो जिनवचन सुना है उस पर उसके अर्थ पर मनन करना चाहिये। उसे ठीक प्रकारसे विचारना चाहिये। उस पर बार बार विचार करना चाहिये, क्योंकि "चिंतन विना श्रवण वृथा है"। अतः यदि मनन न करे तो सुननेका कुछ भी गुण नहीं होता, अतः मनन करे ॥

ततः आगमैकपरतेति ॥५४॥ (१८७)

मूलार्थ-जिन आगमको ही प्रधान माने ॥५४॥

विवेचन-आगमः-जिन सिद्धांत-स्याद्वाद, एकपरता-वही एक (अन्य नहीं) मुख्य है। तथा हर समय श्रीजिनसिद्धांतको ही सब क्रियाओंमें प्रधान माने तथा शंकाके समय आगमके बोधके अनुसार चले। उसमें एकपरता रखे। सर्व क्रियाओंमें आगमको प्रधान समझकर प्रवृत्ति करे।

ततः श्रुतशक्यपालनमिति ॥५५॥ (१८८)

मूलार्थ-आगमसे सुने हुए का यथाशक्ति पालन करे ॥५५॥

विवेचन-श्रुतस्य-आगमसे जो उपलब्ध हुआ है-जो सुना है उसका। शक्यस्य-जो करनेकी क्षमता हो उतना अनुष्ठान, पालनम्-उसमें प्रवृत्ति-सामायिक, पौषध आदि करना।

आगमसे जो कुछ सुना हो तथा जितना करनेकी शक्ति हो उस तरह उतनेका पालन करे, उसमें प्रवृत्ति करे सामायिक, पौषध आदि करे तथा श्रवण किये हुएका पारायण व मनन करे॥

तथा-अशक्ये भावप्रतिबन्ध इति ॥५६॥ (१८९)

मूलार्थ-अशक्य अनुष्ठानमें भावना रखे ॥५६॥

विवेचन-अशक्ये-जो न पाला जा सके, उस प्रकारकी शक्ति सामग्रीके अभावसे जिसका पालन न किया जा सके, जैसे साधुधर्म आदिकी अन्तःकरणसे भावना रखना।

मनुष्य जितना कर सके उसे करना चाहिये। जो अनुष्ठान उसे

न बन पडे उसके प्रति शुद्ध भावना रखे "मैं करुं" ऐसा भाव रखे, जिससे ऐसे सदनुष्ठान करनेके समान ही फलप्राप्ति होती है। निरंतर उच्च भावना रखना। सर्वविरति आदिका सोचना, जैसे—

"अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे,
थइशुं बाह्य अभ्यंतर निर्ग्रन्थ जो;
सर्व संबंधनां तीक्ष्ण बंधन छेदीने,
विचरशुं क्व महापुरुषने पंथ जो।'

अनुष्ठानका फल अनुमोदनसे—भावनासे भी मिल जाता है कहा है कि—

"नार्या यथाऽन्यसक्तायास्तत्र भावे सदा स्थिते।
तद्योगः पापबन्धाय, तथा धर्मेऽपि दृश्यताम्" ॥१२०॥

—जो स्त्री अन्य पुरुषमे आसक्त है और भावनासे उसे हर समय चाहती रहती है उसकी अपने पति व कुटुम्बकी सेवाभक्तिमें प्रवृत्ति होने पर भी उसको पापबंध ही होता है। उसी तरह धर्ममें भी समझना अर्थात् सावद्य व्यापार करते हुए तथा श्रावक धर्म पालन करते रहने पर भी सर्व विरतिकी भावना होनेसे उस प्रकारके अनुष्ठान तुल्य फल मिलता है।

तथा-तत्कर्तृषु प्रशंसोपचाराविति ॥५७॥ (१९०)

मूलार्थ-और अशक्य अनुष्ठान करनेवालेकी प्रशंसा व उपचार करना चाहिये ॥५७॥

विवेचन-तत्कर्तृषु- अपनी आत्माकी अपेक्षा जो अनुष्ठान अशक्य है उसे करनेवाले पुरुषसिंहका, **प्रशंसोपचारौ**- बार बार

गुणोंकी स्तुति करना तथा उनके योग्य अन्नपान वस्त्र आदिसे सेवा व सहायता करना।

जिस सर्व विरतिको स्वयं ग्रहण नहीं कर सकते उसे अंगीकार करनेवाले पुरुषसिंहके गुणोंकी प्रतिक्षण प्रशंसा करना चाहिये। उसका गुणगान तथा योग्य वस्तुओंसे सेवा आदर व सहायता करना चाहिये।

तथा-निपुणभावचिन्तनम् ॥५८॥ (१९१)

मूलार्थ-सूक्ष्म बुद्धिसे ज्ञात होनेवाले भावोंका चिंतन करना चाहिये ॥५८॥

विवेचन-निपुणानाम्- अति निपुण बुद्धिसे सूक्ष्मभाव समझने योग्य, **भावानाम्** - उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके स्वभाववाले सत् पदार्थोंका जैसे बंध, मोक्ष आदिका विवेचन या चार निक्षेपोंसे वस्तुविवेचन या सप्तभंगीके स्वरूपका विचार करना।

धर्ममें द्रव्य, गुण पर्यायको सूक्ष्म स्वरूपका विचार करना, सत् वस्तुको लक्षणसे परीक्षा व विवेचन, चार निक्षेपा व सप्तभंगी आदि सूक्ष्म भावोंका चिंतन व विचार करना चाहिये। इस तत्त्वचिंतनसे बुद्धि बढती है तथा हृदय पर सत्यकी असर बढती है। बंध, मोक्ष आदिका विवेचन करे जिससे तत्त्व जाननेसे मोक्षकी तरफ जीव प्रवृत्तिमय होवे। कहा है कि—

"अनादि निधने द्रव्ये, स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति, जलकल्लोलवज्जले" ॥१२१॥

—जैसे जलमें तरंगें वारंवार उत्पन्न होती हैं तथा समाप्त होती

हैं वैसे ही अनादि अनंत द्रव्यके पर्याय भी क्षण क्षणमें उत्पन्न व नष्ट होते हैं।

"स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य, रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
राग-द्वेषाक्लिन्नस्य, कर्मबन्धो भवत्येवम्" ॥१२२॥

--जैसे स्नेह (तेल)से लिप्त शरीरको रज चिपटती है वैसे राग द्वेषसे लिप्त आत्मामें कर्मबन्ध होते हैं या कर्म उसको चिपटते हैं इत्यादि प्रकारसे शास्त्रवचनोंका चिंतन करना चाहिये।

तथा-गुरुसमीपे प्रश्न इति ॥५९॥ (१९२)

मूलार्थ-और गुरुसे प्रश्न करने चाहिये ॥५९॥

विवेचन-जब निपुण व सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करने पर भी तथा गंभीरतासे सोचने पर भी कोई भाव स्वय समझमें न आवे, किसी वस्तुका निश्चय स्वयं न कर सके तब संवेगी व गीतार्थ गुरुके पास शुद्ध विनयपूर्वक इस प्रकार प्रश्न पूछना चाहिये। जैसे- "हे भगवन्! मेरे यत्न करने पर भी मैं इसका अर्थ नहीं समझ सका हूं या मुझे अर्थज्ञान न हो सका अतः आप हमें उसका बोध दीजिये- हमें समझाइये। गुरुगमसे कई बातें समझमें आती हैं।

तथा-निर्णयावधारणमिति ॥६०॥ (१९३)

मूलार्थ-गुरुके निर्णय किये हुए अर्थकी, वचनकी अवधारणा करे ॥६०॥

विवेचन-निर्णयस्य-गुरुद्वारा निरूपित निश्चयकारी वचनका, अवधारणम्- ध्यान देकर ग्रहण करना।

गुरुने जो अर्थ बताया हो, जो निश्चय करके वचन कहा हो उसे ध्यान देकर मनसे ग्रहण करना चाहिये। एकाग्र चित्तसे मनमें धारणा करे। कहा है कि—

'सम्मं वियारियव्वं, अट्ठपयं भावणापहाणेणं।
विसए य ठावियव्वं, बहुसुयगुरूणो सयासाओ" ॥१२३॥

—बहुश्रुत गुरुसे सुने हुए अर्थका भावना प्रधान श्रावक सम्यक् प्रकारसे विचार करे तथा उसके स्वरूपका विचार करे।

तथा-ग्लानादिकार्याभियोग इति ॥६१॥ (१९४)

मूलार्थ-ग्लान आदिका कार्य करनेमें सावधान रहना ॥

विवेचन-ग्लानादीनाम्- बीमार, बालक, वृद्ध आगमको ग्रहण करनेके लिये उद्यत तथा अतिथि आदि साधु व साधर्मिकोंका, **कार्याणि**- अन्न, पान, वस्त्र, औषध, पुस्तक, आश्रय तथा सहजागरण आदि कार्योंमें, **अभियोग**-सावधानीसे तथा चित्त देकर कराना।

ऐसे साधु व साधर्मिक जनोंका जो बीमार हो या बालक, वृद्ध या अतिथि हों उनके कार्योंको (उपरोक्त) ध्यान देकर करना चाहिये।

तथा-कृताकृतप्रत्युपेक्षेति ॥६२॥ (१९५)

मूलार्थ-कृत व अकृत कार्योंके प्रति सावधानी (व तत्परता) रखना ॥६२॥

विवेचन-मंदिरके तथा ग्लान आदि जनोंके किये हुए या न किये हुए (कृत व अकृत) सब कार्योंका बराबर ध्यान रखना। निपुण नेत्रोंद्वारा उसकी गवेषणा करना चाहिये। उसके लिये तत्पर

रहे। अन्यथा अपनी शक्तिका व्यर्थ क्षय होनेका प्रसंग आता है। अर्थात् कृत कर्मको छोडकर अकृत करे।

ततश्च-उचितवेलयाऽऽगमनमिति ॥६३॥ (१९६)

मूलार्थ-वहांसे उचित समय पर घर पर लौटे ॥६३॥

विवेचन-उचितवेलया- योग्य समय होने पर व्यापार, राजसेवा या व्यावहारिक कार्यका समय हो जाने पर, **आगमनम्**- मंदिर तथा गुरुके पाससे लौटना।

उचित समय हो जाने पर जैसे व्यापार, नौकरी अथवा अन्य धंधे पर जानेके समयसे कुछ पूर्व मंदिर, उपाश्रय आदिसे घर लौटे। गृहस्थको अपने कर्तव्यके लिये घर आना जरूरी है।

ततो धर्मप्रधानो व्यवहार इति ॥६४॥ (१९७)

मूलार्थ-तब धर्मपूर्वक अपना व्यवहार करे ॥६४॥

विवेचन-व्यवहार-'कुलक्रमागत' (१-३) इत्यादि सूत्रमें कहे गये अनुसार अनुष्ठान करना।

प्रथम अध्यायमे कहे हुए "कुलक्रमागत" आदि सूत्रके अनुसार सर्व अनुष्ठान करना। गृहस्थ उचित संसारव्यवहार करे पर धर्मभावना हर समय रखे। प्रत्येक कार्यमें धर्मको प्रधान समझ कर उच्च भावना सहित कार्य करे॥

तथा-द्रव्ये संतोषपरतेति ॥६५॥ (१९८)

मूलार्थ-द्रव्य-धन, धान्य आदिमें संतोषपरता या संतोषप्रधानता-मुख्यतः संतोष रखना। धार्मिक पुरुष अपने परिमाण

किये हुएके अनुसार तथा निर्वाह मात्रके लिये जो द्रव्य-धन मिले उसमें संतोष रखना ॥६५॥

विवेचन-धार्मिक गृहस्थ अपना व्यवहार करते समय द्रव्यका उपार्जन करनेमें मित द्रव्य निर्वाह मात्रके हेतुसे संतोष रखकर उपार्जन करे। असंतोष दुःखका हेतु है। कहा है—

"अत्युष्णात् सघृतादन्नादच्छिद्रात् सितवाससः।
अपरप्रेष्यभावाच्च, शेषमिच्छन् पतत्यधः" ॥१२४॥

—थोडे घीके साथ गरम अन्न मिले, छिद्ररहित सफेद वस्त्र मिले तथा पराई नौकरी न करनी पडे इतनेसे संतोष माने। बाकीकी अधिक इच्छा करनेवाला नीचे गिरता है। उसका अधः पात होता है। कहा है—

"संतोषामृततृप्तानां, यत् सुख शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानां, इतश्चेतश्च धावताम्" ॥१२५॥

—संतोषरूपी अमृतसे तृप्त तथा शांत चित्तवालोंको जो सुख प्राप्त है वह धनमें लुब्ध हुए इधर उधर भटकते हुए पुरुषोंको कहांसे प्राप्त हो सकता है? उद्विग्न चित्तको संतोष कहां और संतोष बिना सुख कहां?।

तथा-धर्मे धनबुद्धिरिति ॥६६॥ (१९९)

मूलार्थ-'धर्म ही धन है' ऐसी बुद्धि रखे ॥६६॥

विवेचन-धर्मे-सर्व वांछितकी असाधारण सिद्धि देनेवाले या सिद्धिके मूल श्रुत-चारित्ररूप धर्ममें, धनबुद्धि-निरंतर यह सोचना कि बुद्धिमानोंका धर्म ही धन है।

सर्व वांछित पदार्थोंकी अविकल सिद्धिका मूल श्रुतचारित्ररूप धर्म ही धन है, ऐसा निरंतर सोचते रहना चाहिये। धर्मसे ही संतोष मान कर अधिक धनकी लालसा नहीं करना चाहिये। यह शुभ परिमाण सतत रखे॥

तथा-शासनोन्नतिकरणमिति ॥६७॥ (२००)

मूलार्थ-जैन शासनकी उन्नति करना चाहिये ॥६७॥

विवेचन-शासनस्य-सर्व हेय और उपादेय भावोंको प्रगट करनेमें सूर्य समान ऐसे श्रीजिन भगवान द्वारा निरूपित वचनरूप शासन, उन्नति-उच्च भावसे अच्छी रीतिसे न्याययुक्त व्यवहार करना।

श्रीजिन भगवान द्वारा प्रणीत शास्त्र सिद्धांतरूप शासनकी उन्नति करनेमें तत्पर रहना। ठीक रीतिसे न्यायका व्यवहार करनेसे, योग्यतानुसार लोगोका विनय करना, दीन व अनाथोंका उद्धार, शुद्ध यतियोंकी पूजा व सत्कार, शुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन, जिनमंदिर बनवाने, यात्रा, स्नात्र आदि विविध उत्सव करना, आदि उपायोंमे जैन शासनकी उन्नतिमे निरतर रत रहना चाहिये। उसमें बहुत गुण रहे हुए हैं। कहा है कि—

"कर्तव्या चोन्नतिः सत्यां, शक्काविह नियोगतः।
अवन्ध्यं कारणं ह्येषा, तीर्थकृन्नामकर्मणः" ॥१२६॥

—इस लोकमें अपने शासनकी उन्नति यथाशक्ति करना चाहिये क्योंकि यह तीर्थंकर नाम कर्मका उपार्जन करनेका सही कारण है।

विभवोचितं विधिना क्षेत्रदानमिति ॥६८॥ (२०१)

मूलार्थ-अपने वैभवके अनुसार विधिवत् क्षेत्रमें दान करे ॥६८॥

विवेचन-विभवोचित-स्ववैभवके अनुसार, विधिना-आगे कही जानेवाली विधिसे, क्षेत्रेभ्यः-क्षेत्रोंमे, दानम्-योग्य वस्तु देना।

प्रत्येक गृहस्थ अपने वैभवके अनुसार योग्य अधिकारी व पात्रको यथाशक्ति विधिवत् दान करे। अन्न, पान, वस्त्र, औषध, पात्र आदि उचित वस्तुका अर्पण करे। शास्त्रकार विधिके बारेमे कहते हैं—

सत्कारादिविधिर्निःसंगता चेति ॥६९॥ (२०२)

मूलार्थ-सत्कार आदि सहित मोक्षसे भिन्न सब इच्छाओंका त्याग करके जो काम करे वह विधिवत् है ॥६९॥

विवेचन-सत्कार-ऊठना, आसनदेना, वन्दन करना आदि विनयपूर्वक देश, कालकी आराधना व विशुद्ध श्रद्धाको प्रकट करनेके लिये विनयसहित दान करना, निसंगता-ऐहिक व पारलौकिक सब प्रकारके फलोंकी अभिलाषा त्याग कर केवल सकल क्लेशके हरण करनेवाले और अकलंकित मोक्षकी ही इच्छा करना।

सत्कार सहित देशकालके अनुसार श्रद्धा प्रगट हो उस प्रकार किया हुआ दान विधिवत् दान है। साथ ही निष्कामवृत्तिसे दान देना चाहिये। इसलोक व परलोकके किसी भी सुखकी वाछा न रखकर केवल मुक्तिकी इच्छा करे।

वीतरागधर्मसाधवः क्षेत्रमिति ॥७०॥ (२०३)

मूलार्थ-वीतराग धर्मसे युक्त साधु योग्य क्षेत्र हैं ॥७०॥

विवेचन-वीतरागधर्म-श्रीजिन भगवानद्वारा निरूपित वीत-राग देवके धर्ममें ही श्रद्धा रखनेवाले साधु दानका उपयुक्त क्षेत्र हैं। वे इसके योग्य पात्र हैं। उसका विशेष लक्षण इस प्रकार है—

"क्षान्तो दान्तो मुक्तो, जितेन्द्रियः सत्यवागभयदाता।
प्रोक्तस्त्रिदण्डविरतो, विधिग्रहीता भवति पात्रम्" ॥१२७॥

—क्षमावान्, इन्द्रिय दमन करनेवाला, मुक्त, इंद्रियोंको जीत-नेवाला, सत्य बोलनेवाला, अभयदाता, मन वचन व काया-तीनों दंडसे रहित और विधिका ग्रहण करनेवाला योग्य पात्र है।

तथा-दुःखितेष्वनुकम्पा यथाशक्ति द्रव्यतो भावतश्चेति ॥७१॥ (२०४)

मूलार्थ-दुःखी पुरुषों पर द्रव्य तथा भावसे यथाशक्ति अनुकम्पा व दया रखे ॥ ७१ ॥

विवेचन-दुःखितेषु-भवांतरमे जो पाप किये हैं उनके विपाकसे-प्राप्त हुए तीव्र क्लेश भोगनेवाले प्राणियों पर, **अनुकम्पा**-कृपा करे, **यथाशक्ति**-अपने सामर्थ्यके अनुसार, **द्रव्यतः**-अन्न, वस्त्र, धन आदिसे, **भावतः**-इस भीषण भव भ्रमणासे वैराग्य उत्पन्न करा कर।

जो मनुष्य भवांतरके पापोंके उदयसे, कर्मविपाकसे रोगग्रस्त हैं या अन्य कष्ट सहते हैं उन पर अनुकम्पा या दया करना चाहिये। अपने सामर्थ्यके अनुसार अन्न, वस्त्र या धन देकर उसकी सेवा करे। साथ ही भाव दया भी रखे। उसे इस संसारसे भीषण कष्टोंके कारणको समझावे तथा सद्‌बोध देवे जिससे वैराग्य उत्पन्न हो। दुःखी

जनों पर अनुकम्पा करके उनका उपकार करना धर्मका हेतु है। कहा है कि—

" श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥१२८॥
" अन्योपकारकरणं, धर्माय महीयसे च भवतीति।
अधिगतपरमार्थानामविवादो वादिनामत्र " ॥१२९॥

—जो करोडों ग्रन्थोंमें कहा है वह मैं आधे श्लोकमें कहता हूं। परोपकार पुण्यके लिये तथा परपीडन (दूसरोंको कष्ट देना) पापका हेतु है ॥

परमार्थ प्राप्त तथा तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके मतसे परोपकार करना महत् परमार्थके लिये होता है। इसमें वादीजनोंमें दो मत नहीं है (सर्व मान्य है) ॥

पहले कीर्तिके लिये फिर सुखेच्छासे तथा अंतत निःस्वार्थ परोपकार बुद्धिसे दान दिया जाता है इस तरह क्रमश बढते बढते उच्च भावनाको पहुंचे। यही उच्च भावना युक्त दान एक महान् धर्म है।

तथा—लोकापवादभीरुतेति ॥७२॥ (२०५)

मूलार्थ—लोकापवादसे डरते रहना चाहिये ॥७२॥

विवेचन—लोकापवाद—सब लोगोंका द्वेष हो वह, भीरुता— डरकी, भावना।

जिस बातसे अपयश मिले वह न करना चाहिये। लोगोंकी सामुदायिक नाखुश होनेकी स्थितिसे बचना चाहिये। उससे हर समय डरते रहना चहिये तथा दूर रहना चाहिये। अपयशसे प्रतिष्ठा कम

होती है। अतः प्रत्येक कार्यको निपुणबुद्धिसे विचार कर तथा उस प्रकारसे हमेशा योग्य वृत्तिसे प्रत्येक कार्य करे जिससे सर्व वांछित सिद्धिको देनेवाली लोकप्रियता वृद्धिको प्राप्त हो और कोई भी जनापवाद न हो। लोगोंमें अप्रसिद्ध (निंदा) या अपयश मरनेसे भी बुरा है। कहा है कि—

"वचनीयमेव करणं भवति, कुलीनस्य लोकमध्येऽस्मिन्।
मरणं तु कालपरिणतिरियं च जगतोऽपि सामान्या" ॥१२९॥

—इस लोकमें कुलीनके लिये कलंक या अपयश (निंदा) ही मरण तुल्य है। काल परिणामसे जो मृत्यु होती है वह तो सबको सामान्य ही है।

तथा-गुरुलाघवापेक्षणमिति ॥७३॥ (२०६)

मूलार्थ-सब बातोंमें गुरु लघुकी- बडे छोटेकी अपेक्षा रखना चाहिये ॥७३॥

विवेचन-अधिक लाभ देनेवाला व कम लाभ देनेवाला गुरु व लघु कहलाता है। धर्म, अर्थ व काम- तीनों पुरुषार्थोंमें तथा सब कार्योंमें गुण किसमें अधिक है व किसमें कम है या दोष किसमें कम व किसमें ज्यादा है इसका अवश्य पूर्णतः विचार करे। उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके बलकी अपेक्षासे विचार करे- यह बुद्धिमानोंका आवश्यक कर्तव्य है। इस प्रकार गुरु व लघुकी- अधिक व कम लाभवालेकी निपुणतासे विचार करे। तब क्या करना, शास्त्रकार कहते हैं—

बहुगुणे प्रवृत्तिरिति ॥७४॥ (२०७)

मूलार्थ–अधिक गुणवालेमें प्रवृत्ति करे ॥७४॥

विवेचन–प्रायः प्रत्येक प्रयोजन व कार्य गुण व लाभसे तथा दोषसे मिश्रित होता है। उसके गुणदोषका विवेचन मनसे करना चाहिये और अधिक गुणवाले प्रयोजनमें प्रवृत्ति करना चाहिये। जैसे कि वणिक अधिक लाभ व कम हानिवाला व्यापार करता है। आर्ष मुनिजन इस बारेमें कहते हैं कि—

"अप्पेण बहुमेसेज्जा, एयं पण्डियलक्खणं।
सव्वासु पडिसेवासु, एवं अट्ठपयं विऊ" ॥१२९॥

—अल्प दोषसे अधिक गुणोंकी इच्छा करना पंडितका लक्षण है। और सर्व अपवाद कार्योंमें यही सूत्र ध्यानमें रखना चाहिये॥

इस जगतमें कोई भी कार्य संपूर्ण व शुद्ध नहीं है अत: गुण-दोषका विचार करके अधिक लाभदायक कर्म करनेमें तत्पर रहे।

तथा–चैत्यादिपूजापुरःसरं भोजनमिति ॥७५॥ (२०८)

मूलार्थ–चैत्य आदिकी पूजा करके भोजन करना चाहिये॥

विवेचन–चैत्यादि– जहां जिनबिंब हों उन मंदिरोंकी तथा साधु व साधर्मी भाईयोंकी, पूजा– मंदिरमे फूल व धूप आदिसे तथा साधु व साधर्मिककी अन्न, पान आदिके उपचारसे, भोजनम्—अन्न ग्रहण।

भोजन करनेका समय होने पर मंदिरमें श्रीवीतराग प्रभुकी पूजा करके तथा साधु व साधर्मिक जनोंकी यथोचित सेवा करके उसके बाद भोजन या अन्न ग्रहण करे। कहा भी है कि—

"जिणपूओचियदाणं, परियणसंभालणा उचियकिच्चं।
ठाणुववेसो य तहा, पच्चक्खाणस्स संभरणं" ॥१३०॥

—जिनपूजा, उचित दान, पोष्य परिजनोंकी संभाल, उचित कार्य और योग्य स्थान ग्रहण करना तथा पच्चक्खाणको याद करना—ये कार्य भोजनके पहले करनेके हैं।

तथा-तदन्वेव प्रत्याख्यानक्रियेति ॥७६॥ (२०९)

मूलार्थ-भोजन उपरांत पच्चक्खाण करे ॥७६॥

विवेचन-तदन्वेव- भोजनके अनन्तर, **प्रत्याख्यान-**दुविहार, तिविहार आदि। अशन, पान, खादिम, स्वादिम- इन चार आहारमेंसे दो, तीन या चारोंका त्याग करना।

भोजन कर लेनेके पश्चात् यथाशक्ति दुविहार, तिविहार या चौविहारका पच्चक्खाण करे। आहारका संवरण करे।

तथा-शरीरस्थितौ प्रयत्न इति ॥७७॥ (२१०)

मूलार्थ-शरीरकी स्थिति, उसकी संभालके लिये प्रयत्न करे या शरीररक्षाका प्रयत्न करे ॥७७॥

विवेचन-शरीरस्थितौ- तेलमर्दन, मालिश, स्नान आदि क्रियायें जो शरीररक्षा निमित्त की जावे। **यत्नः**- आदर।

शरीरकी स्थिति अर्थात् शरीररक्षा व उसके नीरोग बने रहनेके लिये आवश्यक कार्योंको आदरपूर्वक करे। शरीर सारी धर्मक्रिया व ज्ञानप्राप्तिका अति आवश्यक साधन है, अतः उसकी रक्षा पर अवश्य ध्यान दे। कहा है कि—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां, शरीरं कारणं यतः।
ततो यत्नेन तद्रक्ष्यं, यथोक्तैरनुवर्त्तनैः' ॥१३१॥

—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सबका साधन शरीर ही है अतः पूर्वोक्त कार्योंद्वारा यत्नसे शरीरकी रक्षा करना चाहिये। बालश्रम, कसरतका अभाव तथा आरोग्य नियमोंकी अज्ञानतासे हमारा शारीरिक बल बहुत घट गया है।

तथा-तदुत्तरकार्यचिन्तेति ॥७८॥ (२११)

मूलार्थ-और (शरीर स्थितिके लिये) भविष्यके कार्योंकी चिंता करे ॥७८॥

विवेचन-तदुत्तरकार्य- शरीरकी स्थितिके लिये आवश्यक बादमें करनेके कार्य अर्थात् धनोपार्जन आदि, **चिन्ता**- विचार करना।

शरीरकी स्थितिके लिये अन्नपान आदि आवश्यक है तथा स्वजन परिवारका निर्वाह भी आवश्यक है, इसके लिये द्रव्यकी आवश्यकता रहती है, अत. द्रव्य उपार्जन करनेके लिये, धन कमानेके लिये व्यापार आदि उद्यम या कार्य करे। श्रावक निरुद्यमी न बैठे पर निर्वाहके लिये आवश्यक द्रव्यकी उत्पत्तिके लिये प्रयत्न करे।

तथा-कुशलभावनायां प्रबन्ध इति ॥७९॥ (२१२)

मूलार्थ-शुभ भावनाओंमें चित्तको लगाना चाहिये॥७९॥

विवेचन-कुशल भावनाओंके बारेमे कहा है कि—

'सर्वेऽपि सन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् पापमाचरेत्" ॥१३२॥

—सर्व प्राणी सुखी हों, सब निरोगी हों, सर्व कल्याणको प्राप्त हों तथा कोई भी पापाचार न करे।

ऐसी शुभ भावनाएं और सर्वका शुभ चिंतन चित्तसे सहर्ष करे।

तथा-शिष्टचरितश्रवणमिति ॥८०॥ (२१३)

मूलार्थ-और शिष्ट पुरुषोंके चरित्रका श्रवण करे ॥८०॥

विवेचन-शिष्टचरितानां- प्रथम अध्यायमें 'शिष्टचरित-प्रशंसनमिति' (१-१४) नामक सूत्रमें कहे गये लक्षणोंवाले, **श्रवणं-** निरंतर सुनना।

शिष्ट पुरुषोंके, जिनके गुण प्रथम अध्यायमें बताये हैं, चरित्रको निरंतर सुनना चाहिये। उनके सुनने या जीवनचरित्रोके पढनेसे उनके गुणोंके प्रति आकर्षण पैदा हो कर उसे प्राप्तिकी इच्छा होती है और उससे प्राप्त गुणकी हानि संभव नहीं है। कई उपन्यास व निरर्थक पुस्तकें पढनेमे हमारा समय वृथा जाता है, जीवनचरित्र पढनेसे उनमेंसे हमें कुछ न कुछ बोध प्राप्त हो सकता है। उन अलौकिक गुणोमेंसे कोई न कोई गुणकी प्राप्ति अवश्य हो सकती है। उनको पढनेसे आत्मपरीक्षण भी उत्पन्न होता है।

तथा-सान्ध्यविधिपालनेति ॥८१॥ (२१४)

मूलार्थ-और संध्याकालकी विधिका पालन करे ॥८१॥

विवेचन-सान्ध्यविधि- संध्याकालमें करनेकी विधि अर्थात् दिनके अष्टमांश भागके शेष रहने पर (करीब ४ घडी या १॥ घंटा) भोजनादिसे निवृत्त होना तथा अन्य विधि-आवश्यक क्रियाएं करना।

संध्याकाल अर्थात् शामको करनेके अनुष्ठानमें तत्पर रहे। दिनके ८वें भागमें भोजन करके तथा अन्य व्यवहारको बंध करके अन्य आवश्यक क्रियाएं आदि करनेमें उद्यमवत हो। इस विषयमें

विशेष कहते हैं—

यथोचितं तत्प्रतिपत्तिरिति ॥८२॥ (२१५)

मूलार्थ-यथाशक्ति उस विधिको अंगीकार करे ॥८२॥

विवेचन-अपने सामर्थ्यके अनुसार संध्याविधिका, जो आगे कही जायगी, श्रावक अंगीकार करे तथा उनमें प्रयत्न करे। वह कैसी है सो कहते हैं—

पूजापुरस्सरं चैत्यादिवन्दनमिति ॥८३॥ (२१६)

मूलार्थ-संध्यापूजा सहित चत्यादिका वंदन करे ॥८३॥

विवेचन-उस समयके योग्य पूजा करके-धूप आरतीके बाद जिनमंदिर तथा गृहमंदिर (यदि हो तो) का वंदन तथा गुरु व मातापिताका वंदन करे।

तथा-साधुविश्रामणक्रियेति ॥८४॥ (२१७)

मूलार्थ-और साधुको विश्राम देनेकी क्रिया करे ॥८४॥

विवेचन-साधूनां- निर्वाण या मोक्षकी आराधनाके योगमें प्रवृत्त पुरुषोंको, और स्वाध्याय, ध्यान आदि अनुष्ठानसे थके हुए ऐसे साधुओंको, **विश्रामणा**-सेवा करनेवाले अन्य साधुकी अनुपस्थितिमें उनकी सेवा करके उनको विश्राम देना-अर्थात् वैयावच्च करना।

साधुलोग स्वाध्याय, ध्यान और योगमें तल्लीन होनेसे उनको जो थकान होती है उसे वैयावच्च द्वारा दूर करनेका प्रयत्न करे।

तथा-योगाभ्यास इति ॥८५॥ (२१८)

मूलार्थ-योगका अभ्यास करना चाहिये ॥८५॥

विवेचन-योगस्य- सालंबन व निरालम्बन भेदवाला योग-चित्तको एकाग्र करनेकी प्रवृत्ति, अभ्यास- बार बार प्रयत्न करना।

पतंजलि कहते हैं- "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध"- योग चित्तकी वृत्तिका निरोध है। चित्त प्रतिक्षण अस्थिर रहता है उसको एकाग्र करनेका प्रयत्न करे। यह योग सालंबन और निरालंबन इस तरह दो प्रकारका है। स्थूल पदार्थ पर मनको एकाग्र करना सालंबन व तत्त्व या निराकार वस्तुका ध्यान निरालंबन योग है। कहा है—

"सालम्बनो निरालम्बनश्च योगः परो द्विधा ज्ञेयः।
जिनरूपध्यानं खल्वाद्यः तत्तत्त्वगस्त्वपरः" ॥१२३॥

—उत्कृष्ट योग सालंबन और निरालंबन- ऐसे दो प्रकारका है। जिनेश्वरकी प्रतिमा या समवसरणमें बैठे जिनके रूपका ध्यान करना सालंबन है, तथा जिनतत्त्व या केवलज्ञानादि सहित जीवप्रदेशके तत्त्वका चिंतन करना निरालंबन योग है। सालंबन योग अधिक आसान है, अतः जिनकी प्रतिमाका ध्यान करे।

तथा-नमस्कारादिचिन्तनमिति ॥८६॥ (२१९)

मूलार्थ-नमस्कार आदिका चिंतन करे।'८६॥

विवेचन-नमस्कार (नवकार) पंच परमेष्ठि तथा अन्य स्वाध्याय व ज्ञानग्रंथोंका अभ्यास तथा चिंतन करे।

तथा-प्रशस्तभावक्रियेति ॥८७॥ (२२०)

मूलार्थ-प्रशंसनीय अंतःकरण (भाव) करना ॥८७॥

विवेचन-क्रोधादि दोषके विपाकका विचार करके हृदय व अंतःकरणको शुद्ध करना। उसे उन दोषोंको हटाकर प्रशंसनीय बनाना चाहिये। क्रोध, मान, माया व लोभ- क्रमशः प्रीति, विनय, मित्रता, और सर्वस्वका नाश करनेवाले हैं-आदि विचारोंसे इन चारों कषायों-को दूर करे अन्यथा महादोष लगता है। कहते हैं कि--

"चित्तरत्नमसंक्लिष्टमान्तरं धनमुच्यते।
यस्य तन्मुषितं दोषैः, तस्य शिष्टा विपत्तयः" ॥१३४॥

---क्लेश रहित चित्तरत्न ही मनुष्यका आन्तर धन है। जिसका चित्तरत्न (या यह धन) क्रोधादि दोषोंसे लुट गया है उसे सब विपत्तियां घेरती हैं। अत. अंत करण शुद्ध रखे।

तथा-भवस्थितिप्रेक्षणमिति ॥८८॥ (२२१)

मूलार्थ-और संसारकी स्थितिका विचार करे ॥८८॥

विवेचन-भवस्थितेः- संसारके रूपको, प्रेक्षणं- अवलोकन। क्षण क्षणके परिवर्तनोंको विचारे। उनका अवलोकन करे। जैसे कि--

"यौवनं नगनदीस्यदोपमं, शारदाम्बुदविलासिजीवितम्।
स्वप्नलब्धधनविभ्रमं धनं, स्थावरं किमपि नास्ति तत्त्वतः॥१३५॥
"विग्रहा गदभुजङ्गमालयाः, संगमा विगमदोषदूषिताः।
संपदोऽपि विपदा कटाक्षिताः, नास्ति किञ्चिदनुपद्रवं स्फुटम्" ॥१३६॥

—युवावस्था पर्वतकी नदीके समान चंचल है, मानवजीवन शरद ऋतुके बादलोंके विलास समान अस्थिर है, धन या द्रव्य स्वप्नमें मिले हुए वैभव समान है अत: इन सब जड पदार्थोंमें वस्तुत: कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं। ये सब वस्तुएं चंचल, अस्थिर व क्षणभंगुर हैं।

—शरीर रोगरूपी सर्पोंका निवास स्थान है, संयोग, वियोग दोषसे दूषित है। संपत्ति पर भी विपत्तिकी कटाक्षदृष्टि है अतः इस संसारमें उपद्रव रहित कुछ भी नहीं है। इस प्रकार इस संसारकी क्षणभंगुरता व असारताका विचार करे। जगत्की सर्व वस्तुएं भयसे आक्रांत है केवल वैराग्य ही अभयका कारण है। इस प्रकार संसार-स्वरूपका विचार करे।

तदनु तन्नैर्गुण्यभावनेति ॥८९॥ (२२२)

मूलार्थ-तब उसकी निस्सारताका विचार करे ॥८९॥

विवेचन-तन्नैर्गुण्यभावना- भवस्थिति या संसारकी असारता या निस्सारताका चिंतन। संसार असार है इस भावनाका विचार करना चाहिये, जैसे--

"इतः क्रोधो गृध्रः प्रकटयति पक्षं निजमितः,
शृगाली तृष्णेयं विवृतवदना धावति पुरः।
इतः क्रूरः कामो विचरति पिशाचश्चिरमहो,
स्मशानं संसारः क इह पतितः स्थास्यति सुखम्!" ॥१२७॥

—इधर क्रोध नामक गृध्र अपने पंख फैलाये हुए बैठा है, उधर तृष्णा नामक शृगाल मुख फाडे हुए आगे आगे दौडा जा रहा है और उधर कामरूप भयंकर पिशाच विचर रहा है। इस संसाररूपी स्मशानमें पड़ा हुआ कौनसा प्राणी सुखी रह सकता है? अर्थात् क्रोध, तृष्णा व काम जहां तीनो लगे हुए हैं ऐसे इस संसारमे कोई सुखी नहीं रह सकता।

"एतास्तावदसंशयं कुशदलप्रान्तोदबिन्दूपमा,
लक्ष्म्यो बन्धुसमागमोऽपि न चिरस्थायी खलप्रीतिवत्।
यच्चान्यत् किल किञ्चिदस्ति निखिलं तच्छारदाम्भोधर-
च्छायावच्चलतां बिभर्त्ति यदतः स्वस्मै हितं चिन्त्यताम् ॥२३७॥

—कुश या दर्भपत्रके किनारे रहे हुए जलकी बुंदके समान लक्ष्मी है यह निःसंशय बात है। बन्धुजनोका समागम भी दुष्टोंकी प्रीतिके समान चिरस्थायी नहीं है। इस संसारमें जो कुछ भी अन्य वस्तु है वह शरद ऋतुके बादलकी छायाके समान अस्थिर है; अतः हे भव्य जनो! अपने हितकी चिंता करो। क्योंकि ससार क्षणभंगुर तथा असार है इसलिये अपने आत्माके हितके लिये यथाशक्ति धर्मकी आराधना करो।

तथा-अपवर्गालोचनमिति ॥९०॥ (२२३)

मूलार्थ-और मुक्ति (मोक्ष)का विचार करे ॥९०॥

विवेचन-अपवर्गस्य- मुक्तिका, आलोचनम्-विचार। सर्व गुण उसमें है अतः वह उपादेय या ग्राह्य है ऐसी भावना करना।

मोक्षकी भावना करे। वही एक ग्राह्य वस्तु है। संसारकी बुराइका विचार करनेके साथ उच्च व प्राप्य वस्तुका विचार करनेसे ही बुरी वस्तु त्यागी जा सकती है। अत. मोक्षमें सब गुण है ऐसी भावना रखे। जैसे—

"प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं,
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्?।
संपूरिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं,
कल्पं भृतं तनुभृतां तनुभिस्तत. किम्? ॥२३९॥

'तस्मादनन्तमजरं परमं प्रकाशं,
तच्चित्त ! चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः ।
यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्य-
योगादयः कृपणजन्तुमता भवन्ति' ॥१४०॥

—सर्व कामको दोहन करनेवाली लक्ष्मीके प्राप्त होनेसे भी क्या ? शत्रुओंके मस्तक पर पैर रखा पर उससे क्या ? स्नेहीजनोंको वैभवसे परिपूर्ण कर देनेसे भी क्या ? और कल्पांत तक भी प्राणियोंका तन बना रहा उससे भी क्या ? ये सब होने पर भी शाश्वत सुखको अर्पण करनेवाली मुक्तिके न मिलनेसे यह सब कुछ न होनेके समान है। क्योंकि इनका सुख नाशवान तथा दुःख मिश्रित है। अतः हे चित्त ! चक्रवर्ती तथा देवकी ऋद्धिसे भी अधिक, अनंत, अजर (जरारहित) परम प्रकाशरूप, मोक्षसुखका चिंतन कर। उपरोक्त असद् विकल्पोंसे क्या होनेवाला है ? क्या लाभ है। विषय सुखकी प्राप्तिके लिये रंक समान प्राणियोंके लिये भुवनपति और देवत्वकी प्राप्ति तथा उसका सुख भी मोक्षसुखका आनुषंगिक सुख है अर्थात् भीतर समा जानेवाला सुख है।

तथा-श्रामण्यानुराग इति ॥९१॥ (२२४)

मूलार्थ-और साधुत्वमें अनुराग रखे ॥९१॥

विवेचन-शुद्ध साधुभावनाके ऊपर प्रीति रखना चाहिये। 'मैं कब शुद्ध साधु बनूंगा' ऐसा भाव मनमें रखे, जैसे—

"जैनं मुनिव्रतमशेषभवाप्तकर्म-
संतानतानवकरं स्वयमभ्युपेतः।

कुर्या तदुत्तमतरं च तपः कदाऽहं,
भोगेषु निःस्पृहतया परिमुक्तसंगः" ॥१४१॥

--सर्व भवोमें किये हुए कर्मोंको काटनेवाले जैन मुनिव्रतको स्वयं पा कर भोग मात्रसे स्पृहारहित होकर, सर्व संगका त्याग करके कब मैं इस उत्तम तपका आचरण कर सकूंगा? इत्यादि शुद्ध भावना रखे॥

तथा-यथोचितं गुणवृद्धिरिति ॥९२॥ (२२५)

मूलार्थ-यथोचित गुणवृद्धि करे ॥९२॥

विवेचन-यथोचितं- सम्यक् दर्शन आदि गुणोंकी जब भी हो सके वृद्धि करना चाहिये। उसकी दर्शनप्रतिमा व व्रतप्रतिमा द्वारा वृद्धि या पुष्टि करना।

दया, जितेन्द्रिय, क्षमा, परोपकार, नम्रता, सत्यता, आत्मसंयम, आदि गुणोंको जो बढ़ाना हो तो उनको पैदा करना। एक गुणको लेकर प्रातःकाल मनन करे, दिनभर उसे काममें लानेका प्रयत्न करे तथा रात्रिमे उसकी जांच करे। इस तरह लगातार कई दिन तक करते रहनेसे वह गुण उत्पन्न होगा। एक गुणके पूर्ण विकास होने पर कुछ अंशोंमें दूसरे भी कई गुण उत्पन्न होंगे। एकके बाद दूसरे गुणको भी इसी प्रकार उत्पन्न करे। इस तरह धीरे धीरे कई गुण विकसित होंगे।

तथा-सत्त्वादिषु मैत्र्यादियोग इतीति ॥९३॥ (२२६)

मूलार्थ-सर्व जीवोंके प्रति मैत्री आदि चार भावना रखना चाहिये ॥९३॥

विवेचन-सत्त्वादिषु-सामान्यतः सब जीवोंके प्रति व विशेषतः दुःखी, सुखी व दोषीके प्रति भावनाएं, **मैत्र्यादियोग**- मैत्री आदि चार भावना।

जैनधर्ममे यह चार भावना बहुत आवश्यक हैं। किसके प्रति कौनसी भावना रखना उसका लक्षण इस प्रकार है--

'परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा" ॥१४२॥

—दूसरेके हितकी चिन्ता या सर्वके प्रति सामान्यतः मैत्रीकी भावना-मैत्री है, और दूसरोंके दुःखको हरनेकी कामना-**करुणा**, दूसरेके सुखमें संतोष-**मुदिता** और दूसरोंके दोषोंको न देखना-**उपेक्षा** या **माध्यस्थ्य** भावना है।

बडे, समान व हलके लोगोंके प्रति क्रमशः प्रमोद, मैत्री व कारुण्य भावना होनी चाहिये। दोषयुक्त पुरुषोंके प्रति माध्यस्थ भावना रखे। कोई भी व्यक्ति ज्ञान, गुण, कला या विद्या किसीमें भी अपनेसे आगे हो उसके प्रति **प्रमोद** भावना अथवा आनंद उत्पन्न हो, ईर्ष्याको स्थान न मिले। उससे उत्साह प्राप्त करना चाहिये। द्वेषसे आर्त्तध्यान व कर्मबंध होता है। प्राणी मात्रके प्रति सुहृद् भावना रखे। स्वार्थका त्याग करना चाहिये व 'अहम्'-'मैं' पनको छोडना चाहिये। समभाव रखनेवाला ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है चाहे वह किसी धर्मका अनुयायी हो।

'वंदितासूत्र'मे भी कहा है-"मित्ति मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई" मुझे सबसे मित्रता हैं किसीसे भी वैर नहीं। अपनेसे

पीछे रहे हुए चाहे वह ज्ञान, बुद्धि, सद्गुण अथवा विद्या किसीमें भी हो दया व करुणा भावना रखे, तिरस्कार नहीं। व्यसनी वा दुराचारी लंगडे कुत्तेकी तरह ही दयाके पात्र हैं। दु खोंको दूर करनेकी भावना रखे। दु खीजनों पर करुणा करे और दुःख दूर करनेका प्रयत्न। माध्यस्थ या उपेक्षाभाव दोषित लोगोंके प्रति हो। उसी तरह अन्य धर्मावलंबी जनोंकी तरफ भी माध्यस्थ्य व सहनशीलता रखना आवश्यक है। राग या द्वेष करना नहीं। कोई गलत राह पर जावे तो उसे समझाना पर न समझे तो राग या द्वेष न करके उपेक्षाभाव रखे—उदासीनता रखे। इन चार भावनाओंको हृदयंगम करे।

गृहस्थधर्मकी समाप्ति करके उपसंहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

विशेषतो गृहस्थस्य, धर्म उक्तो जिनोत्तमैः।
एवं सद्भावनासारः, परं चारित्रकारणम् ॥१६॥

मूलार्थ—श्रीजिन भगवानने गृहस्थका विशेष धर्म जो उत्कृष्ट चारित्रको देनेवाला है तथा जिसमें सद्भावना मुख्य है वह इस प्रकार कहा है ॥१६॥

विवेचन—विशेपतः— सामान्य धर्मसे भिन्न, **गृहस्थस्य**—गृहस्थका धर्म, **उक्तः**— निरूपित, **जिनोत्तमैः**— अरिहंत भगवंत द्वारा, **एवं**— उपरोक्त प्रकारसे, **सद्भावनासारः**— परमपुरुषार्थ— मोक्षके अनुकूल भावना जिसमें मुख्य है या भाव श्रावक धर्म है। और कैसा है? **परं**—भवांतरमें भी अवन्ध्य, **चारित्रकारणम्**—सर्वविरतिका हेतु॥

श्रीजिन भगवानने श्रावकका यह विशेष धर्म इस प्रकार कहा हैं। यह उत्कृष्ट चारित्रको प्रदान करनेका कारणरूप है तथा इसमें

मोक्ष प्राप्तिके अनुकूल उत्तम भावनाएं मुख्य हैं। सारा धर्म इन चार भावनाओंके ऊपर आधारित है। उच्च भावना रखना ही प्रधान बात है। यह चारित्रका कारण किस प्रकार है सो कहते हैं—

पदं पदेन मेधावी, यथा रोहति पर्वतम्।
सम्यक् तथैव नियमात्, धीरश्चारित्रपर्वतम् ॥१७॥

मूलार्थ– जैसे बुद्धिमान् क्रमशः कदम कदमसे पर्वत पर चढ जाता है वैसे ही धीर पुरुष चारित्र पर्वत पर क्रमशः अवश्य चढ जाता है ॥ १७ ॥

विवेचन– **पदं पदेन**– क्रमशः कदम कदमसे, **मेधावी**– बुद्धिमान्, **आरोहति**– चढ जाता है। **पर्वतम्**– जैसे रैवताचल आदि पर। **सम्यक्**–भली प्रकारसे, हाथ पैर तोडे विना, **तथैव**–उसी प्रकार, **नियमात्**–अवश्य, **धीरः**– निष्कलंकित श्रावक धर्मको पालन करनेवाला, **चारित्रपर्वतम्**– सर्व विरति नामक महान शिखर पर।

जैसे किसी भी पर्वत पर तुरत ही नहीं चढा जा सकता पर एक एक कदम चल कर उसकी चोटी तक पहुंच सकते हैं वैसे ही जो व्यक्ति श्रावक धर्मको भली भांति पालता है वह अवश्य ही क्रमशः चारित्रके महान पर्वत शिखर पर चढ जाता है।

यह कैसे हो सकता है? कहते हैं—

स्तोकान् गुणान् समाराध्य, बहूनामपि जायते।
यस्मादाराधनायोग्यः, तस्मादादावयं मतः ॥१८॥

मूलार्थ–मनुष्य छोटे या थोडे गुणोंकी आराधनासे अधिक गुणोंकी आराधनाके योग्य बनता है अतः पहले गृहस्थके

विशेष धर्मका पालन करे ॥१८॥

विवेचन-स्तोकान्- थोडे-तुच्छ, गुणान्- जो गुण श्रावकके योग्य हैं, समाराध्य- पालन करनेसे-अच्छी तरह आराधन करनेसे, बहूनाम्- श्रमणके योग्य गुणोंको, जायते- होता है, आराधना-योग्यः- परिपालनके लिये उचित अवस्थाको प्राप्त करना, तस्मात्- इसीलिये, आदौ-पहले, अयम्-यह गृहस्थधर्म, मतः-सत्पुरुष संमत।

जो मनुष्य पहले श्रावक धर्मका पालन भली भांति कर सकता है वही श्रमणके गुणोंकी आराधनाके योग्य कहा जा सकता है। जो गृहस्थधर्म ही न पाल सके वह साधुधर्मके योग्य कैसे हो सकता है? अतः पहले यह गृहस्थधर्मके बारेमें कहा है जिसे पहले पालन करनेसे इन अल्प गुणोंकी आराधनाके बलसे अधिक गुणोंके लाभमें बाधक कर्म कलंकके मिट जानेसे उन गुणोंकी प्राप्ति व आराधनाका सामर्थ्य होता है, तब ही मनुष्य चारित्र ग्रहण करनेके योग्य बन सकता है।

यह न्याय पुरुष विशेषकी अपेक्षासे है अर्थात् सर्व सामान्यके लिये है। अन्यथा उस प्रकारके सामर्थ्यसे जिनका चारित्र-मोहनीय (चारित्र लेनेमें अंतराय करनेवाला कर्म) निर्बल हो जाता है ऐसे स्थूलभद्र आदि महापुरुषोंको इस क्रमको छोड कर भी शुद्ध सर्व-विरतिका लाभ हुआ है ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है। अर्थात् बिना विशेष धर्म ग्रहण किये ही वे सीधे साधु बने हैं।

श्रीमुनिचन्द्रसूरि विरचित धर्मबिंदु वृत्तिमें
विशेष गृहस्थधर्म विधि नामक
तृतीय अध्याय समाप्त हुआ॥

चतुर्थ अध्याय।

सांप्रतं चतुर्थ आरभ्यते, तस्य चेदमादिसूत्रम्—

एवंविधिसमायुक्तः, सेवमानो गृहाश्रमम्।
चारित्रमोहनीयेन, मुच्यते पापकर्मणा ॥१९॥

मूलार्थ—अब चौथे अध्यायको प्रारंभ करते हैं—यह उसका प्रथम सूत्र है—

इस प्रकार विधिसे गृहस्थधर्मको पालनेवाला पुरुष चारित्र मोहनीय नामक पापकर्ममेंसे मुक्त हो जाता है ॥१९॥

विवेचन—एवंविधिना—पूर्वोक्त सामान्य व विशेष गृहस्थ-धर्मके लक्षणों सहित, समायुक्तः—युक्त या सपन्न, सेवमानः—सेवन करते हुए, गृहाश्रमं—गृहस्थीमें रहते हुए, मुच्यते—मुक्त हो जाता है; पापकर्मणा—पापकृत्यसे।

पूर्वोक्त विधियोंसे क्रमशः सामान्य धर्मके पश्चात् विशेष धर्मका पालन करनेसे चारित्र मोहनीयकर्म टूटते हैं। गृहस्थधर्म जिसमें अणुव्रतादिक पाले जाते हैं चारित्रके लिये तैयारीरूप है। अणुव्रतोंसे महाव्रतोंका अधिकारी बनता है। आत्मा चारित्र मोहनीयसे कैसे मुक्त होती है सो कहते हैं—

सदाज्ञानाराधनायोगाद्, भावशुद्धेर्नियोगतः।
उपायसंप्रवृत्तेश्च, सम्यक्चारित्ररागतः॥२०॥

मूलार्थ—भगवानकी सद्आज्ञाकी आराधनासे हुई भावशुद्धिसे, सम्यक् चारित्र पर अनुराग रखनेसे तथा साधनोंमें प्रवृत्ति करनेसे अवश्य ही चारित्र मोहनीय कर्मसे मुक्त होता है॥

विवेचन—सत्—कलंकरहित, आज्ञाराधनायोगात्—यतिधर्मके योग्य न होनेसे श्रावकधर्मका पालन करे ऐसी जिनाज्ञाको पालन करनेसे, भावशुद्धि—उससे उत्पन्न मनकी निर्मलतासे, नियोगतः—अवश्य ही, उपायसंप्रवृत्तेश्च—शुद्ध हेतुको अंगीकार करनेकी प्रवृत्तिसे-चेष्टासे, और सम्यक्चारित्ररागतः-निर्दम्भ चारित्रकी अभिलाषासे, उसमें होनेवाले अनुरागसे।

प्रभुकी शुद्ध आज्ञाको पालन करनेसे—श्रावक धर्मके पालन करनेसे हृदयकी जो निर्मलता प्राप्त होती है और सम्यक् चारित्र पर जो राग है उसको पानेकी जो अभिलाषा है, शुद्ध हेतुको अंगीकार करनेकी प्रवृत्तिसे जो अणुव्रतादिकके पालन करनेमें है—इन तीनोंसे चित्तनिर्मलता, चारित्र पर राग व हेतुमें प्रवृत्ति होनेसे चारित्र मोहनीय कर्म क्षय होते हैं। इससे अन्य कोई उपाय नहीं है।

यह शंका करे कि चारित्र मोहनीय कर्मसे मुक्त हो जाने पर भी यह कैसे सिद्ध होता है कि बादमें पूर्ण पच्चक्खाण लेनेवाला बनेगा? उत्तर इस प्रकार है—

विशुद्धं सदनुष्ठानं, स्तोकमप्यर्हतां मतम्।
तत्त्वेन तेन च प्रत्याख्यानं ज्ञात्वा सुबह्वपि॥२१॥

मूलार्थ-शुद्ध व सदनुष्ठान अल्प होने पर भी अरिहंतको मान्य है क्योंकि तत्त्वसे प्रत्याख्यानका स्वरूप समझ जाने पर बहुत करनेका भी विचार होता है।

विवेचन-विशुद्ध-निरतिचार, सत्-सुंदर, अनुष्ठानं-स्थूल प्राणातिपात विरमण आदि अणुव्रतका पालनरूप आचरण, स्तोकं-थोडा भी, क्योंकि यह स्थूलका ही पालन है, मतम्-मान्य, तत्त्वेन तात्त्विकरूपसे, अतिचारकी कलुषिततासे दूषित नहीं, तेन च-विशुद्ध अनुष्ठानके करनेसे, प्रत्याख्यानं-आश्रव व निरोध लक्षणवाला, ज्ञात्वा-गुरुके पास श्रुतधर्मसे प्रत्याख्यानके फल व हेतुको भली प्रकारसे जानकर, सुबह्वपि-सर्व पापस्थानका त्याग करनेको भी तैयार होगा।

श्रावकके बार व्रत जो यतिधर्मकी अपेक्षा कम हैं निरतिचार रीतिसे पालन हो वे प्रभुको मान्य हैं। क्योंकि इससे धर्मका पालन करनेवाला पच्चक्खाणके स्वरूपको उसके हेतु तथा फलको भली प्रकारसे जानता है यह प्रगट होता है। जब वह इसे तत्त्वरूपसे यह जानता है कि वह आश्रव व निरोध करनेवाला है तो वह अधिक पच्चक्खाण भी लेनेको प्रेरित होगा। सक्षेपमे जो निरतिचार थोडा भी व्रत पालन करता है वह व्रतके स्वरूप, हेतु व फलको जानता है, अतः उसे योग्य समय पर अधिक व्रतकी भी प्राप्ति होगी।

इति विशेषतो गृहस्थधर्म उक्तः, सांप्रतं यतिधर्मावसर इति यतिमनुवर्णयिष्याम इति ॥१॥ (२२७)

मूलार्थ-इस प्रकार गृहस्थका विशेष धर्म कहा है। अब यतिधर्म करनेका अवसर है अतः यतिका व यतिधर्मका वर्णन करते हैं ॥१॥

यतिका स्वरूप कहते हैं—

अर्हः अर्हसमीपे विधिप्रव्रजितो यतिरिति ॥२॥ (२२८)

मूलार्थ-योग्य अधिकारी योग्य व्यक्तिसे विधिवत् दीक्षा ले वह यति है ॥ २ ॥

विवेचन-अर्ह -दीक्षा योग्य अधिकारी, अर्हस्य- दीक्षा देने योग्य गुरुके, समीपे-पास, विधिना-विधिवत् प्रव्रजितः-दीक्षा ग्रहण किया हुआ, यति-मुनि।

दीक्षाके योग्य हो जाने पर जो दीक्षा देनेके योग्य गुरुके पास विधिवत् दीक्षा ग्रहण करे वह मुनि कहलाता है।

दीक्षाके योग्य व्यक्तिकी योग्यता शास्त्रकार बताते हैं—

अथ प्रव्रज्यार्हः आर्यदेशोत्पन्नः, विशिष्टजातिकुलान्वितः, क्षीणप्रायकर्ममलः, तत एव विमलबुद्धिः, दुर्लभं मानुष्यं, जन्म मरणनिमित्तं, संपदश्चपलाः, विषया दुःखहेतवः, संयोगे वियोगः, प्रतिक्षणं दारुणो विपाकः इत्यवगतसंसारनैर्गुण्यः, तत एव तद्विरक्तः, प्रतनुकषायः, अल्पहास्यादिः, कृतज्ञः, विनीतः, प्रागपि राजा-

मात्यपौरजनबहुमतः, अद्रो-
हकारी, कल्याणाङ्गः,
श्राद्धः, स्थिरः, समुप-
संपन्नश्चेति॥३॥(२२९)

मूलार्थ–दीक्षा लेने योग्य पुरुषके लक्षण कहते हैं-१ आर्यदेशमें उत्पन्न, २ विशिष्टजाति व कुलवाला, ३ कर्ममल प्रायः क्षीण हों, ४ उससे निर्मल बुद्धिवाला, ५ मनुष्य भव दुर्लभ है, जन्म मरणका निमित्त है, संपत्ति चंचल है, विषय दुःखका कारण है, संयोगमें वियोग है, मृत्यु प्रतिक्षण है, कर्म विपाक भयंकर है–ऐसी संसारकी असारताको जाननेवाला, ६ अतः संसारसे विरक्त, ७ अल्प कषायवाला, ८ थोडा हास्य आदि (नोकषायवाला), ९ कृतज्ञ, १० विनयवान, ११ पहले भी राजा, मंत्री तथा पुरजन आदिद्वारा सम्मानित, १२ द्रोह न करनेवाला, १३ कल्याणकारी अंग व मुखाकृतिवाला, १४ श्रद्धावान, १५ स्थिर, १६ दीक्षाके हेतु गुरु समीप आया हुआ ॥ ३ ॥

विवेचन–प्रव्रजन–पापसे उत्कृष्ट चारित्रद्वारा दूर जानेवाला–वह प्रव्रज्या, उसके योग्य–प्रव्रज्यार्हः, आर्यदेशोत्पन्न–मगध आदि साढे पच्चीस देशोंके मध्य जन्मा हुआ। आजकल आर्य व अनार्यका पुराना भेद समाप्त हो गया है। फिर भी जैन यति होनेके पात्र वही मनुष्य है जो मांस–मदिरा, वेश्या, चोरी व जूआ खेलना–आदि व्यसनोंसे रहित हैं अथवा तो इनको बुरा समझते हैं और जन्म तथा पुन-

जन्ममें मानते या विश्वास रखते हैं। ऐसे लोग या अधिकतर ऐसे लोग जहां रहें वही आर्यदेश माननेलायक है। मेरे विचारसे ऐसी संस्कृति भारतवर्षमें ही है। भारतसे भिन्न अनार्य कहे जा सकते हैं।

विशिष्टजातिकुलान्वितः—शुद्ध विवाह योग्य चार वर्णके अन्तर्गत माता-पितावाला तथा कुलीन जातिवाला, **क्षीणप्रायकर्ममलः**— ज्ञानावरणीय, मोहनीय आदि कर्ममल जिसका प्रायः क्षीण हो गया है और उससे उत्पन्न विमलबुद्धिवाला अर्थात् कर्म क्षीण होनेसे निर्मल बुद्धि उत्पन्न हो गई है वह, **प्रतिक्षणं मरणं**—अपने कालके अनुसार मृत्यु होनेकी अपेक्षा क्षण क्षण पर मरण। कहा है कि-

"यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति, गर्भे वसत्यै नरवीर! लोकः।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः, स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति"॥१४३॥

—व्यास युधिष्ठिरसे कहते हैं—हे नरवीर! जिस रात्रिमें जीव गर्भमें उत्पन्न होता है, उसी समयसे निरंतर प्रयाण करनेवाला जीव जिसकी आयुष्य प्रतिक्षण क्षीण होता है वह प्रतिक्षण व प्रतिदिन मृत्युके समीप आता है।

प्रागपि—दीक्षा लेनेसे पूर्व, **स्थिर**—आरंभ किये हुए कार्यको बीचमें न छोडनेवाला, **समुपसंपन्नः**—सम्यक् प्रकारसे सर्वथा आत्मसमर्पणद्वारा पासमें आया हुआ—साधुके समीप दीक्षा लेने कोउपस्थित।

जैनधर्म दो प्रकारसे पाला जाता है—एक श्रावकद्वारा, दूसरा यति—साधुद्वारा। श्रावकका धर्म ऊपर कहा जा चुका है। साधुका आगे कहते हैं। साधु बननेके लिये दीक्षा लेना होता है। दीक्षाके योग्य होनेके लिये जिन गुणोंकी आवश्यकता है वे इसमें कहे गये

हैं। यतिधर्म दुर्गम है। इसमें संयम, परोपदेश, ब्रह्मचर्य, देशाटन, सर्दीगर्मी, परीषह सहना, अभ्यास तथा तप आदि करना पडते हैं। योग्य व्यक्ति साधु बनकर उसे चमकाता है। यह त्याग है—ससारकी जिम्मेदारियोंसे बचनेके लिये नहीं पर साधुधर्मकी अधिक जिम्मेदारी सहनेके लिये। अतः उसके गुण आवश्यक हैं।

१. **आर्यदेशमें जन्म**—के बारमें ऊपर विवेचन किया है।

२. **विशिष्टजाति व कुलवाला**—माता पिता उच्च कुल व जातिके हो। कुलीन घरानोंमें उदारता, दाक्षिण्यता आदि स्वाभाविक रीतिसे गुण होते हैं।

३. **क्षीणप्राय कर्ममल**—ज्ञानावरणीय आदि कर्म बहुत अंशमें क्षय हो जानेसे उसे ज्ञान होता है व राग द्वेष कम होता है अतः वह योग्य है।

४. **निर्मल बुद्धि**—ज्ञानसे तथा राग-द्वेष न होनेसे बुद्धि भी निर्मल होती है। मन शांत होता है और आत्मज्योतिसे विशुद्ध होता है।

५. **संसारकी असारताको समझनेवाला**—यह दो प्रकारसे अनुभव व उपदेशसे ज्ञात होती है। उपदेशसे पूर्वभवके संस्कार-के कारण वैराग्य होता है। गृहस्थाश्रम पालनेसे तथा असारता व अनित्यताके अनुभवसे विशेष वैराग्य पैदा होता है। मनुष्य भव दुर्लभ, मृत्यु निश्चित, संपत्ति चंचल, विषय दुःखसे भरपूर, कर्मके भयकर फल आदिका अनुभव हो अथवा उनका ज्ञान हो। केवल शास्त्रीय ज्ञान ही सब कुछ नहीं होता। इससे पदार्थों परसे मोह हट जाता है और तब—

६. संसारविरक्ति–उत्पन्न होती है। आत्मा ही नित्य है, अन्य सब अनित्य है–ऐसा जो समझ लेता है उसकी विरक्ति कभी क्षय नहीं होती। वह साधु समुदायका आभूषण हो जाता है।

७. अल्प कषाय–क्रोध, मान, माया व लोभ बहुत कम होने चाहिये। इनके अधिक होनेसे वह चारित्र पदको कलंकित करता है।

८. हास्यादि–थोडे हो। हास्य, रति, अरति, भीति, जुगुप्सा और शोक छः, नौ नोकषाय या दोष कहलाते हैं। ये अल्पमात्रामें होने चाहिये।

९. कृतज्ञ–"कृतघ्नी बहुत बडा पापी है"। कृत गुणको कभी न भूले।

१०. विनयी–'विनयमूलो धम्मो' धर्मका मूल विनय है। यह एक दीक्षार्थीका आवश्यक गुण है।

११ दीक्षाके पहले ही लोकप्रिय हो–उत्तम चारित्रवान हो, सब उसका बहुमान (आदर) करते हो। जो विषयी या दुराचारी है उसके प्रति पूज्यभाव नहीं हो सकता, लोग उसके उपदेशसे दूर रहते हैं अतः वह स्व–परका हित नहीं कर सकता।

१२. अद्रोहकारी–'विश्वासघात एक पाप है"। किसीका द्रोह करनेवाला न हो।

१३. कल्याणांग–सर्व इन्द्रिय शुभ हो तथा भव्य मुखाकृति अंग दोषवाला प्रभावोत्पादक नहीं होता। ऐसेको आचार्यपद देनेकी आज्ञा नहीं है।

१४. श्रद्धावान–धर्मके प्रति श्रद्धा आवश्यक है। उदर पूर्तिके लिये साधुधर्म वृथा है।

१५. स्थिर–प्रारंभ किया हुआ कार्य विघ्न आने पर भी न छोडे। अनिष्ट संयोग आने पर जो वैराग्य आता है वह स्थिर नहीं रहता। संयम कैद समान लगता है। क्षणिकवैराग्य स्थिर नहीं रहता।

१६. दीक्षा लेनेको उपस्थित–गुरु शिष्योंको न ढूंढे, पर वैराग्य होनेसे शिष्य ही गुरुके सामने दीक्षा लेने आवे। आत्म समर्पण करनेवाला आज्ञाकारी भी होता है। साथ ही गुरुके प्रति उसमें भक्ति होना आवश्यक है।

दीक्षाके योग्य व्यक्तिके गुण कह कर अब योग्य गुरुके गुण बताते हैं—

गुरुपदार्हस्तु इत्थंभूत एव–विधिप्रतिपन्नप्रव्रज्यः, समुपासितगुरुकुलः, अस्खलितशीलः, सम्यगधीतागमः, तत एव विमलतरबोधात् तत्त्ववेदी, उपशान्तः, प्रवचनवत्सलः, सत्त्वहितरतः, आदेयः, अनुवर्त्तकः, गम्भीरः, अविषादी, उपशमलब्ध्यादिसंपन्नः, प्रवचनार्थवक्ता, स्वगुर्वनुज्ञातगुरुपदश्चेतीति ॥ ४ ॥ (२३०)

मूलार्थ–ऐसे गुणवाला साधु गुरुपदके योग्य है–१ विधिवत् दीक्षित, २ गुरुकुलका सम्यक् उपासक, ३ अखंड शीलवाला, ४ आगमका सम्यक अध्ययन करनेवाला, ५ उससे

बोध होनेसे तत्त्वका ज्ञाता, ६ उपशांत, ७ संघके हितमें तत्पर, ८ प्राणि मात्रके हितमें लीन, ९ जिसका वचन ग्रहणीय हो, १० गुणी जनोंका अनुकरण करनेवाला, ११ गंभीर, १२ विषाद (शोक), १३ उपशम लब्धिवाला, १४ सिद्धांतका उपदेशक, १५ अपने गुरुसे गुरुपद प्राप्त ॥४॥

विवेचन—गुरुपदार्ह—गुरुपदके योग्य, इत्थंभूत एव—इन गुणोवाला; अन्य नहीं, यदि स्वयं निर्गुणी है तो वह दीक्षा देनेके लिये अयोग्य है, लायक नहीं। वह दीक्षा देनेवाला गुरु कैसा हो—जिसमे निम्न १५ गुण हो।

१. विधिप्रतिपन्नप्रव्रज्यः—विधियुक्त दीक्षा ग्रहण करनेवाला।

२. समुपासितगुरुकुलः— गुरुके परिवारकी भली प्रकार आराधना करनेवाला।

३. अस्खलितशीलः— दीक्षा लेनेके दिनसे अब तक अखड-रूपसे सतत महाव्रतकी आराधना की हो. व्रत खंडित न हुआ हो।

४. सम्यगधीतागमः— अच्छी तरह आगमका अध्ययन किया हो। सूत्र व अर्थके ज्ञान व क्रियाके गुणको जाननेवाले गुरुकी सेवासे तीर्थंकर प्ररूपित आगमके रहस्यको जाना हो।

५. तत एव विमलतरबोधात् तत्त्ववेदी— आगमके रहस्यका ज्ञाता व अभ्यस्त होनेसे जिसे अतिशय निर्मल बोध है—बुद्धिका पूर्ण विकास हो चुका है और उससे तत्वज्ञाता या जीवादि वस्तुका ज्ञाता है।

६. उपशान्तः— मन, वचन व कायाके विकारोंसे रहित।

७. प्रवचनवत्सलः– चतुर्विध सकल संघका यथायोग्य वात्सल्य करनेवाला।

८ सत्त्वहितरतः– विविध उपायोंसे सामान्यतः सर्व जीवोका हित करनेमें तत्पर।

९. आदेयः– जिसका वचन व चेष्टा ग्रहणीय हो।

१०. अनुवर्त्तकः– भिन्न भिन्न स्वभाव व गुणवाले प्राणियोंमें गुणकी वृद्धि करनेके लिये उनका उस विधिसे अनुकरण करनेवाला।

११. गंभीरः– रोष व संतोषमें जिसका हृदय न हो।

१२. अविषादी– परीषह आदि दुःख पाकर छ कायके संरक्षणमें दीन बननेवाला नहीं–उससे शोक न पानेवाला।

१३. उपशमलब्ध्यादिसंपन्नः– दूसरेको शांत करनेके लिये समर्थ ऐसी लब्धिवाला–तथा उपकरणलब्धि और स्थिर हस्तलब्धि सहित।

१४. प्रवचनार्थवक्ता– आगमके यथार्थ अर्थको कहनेवाला।

१५. स्वगुर्वनुज्ञातगुरुपदः– अपने गुरु या गच्छनायक द्वारा जिसे गुरुपद अर्थात् आचार्यपदवी दी गई हो। ये गुरुके १५ गुण है।

गुरुमें उच्च गुणोकी आवश्यकता है। इन १५ गुणोंके गुरुमें होनेसे शिष्यमें अच्छे गुण आते हैं। गुरुपरंपरासे दीक्षित गुरुसे ही दीक्षा लेना उचित है। गुरुकुलमें रहनेवाला होना चाहिये। वह संप्रदायके आचार–विचारका जानकार होता है। उसका एक भी महाव्रत सारे समयमें खंडित न हुआ हो। सूत्र व अर्थका ज्ञान व क्रिया जाने व तीर्थंकर प्रणीत आगम रहस्य जानता हो। कहा है कि–

"तित्थे सुत्तत्थाणं, गहणं विहिणा उ तत्थ तित्थमिदं।
उभयन्नू चेव गुरू, विही उ विणयाइओ चित्ते" ॥१४४॥
"उभयन्नू विय किरियापरो, दढं पवयणाणुरागी य।
स समयपरुवगो, परिणओ य पन्नो य अच्चत्थं' ॥१४५॥

—तीर्थमें विधिसे सूत्र और अर्थका ग्रहण होता है। सूत्रार्थको जाननेवाला गुरु तीर्थ कहलाता है। विधि तो विनय आदि है। वह गुरु सूत्रार्थका ज्ञाता, क्रियामें तत्पर, दृढ, प्रवचन अनुरागी, जैनागममें श्रद्धा सहित परिपक्व, अन्य शास्त्रोंमें निपुण और स्वसिद्धांतमे कुशल होता है।

शास्त्रका अभ्यास होनेसे बहुत अच्छा ज्ञान प्राप्त है तथा तत्त्वको समझता है। मन, वचन व कायाके विकारों रहित हैं। संघ पर भक्ति रखनेवाला है। उनका कल्याण करनेका इच्छुक है। प्राणी मात्रके हितमें तत्पर होना चाहिये। सब उसका वचन मान्य रखें एसा वह होना चाहिये। लोगोंको उनके गुण समझ कर अन्य गुण उसमें पैदा करे। सबसे मैत्री रखे और सद्बोध दे। गंभीर हो व मनमें समभाव रखे। परीषहसे विषाद पैदा न हो। व्रतपालनमें धैर्य हो। मन व चहेरा प्रफुल्लित हो। चिंता व उद्वेग रहित हो। सहनशील हो। गुरु शांत व अल्प कषायवाला हो। अन्योंको उपदेश दे सके। गच्छ-नायक द्वारा गुरुपद या आचार्यपद मिला हुआ हो।

दीक्षार्थीके १६ गुण तथा गुरुके १५ गुणोका वर्णन किया। इन दोनोंका मेल दुर्लभ है। अतः यहां अपवाद मार्ग बताते हैं—

पादार्द्धगुणहीनौ मध्यमाऽवराविति ॥५॥ (२३१)

मूलार्थ–चतुर्थ भाग व अर्द्ध भागके गुण कम हों तो मध्यम व जघन्य जानो ॥५॥

विवेचन–पादेन– चौथे भागसे, अर्द्धेन– आधा, हीनौ– इन गुणोंमें कमी, मध्यमाऽवरौ– मध्यम व जघन्य योग्यता।

पूर्वोक्त गुण सब एक साथ हो तो दीक्षार्थी व दीक्षा देनेवाला उत्तम समझना चाहिये। उसमें चतुर्थ भागके गुण हों तो मध्यम समझना चाहिये। आधे गुण कम हों तो जघन्य समझना।

इस बारेमें दस प्रकारके भिन्न भिन्न मत प्रदर्शित किये गये हैं। इसके बाद शास्त्रकार स्वयं अपना मत कहते हैं—

नियम एवायमिति वायुरिति ॥६॥ (२३२)

मूलार्थ–दीक्षा लेनेवाले तथा देनेवालेमें उपरोक्त सर्व गुण अवश्य होने चाहिये, यह वायु नामक आचार्यका मत है ॥६॥

विवेचन–नियम एव– अवश्य ही, अयं– पूर्वोक्त सर्वगुण संपन्न, अन्य नहीं। अर्थात् जिसमें चौथे अंश आदि गुण कम हों वह योग्य नहीं। वायुः– वायु नामक प्रवादी विशेष।

वायु नामक आचार्यका स्पष्ट मत है कि दोनो गुरु व शिष्य संपूर्ण गुणवाले हो। परिपूर्ण गुणवाले ही क्यो योग्य है? उत्तरमें कहा है—

समग्रगुणसाध्यस्य तदर्द्धभावेऽपि तत्सिध्य-संभवादिति ॥७॥ (२३३)

मूलार्थ–सकल गुणसे साध्य कार्यकी सिद्धि आधे गुण होने पर असंभव है ॥ ७ ॥

विवेचन-समग्रगुणसाध्यस्य-सब गुणोंसे साधने योग्य कार्यका, **तदर्द्धभावेऽपि**-आधे गुण अथवा चौथे भागके गुण कम होने पर। **तत्सिद्ध्यसंभवात्**-आधे या चौथे गुणके कम होनेसे जो सिद्धि समस्त गुणसे होती है वह नहीं होती या वह असंभव है।

जिन गुरु शिष्यमें पूर्ण गुण हो तब जो कार्य सिद्ध हो सकता है वह कुछ या आधे गुण कम होने पर असंभव है। अतः पूर्ण गुण होने चाहिये। अन्यथा (ऐसा न होनेसे) कार्य कारणकी व्यवस्था-मर्यादाका नाश होना संभव है।

नैतदेवमिति वाल्मीकिरिति ॥८॥ (२३४)

मूलार्थ-वाल्मीकिके मनसे ऐसा नहीं है ॥८॥

विवेचन-वाल्मीकि नामक ऋषिका मत है कि वायुने जो कहा है वह युक्त नहीं। अर्थात् पूर्ण गुण ही आवश्यक है ऐसा नहीं है। उसका कारण क्या है? कहते हैं—

निर्गुणस्य कथञ्चिद्गुणभावोपपत्तेरिति ॥९॥ (२३५)

मूलार्थ-निर्गुण भी कुछ गुणकी प्राप्ति कर सकता है ॥९॥

विवेचन-तद्गुणभावोपपत्तेः-इन सब गुण जो गुरु व शिष्यमें होने चाहिये वे उत्पन्न होना संभव है।

निर्गुणी जीवमें भी किसी भी प्रकारकी स्वयंकी योग्यता हो तो यह संभव है कि वे सारे गुरु व शिष्यके गुण उसमे उत्पन्न हो सकते हैं। योग्यता होनेसे सब गुण न होने पर भी वे सब गुण उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसा योग्यताके बलसे संभव है। कोई मनुष्य

निर्गुण हो तो भी विशिष्ट कार्यके लिये आवश्यक गुण पहले ही प्राप्त करता है वैसे ही गुणके अभावमें भी विशेष कार्य हो सकता है। उसमें विरोध नहीं है। जैसे दरिद्री भी अकस्मात् राज्य आदि प्राप्त कर सकता है। अतः गुणरूप कारण विना भी कार्यकी उत्पत्ति संभव है।

अकारणमेतदिति व्यास इति ॥१०॥ (२३६)

मूलार्थ—यह (उपर्युक्त) निष्कारण है ऐसा व्यास कहते हैं। ॥१०॥

विवेचन—**अकारणं**—प्रयोजन रहित, निष्फल, **एतत्**—वाल्मीकिका कहा हुआ वाक्य, **इति**—इस प्रकार कहते हैं कौन? **व्यास**—कृष्ण द्वैपायन व्यास।

कृष्ण द्वैपायन व्यास कहते हैं कि वाल्मीकिका कहना न्याय युक्त नहीं। यह व्यर्थ व प्रयोजनहीन है इस कारणके अयोग्य होनेका कारण बताते हैं—

गुणमात्रासिद्धौ गुणान्तरभावनियमा-
भावादिति ॥११॥ (२३७)

मूलार्थ—गुणमात्रकी अनुपस्थितिमें अन्य गुणोंकी उत्पत्ति निश्चित ही नहीं हो सकती ॥११॥

विवेचन—**गुणमात्रस्य**—स्वाभाविक या तुच्छ गुण, **असिद्धौ**—अनुपस्थित, **गुणान्तरस्य**—अन्य विशेष गुण आदि, **भावः**—उत्पत्ति, **नियमात्**—अवश्य, **अभावात्**—न होना।

जहां स्वाभाविक मामूली गुण ही न हो वहा विशेष गुणोंकी उत्पत्ति तो अवश्य ही नहीं हो सकती। गुणोके अभावमें विशेष गुणकी उत्पत्तिका होना संभव ही नहीं।

"स्वानुरूपकारणपूर्वको हि कार्यव्यवहारः"

अपने अनुरूप या योग्य कारणोंसे ही कार्य होता है। कहा है—

"नाकारणं भवेद् कार्यं, नान्यकारणकारणम्।
अन्यथा न व्यवस्था स्यात्, कार्य-कारणयोः क्वचित्" ॥१४८॥

—कारण विना कार्य नहीं हो सकता। एक कार्यका कारण दूसरे कार्यका कारण नहीं वन सकता, ऐसा न मानें तो (अन्यथा) कार्यकारणकी व्यवस्था कदापि नहीं रह सकती। जैसे वस्त्रका उपादान कारण जो सूत्रपिंड है वह घटके कारणरूप नहीं हो सकता। अर्थात् सूतसे वस्त्र ही होगा, घडा कदापि नहीं वन सकता।

नैतदेवमिति सम्राडिति ॥१२॥ (२३८)

मूलार्थ—यह (व्यासका कथन) ऐसा ही है यह सही नहीं ऐसा सम्राट् राजर्षिका मत है ॥१२॥

विवेचन-सम्राट् राजर्षिका कहना है कि व्यासका कथन यथार्थ नहीं, किस कारणसे? कहते हैं—

संभवादेव श्रेयस्त्वसिद्धेरिति ॥१३॥ (२३९)

मूलार्थ—योग्यतासे ही श्रेयस्त्व (श्रेयपना) की सिद्धि होती है ॥१३॥

विवेचन-संभवादेव- योग्यतासे ही, श्रेयस्त्वसिद्धेः- सर्व प्रयोजनोका सिद्ध होनेका श्रेय।

वस्तुतः योग्यतासे ही सर्व कार्य सिद्ध होते हैं। योग्यताके अभावमें, उसके न होनेसे, केवल गुणसे कल्याण नहीं होता या प्रयोजनसिद्धि नहीं होती। कहनेका आशय यह है कि केवल गुणोंके होनेसे दीक्षाका अधिकारी जीव दीक्षाके लिये योग्यताकी प्राप्ति नहीं करता तब तक उसका आरंभ किया हुआ कार्य सिद्ध नहीं होता। मनुष्यमें गुण हों पर दीक्षाकी योग्यता न हो तो उसका प्रारंभ किया हुआ कार्य सिद्ध नहीं होता। जो योग्य हैं वही अधिकारी है और जो योग्य नहीं है वह किसी भी कार्यका अधिकारी नहीं है। अनधिकारीको सर्वत्र निषेध है अतः योग्यता ही सर्व कार्योंमें कल्याणको देनेवाला गुण है।

यत्किञ्चिदेतदिति नारद इति ॥१४॥ (२४०)

मूलार्थ—सम्राटका मत वास्तविक नहीं है ऐसा नारद कहते हैं। ॥१४॥

विवेचन—सम्राटका कहना भी योग्य नहीं है, नारदका मत यह है। किस लिये? उसका उत्तर देते हैं—

गुणमात्राद् गुणान्तरभावेऽप्युत्कर्षा-
योगादिति ॥१५॥ (२४१)

मूलार्थ—योग्यता मात्रसे अन्य गुणोंकी उत्पत्ति संभव है, उत्कर्ष नहीं ॥१५॥

विवेचन—गुणमात्रात्—योग्यता मात्रसे, उत्कर्षायोगात्—उत्कृष्ट गुणोंका संभव नहीं है।

योग्यता हो तो कई गुणोंकी प्राप्ति संभव हैं पर केवल योग्यतासे सर्व कार्य सिद्ध नहीं होते। जो ऐसा न मानें और योग्यताको ही मुख्य गुण मान लें तो योग्यता तो सब मनुष्योंमें अपनी स्थितिके अनुसार होती ही है। इससे सब उत्कृष्ट गुणवाले बन जायं और जगत्में सामान्य गुणवाला तो कोई न रहे। अतः यह सिद्ध होता है कि विशिष्ट योग्यता उत्कृष्ट गुणोंकी साधक है केवल सामान्य योग्यता नहीं।

सोऽप्येवमेव भवतीति वसुरिति ॥१६॥ (२४२)

मूलार्थ—गुणोत्कर्ष भी इसी प्रकार होता है यह वसुका मत है ॥१६॥

विवेचन—एवमेव—पूर्व गुण जो हैं वे उत्तर गुणोंकी शरूआत है अर्थात् बडे गुणोंकी प्राप्तिका आरंभ पहले प्राप्त होनेवाले छोटे छोटे पूर्व गुणोंसे ही होता है।

गुणसे गुणकी वृद्धि होती है। सामान्य गुणमेंसे विशेष गुण उत्पन्न होता है। पर केवल योग्यतासे उच्च गुण प्राप्त नहीं होते। बीज बिना कभी भी पेड पैदा नहीं होता अतः कोई भी कार्य निर्बीज होना असंभव है। अतः गुण होने पर उसकी वृद्धि होती है ऐसा वसु नामक राजाका अभिप्राय है जो व्यासके मतके अनुसार है।

अयुक्तं कार्षापणधनस्य तदन्यविढपनेऽपि कोटिव्यवहारारोपणमिति क्षीरकदम्बक इति ॥१७॥ (२४३)

मूलार्थ—कार्षापण धनमें अन्य धनके जुड जाने पर भी उसे कोटिध्वज कहना अयुक्त है ऐसा क्षीरकदम्बकका मत है।

विवेचन—अयुक्तं— अयोग्य, कार्षापणधनस्य— बहुत हलके धनवाला व्यवहारी, तदन्यविढपनेऽपि— उस कार्षापण या हलके धनसे अन्य कार्षापण धन होने पर भी— उससे क्या ? कोटिव्यवहारारोपणं— कोटिध्वजके नामका या व्यवहारका आरोपण करना या वह स्वयं अपनेको क्रोडाधीश माने।

जो व्यापारी हलकी जातिका व्यवहार करे, हलके धनसे अन्य ऐसा ही धन और कमावे तथा अपने आपको कोटिध्वज माने तो वह अयोग्य है। उसका व्यवहार कोटिध्वजके व्यवहारके समान नहीं हो सकता। कोटिध्वजका व्यवहार बहुत लंबे समयमें साधा जा सकता है। उतने लंबे समय तक व्यापारीका जीवन संभव नहीं होता। उच्च गुण तो विशिष्ट योग्यतासे ही आ सकते हैं—यह क्षीरकदम्बकका अभिप्राय है। नारद और क्षीरकदम्बकके वचन मात्रमें अंतर है अर्थमें नहीं उनमें मतभेद नहीं है।

न दोषो योग्यतायामिति विश्व इति ॥१८॥ (२४४)

मूलार्थ—योग्यतामें दोष नहीं ऐसा विश्व आचार्यका मत है।

विवेचन—दोष— अयुक्तता, योग्यतायां— योग्यतामें— कार्षापण धनवाला भी उस प्रकारका भाग्योदय होने पर कोटिध्वज हो सकता है। विश्व— नामक आचार्य।

कार्षापण धनवाला भी उस प्रकारका भाग्योदय होने पर प्रतिदिन सौगुने, हजार गुने आदि कार्षापण धनको इकट्ठा करके भी वह

कोटिध्वज हो सकता है अतः ऐसा होना संभव नहीं है यह दोष संभव नहीं अर्थात् ऐसा हो भी सकता है। ऐसा शास्त्रमें कहा जाता है कि कई जन जो पहले तुच्छ व्यवहारवाले थे वे भी भाग्योदयसे थोडे ही समयमें कोटिध्वज हो गये तथा उस व्यवहारको प्राप्त हुए। ऐसा विश्व आचार्यका मत है। यह सम्राट्के मतके अनुसार है।

अन्यतरवैकल्येऽपि गुणबाहुल्यमेव सा तत्त्वत इति सुरगुरुरिति ॥१९॥ (२४५)

मूलार्थ-किसी गुणके अभावम भी बहुत गुणोंके विद्यमान होनेसे वही वस्तुतः योग्यता है-ऐसा सुरगुरु-बृहस्पतिका मत है ॥१९॥

विवेचन-किसी गुणके अभावमें भी (विकलता न होने पर भी), **गुणबाहुल्यमेव**-बहुत गुणोंका होना, **सा**-योग्यता (आवश्यक), **तत्त्वतः**-वस्तुतः।

बृहस्पतिका मत है कि किसी गुणकी कमी हो तब भी (या कमी न हो) गुणोंकी बहुलता (अधिकता) वास्तवमें योग्यता है। प्रत्येक मनुष्य सब गुणोंसे संपूर्ण नहीं होता। बहुत गुणोंसे अवगुण अपने आप मिट जाता है। अतः चौथे भाग या आधे भागके गुणोंके कम होनेसे उसकी चिंता न करें।

सर्वमुपपन्नमिति सिद्धसेन इति ॥२०॥ (२४६)

मूलार्थ-बुद्धिमान पुरुष जो भी योग्य माने वह सर्व योग्य है ऐसा सिद्धसेनका मत है ॥२०॥

विवेचन—पुरुष पराक्रमसे साध्य धर्म, अर्थ, काम व मोक्षके सब व्यवहारोंमें उनके बारेमें द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावका विचार करके बुद्धिमान पुरुष जिसे योग्य मानें वह आदरणीय है, उसमें किसी प्रकारकी हानि नहीं। उपपन्न—योग्य तथा योग्यतामें कोई भेद नहीं। सिद्धसेन नीतिकारका यह मत है।

इस प्रकार दस अन्य तीर्थियोंके मतोंको बताकर अब ग्रन्थकार अपना मत बताते हैं—

भवन्ति स्वल्पा अपि असाधारणगुणाः
कल्याणोत्कर्षसाधका इति ॥२१॥ (२४७)

मूलार्थ—असाधारण गुण अल्प हों तो भी कल्याण व उत्कर्षके साधक हैं ॥२१॥

विवेचन—अल्पा अपि—कम हों तो भी (ज्यादा भी हो सकते हैं), गुणाः—आर्यदेशोत्पन्न आदि पूर्वोक्त गुण, असाधारण—जो सामान्य या प्रत्येक मनुष्यमे होना संभव नहीं है। कल्याणोत्कर्ष-साधकाः—दीक्षा लेना आदि उच्च कल्याणके साधक हैं।

शास्त्रकारका मत है कि—असाधारण व उच्च गुण थोडे भी हों तब भी वे उच्च कल्याणका साधन करनेमें समर्थ होते हैं। असाधारण गुण अवश्य ही अन्य गुणोंका आकर्षण करनेमें सफल होते हैं। अतः चौथे व आधे गुण कम होने पर मध्यम व जघन्य योग्य हैं ऐसा कहना जो पहले कहा है योग्य है।

यहां वायु, वाल्मीकि, व्यास, सम्राट्, नारद, वसु, व क्षीरकदम्बकके जो मत दर्शाये हैं वे एक दूसरेके मतका खण्डन करते हैं

पर हम इसमें तटस्थ हैं और उनका मत खण्डन करनेका विचार नहीं है। विप्र, सुरगुरु और सिद्धसेनने जो असाधारण गुणोंका अनादर करके केवल योग्यताको अंगीकार किया है वह ठीक नहीं है। क्योंकि केवल योग्यताका ही प्रतिपादन नहीं किया और असाधारण गुणोंको भी माना है तो हमारा मत भी उसी प्रकारका है।

संक्षेपमें कहें तो मनुष्यमें भले ही सब गुण न हो पर यदि उसमें कुछ साधारण गुण हों और अधिक गुण प्राप्त करनेकी योग्यता हो तो वह दीक्षा लेनेके योग्य है।

दीक्षार्थी तथा दीक्षा देनेवालेके बारेमें कह कर अब दीक्षाके बारेमें कहते हैं—

**उपस्थितस्य प्रश्नाचारकथनपरीक्षादि-
र्विधिरिति ॥२२॥ (२४८)**

मूलार्थ—दीक्षा लेनेको आये हुए पुरुषसे प्रश्न, आचार-कथन तथा परीक्षा आदि विधि है ॥२२॥

विवेचन—उपस्थितस्य—स्वयं दीक्षा ग्रहण करनेको आया हुआ; प्रश्नाचारकथनपरीक्षा—उससे प्रश्न करना, आचार कहना तथा करना आदि अर्थात् सामायिक आदि सूत्र कंठस्थ हो तथा उस प्रकारके अनुष्ठानका अभ्यास करना, विधिः—दीक्षा देनेकी पूर्वोक्त विधि है।

जो पुरुष दीक्षा लेनेके लिये आवे उससे प्रश्न करना, उसे साधुका आचार कहना तथा परीक्षा करना तथा सामायिक आदि सूत्र कंठस्थ है और उसे ऐसा अभ्यास आदि विधि है। कहनेका

तात्पर्य यह है कि सद्धर्म कथा सुननेसे जिसका मन दीक्षा लेनेको तत्पर है ऐसे भव्य प्राणीसे पूछना, जैसे-"हे वत्स! तुम कौन हो? किस लिये दीक्षा ग्रहण करते हो?" उसके उत्तरमें यदि वह यह उत्तर दे कि-"हे भगवन्! मै कुलीन हूं, मैं आर्यदेशके उस स्थानमें उत्पन्न हूं, और सर्व अशुभ उत्पत्तिवाला भवस्वरूप संसारकी व्याधिका क्षय करनेके हेतु ही मैं दीक्षा लेनेको तत्पर हू, यह संसार मुझे असार लगता है और बंधनमुक्त होनेके लिये ही दीक्षा लेनेको तत्पर हूं।" तब वह प्रश्नशुद्ध हुआ समझा जावे अतः उसका उत्तर सही है और इस कारणसे तो दीक्षाके योग्य ही है।

इस प्रकार उत्तर देने पर शिष्यको कहे; यह दीक्षाका मार्ग कायरके लिये नहीं पर शूरवीरके वास्ते है। यह प्रव्रज्या (दीक्षा)का पुरुष द्वारा मुश्किलसे अनुकरण करने लायक है। उनसे पालन नहीं हो सकती। दीक्षा शूरवीर पुरुषों द्वारा ही पाली जा सकती है अतः शूरवीरता रखे। और आरंभसे निवृत्त पुरुषको इस भवमे तथा परभवमें परम कल्याणका लाभ होता है। यदि आज्ञाकी विराधना की जाय तो ससारफलका दुःख देनेवाली है। जैसे कुष्ट आदि रोगमें हैरान होने पर औषधि लेकर पथ्यका पालन करे तो ठीक, अन्यथा यदि औषधि लेकर अपथ्य करे तो विना औषधि मृत्यु पाता है, उससे अधिक शीघ्र औषधमें अपथ्य पालनेसे नाशको प्राप्त होता है। इसी प्रकार कर्मव्याधिका क्षय करनेके लिये संयमरूप भावक्रिया औषध है अतः असंयमरूप अपथ्यका पालन करे तो अधिक कर्म उपार्जित करता है। अतः बिना दीक्षा जितना कर्मबंध होता है, दीक्षा लेकर असंयम

करनेसे उससे अधिक कर्मबंधन होता है। इस प्रकार साधुका आचार उसे कहा जाय ऐसा साधु आचार कहने पर भी उसका मन न डिगे तो उसकी भलीभांति परीक्षा लेना चाहिये। कहा है कि—

"असत्याः सत्यसंकाशाः, सत्याश्चासत्यसन्निभाः।
दृश्यन्ते विविधा भावाः, तस्माद् युक्तं परीक्षणम् ॥१४७॥
"अतथ्यान्यपि तथ्यानि, दर्शयन्त्यतिकौशलाः।
चित्रे निम्नोन्नतानीव, चित्रकर्मविदो जनाः ॥१४८॥"

—कितने ही असत्य पदार्थ सत्य जैसे दिखते हैं, कितने ही सत्य पदार्थ भी असत्य समान दिखते हैं। इस प्रकार विविध प्रकारके भाव दिखाई देते हैं, अतः परीक्षा करना (सत्य व असत्य क्या है? इसकी) योग्य ही है॥

जैसे कुशल चित्रकार चित्रमें ऊंचा व नीचा दोनों भाव बतानेमें समर्थ होते हैं वैसे ही अति कुशल पुरुष असत्यको सत्य और अतथ्यको तथ्य वस्तुकी तरह बता सकते हैं॥

उसमें सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, चारित्रके अन्तर्गत उसकी कैसी कैसी परिणति तथा भाव है उसकी उस उस प्रकारसे परीक्षा करनी चाहिये। परीक्षाकाल प्राय छ मासका है। उस प्रकारके पात्रकी अपेक्षासे न्युन व अधिक समय भी लग सकता है। जिसने उपधान न किया हो उस पुरुषको सामायिक सूत्र कंठसे खुद देना अर्थात् पढाना चाहिये। पात्रताकी अपेक्षासे दूसरा भी सूत्र पढाना चाहिये।

तथा-गुरुजनाद्यनुज्ञेति ॥२३॥ (२४९)

मूलार्थ- माता-पितादि गुरुजनोंकी आज्ञा लेना।

विवेचन– गुरुजन– माता-पिता आदि, अनुज्ञा– दीक्षा लेनेकी अनुमति।

दीक्षा ग्रहण करनेवालेको मातापिता, बहन, भाई, स्त्री, पुत्र आदिकी समति लेनी चाहिये ऐसी विधि है। श्रीमहावीर प्रभुने भी माता-पिताकी जीवितावस्थामें तो दीक्षा ली नहीं पर भाईके भी कहने पर और दो वर्ष गृहस्थाश्रममें रहे।

जब सबधीवर्ग उस प्रकार आज्ञा मांगने पर भी आज्ञा न दे तो क्या करना चाहिये? कहते हैं कि–

तथा– तथोपधायोग इति ॥२४॥ (२५०)

मूलार्थ–संबंधीवर्ग आज्ञा देवे ऐसी युक्ति करना ॥२३॥

विवेचन–ऐसी युक्तिका उस उस प्रकारसे सर्वथा दूसरेको मालुम न पडे इस तरह उपयोग करे। वह किस प्रकार करना सो कहते हैं–

दु:स्वप्नादिकथनमिति ॥२५॥ (२५१)

मूलार्थ–दुःस्वप्न आदि कहे ॥२५॥

विवेचन–गधा, ऊट, भैंस आदि पर बैठनेके स्वप्न आये इस प्रकार कहे।

तथा–विपर्ययलिङ्गसेवेति ॥२६॥ (२५२)

मूलार्थ–और विपरीत चिह्न सेवन करे ॥२६॥

विवेचन–अपने प्रकृतिके विपरीत चिह्नोंका दिखाव करे जिससे माता पिता उसे आज्ञा प्रदान करें। जो माता पितादि विपरीत चिह्नोंको न जानें क्या करे? कहते हैं–

दैवज्ञैस्तथा तथा निवेदनमिति ॥२७॥ (२५३)

मूलार्थ-जोशी लोगोंसे उस उस प्रकार कहलावे ॥२७॥

विवेचन-दैवज्ञ अर्थात् निमित्तशास्त्र जाननेवालोंद्वारा ऐसा ऐसा कहलावे जिससे दीक्षाकी आज्ञा दे दें। ऐसेको दीक्षा देनेसे क्या लाभ है? उत्तर देते हैं—

न धर्मे मायेति ॥२८॥ (२५४)

मूलार्थ-धर्ममें माया नहीं है ॥२८॥

विवेचन-धर्मका साधन करनेमें जो क्रिया की जाती है वह माया नहीं है। वह वस्तुतः अमाया ही है। ऐसा कैसे कहते हो? वह कहते हैं—

उभयहितमेतदिति ॥२९॥ (२५५)

मूलार्थ-यह दोनोंके हितके लिये है ॥२९॥

विवेचन-दीक्षाविधिमें यह जो कार्य किया जाता है उससे स्वपरका हित साधा जाता है अतः स्वपरके श्रेय व कल्याण करनेवाली दीक्षाके लिये यह कपट नहीं है।

"अमायोऽपि हि भावेन, माय्येव तु भवेत् क्वचित्।
पश्येत् स्वपरयोर्यत्र, सानुबन्धं हितोदयम्" ॥१४२॥

—जहां स्व तथा परके निरंतर हितका उदय होता है वहां माया बिना भी पुरुष कुछ मायावी हो जाता है।

ऐसा करने पर भी माता पितादि निर्वाह न कर सके और दीक्षा देनेकी आज्ञा न दें तो क्या करना चाहिये। उसका उत्तर देते हैं—

यथाशक्ति सौविहित्यापादनमिति ॥३०॥ (२५६)

मूलार्थ-यथाशक्ति माता-पितादिका समाधान करे ॥३०॥

विवेचन-यथाशक्ति-अपनी शक्तिके अनुसार, **सौविहित्या-पादनं**-निर्वाहका उपाय करना।

माता-पिता आदिका समाधान करें। उनके निर्वाहका उपाय करनेसे माता-पिता आदिकी बादमें हैरानगति न हो। ऐसी कृतज्ञता करनेसे वे खुश होकर आज्ञा दे सकते हैं। ऐसा करने पर भी यदि वे आज्ञा न दें तो क्या करें—

ग्लानौषधादिज्ञातात् त्याग इति ॥३१॥ (२५७)

मूलार्थ-ग्लान औषधिके दृष्टांतसे त्याग करे ॥३१॥

विवेचन-कोई एक कुलीन पुत्र अपने माता-पिता आदिके साथ उनकी सेवा करते हुए जंगलमें उनके साथ गया। वहां माता-पिताको रोग हो जाने पर उसने सोचा कि औषधि बिना उनका रोग नहीं जा सकता और मेरे थोडे समयके लिये दूर रहनेसे मरे जैसे नहीं है अत: वह उनको छोडकर औषधि लेने चला जाता है। ऐसा त्याग करने पर भी वह सज्जन है। यहां फल प्रधान है। धीर पुरुष जिसमें फल देखे ऐसा ही कार्य करते हैं। अतः औषध लाकर वह माता पिताको ठीक करे ऐसा है। वह कुलीन पुत्र शुक्लपक्षवाला महापुरुष है। वह इस संसाररूप जंगलमें पडा है। बिना समकितके माता पिता आदि सामान्य जनोका मोह आदि रोग हुआ है, अत: समकित औषध बिना इनका नाश न होगा और समकित औषधसे उनका रोग मिट सकता है अतः समकित औषधकी प्राप्तिके लिये वह उनका त्याग करे। संसार अटवीमेंसे उनका त्याग तत्त्वत: अत्याग है। यहां तत्त्व फल प्रधान है। उत्तरोत्तर हित करनेवाला ही तत्त्व फल है। वह धीर

पुरुष आसन्न भव्य है। अन्य स्वजन लोगोंका उपकार करने लायक है। यह सत्पुरुषका धर्म है। यहा अकुशलानुबंधी माता-पितादिके शोकको त्याग करनेवाले श्रीमहावीर दृष्टांतरूप है।

तथा-गुरुनिवेदनमिति ॥३२॥ (२५८)

मूलार्थ-दीक्षा लेनेवाला गुरुसे सर्व बातोंका निवेदन करे।

विवेचन-गुरुनिवेदनं- सर्व आत्मासे गुरुके सामने आत्म-समर्पण करे।

दीक्षा लेनेवाला गुरुके सामने आकर अपना आत्मसमर्पण करे तथा सब बातोंका निवेदन करे। गुरुको ही सर्वस्व समझे। गुरुकी आज्ञाका पालन करे।

यह दीक्षार्थीके बारेमें विधि कही अब गुरुके बारेमें विधि कहते हैं-

अनुग्रहधियाऽभ्युपगम इति ॥३३॥ (२५९)

मूलार्थ-अनुग्रह बुद्धिसे शिष्यका स्वीकार करे ॥३३॥

विवेचन-अनुग्रहधिया- गुरुद्वारा अनुग्रह करनेकी बुद्धिसे-सम्यक्त्व आदि गुणोंके आरोपण करनेकी बुद्धिसे, **अभ्युपगमः**-साधु बनाने आदिके रूपमें अंगीकार करे।

गुरु शिष्य पर अनुग्रह करनेकी बुद्धिसे सम्यक्त्व आदि गुणोंको देनेकी बुद्धिसे उसे शिष्यरूपमें साधु बनाकर अंगीकार करे। अपनी पर्षदा (संवाडा)की वृद्धि करनेकी बुद्धिसे शिष्य न करे।

तथा-निमित्तपरीक्षेति ॥३४॥ (२६०)

मूलार्थ-निमित्त शास्त्रसे उसकी परीक्षा करे ॥३४॥

विवेचन–निमित्तानां–भावी कार्यसूचक शकुन आदिसे, परीक्षा–निश्चय करना।

भावी अर्थकी सूचना करनेवाले शकुन आदि द्वारा शिष्यकी परीक्षा करे। निमित्तशुद्धिकी आवश्यकता है। वह प्रधान विधि है।

तथा–उचितकालापेक्षणमिति ॥३५॥ (२६१)

मूलार्थ–दीक्षा देनेके योग्य कालकी अपेक्षा रक्खे ॥३५॥

विवेचन–उचितकाल–दीक्षा देनेके योग्य समय, तिथि, नक्षत्र आदिका उत्तम योग देखे। गणितविद्याके प्रकीर्णक ग्रन्थमे निर्देश किये अनुसार मुहूर्त देखे। उसमें कहा है—

"तिहिं उत्तराहिं तह, रोहिणीहिं कुज्जा उ सेहनिक्खमणं।
गणिवायए अणुन्ना, महव्वयाणं च आरुहणा ॥१५०॥
"चउद्दसी पन्नरसिं, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च।
छट्ठिं च चउत्थिं बारसिं च दोण्हं पि पक्खाणं ॥१५१॥"

—तीन उत्तरा नक्षत्र, उत्तराषाढा, उत्तरा भाद्रपद, उत्तरा फाल्गुनी तथा रोहिणी नक्षत्र–इन चार नक्षत्रोंमे शिष्यको दीक्षा देना। गणिपद या वाचकपद तथा महाव्रतकी आरोपणा भी इन्हीं नक्षत्रोंमें करना चाहिये।

चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी, नवमी, षष्ठी, चतुर्थी व द्वादशी (चउदस, पूर्णिमा, बारस आदि) इन तिथियोंको दोनों पक्षमें छोडकर अन्य तिथियोंमें देना चाहिये॥

तथा–उपायतः कायपालनमिति ॥३६॥ (२६२)

मूलार्थ-पृथ्वीकाय आदिका रक्षण करे ऐसा उपाय बतावे ॥३६॥

विवेचन-उपायतः-निर्दोष अनुष्ठानके अभ्यासरूप उपायसे, कायानां-पृथ्वीकाय आदिका, पालनं-रक्षा करे।

दीक्षा लेनेवाला पुरुष पृथ्वीकाय आदिका रक्षण कर सके उस प्रकार निर्दोष अनुष्ठानका अभ्यास करे।

तथा-भववृद्धिकरणमिति ॥३७॥ (२६३)

मूलार्थ-दीक्षा लेनेके भावकी वृद्धि करे ॥३७॥

विवेचन-भाववृद्धि-दीक्षा लेनेके अभिलाषकी वृद्धि-बढती करे, **करणं**-संपादन करना।

दीक्षा लेनेका फल बताना आदि वचनोद्वारा दीक्षा लेनेकी अभिलाषाकी वृद्धि करे। फलको बतानेसे भावमें वृद्धि होती है।

तथा-अनन्तरानुष्ठानोपदेश इति ॥३८॥ (२६४)

मूलार्थ-बादमें करने योग्य अनुष्ठानका उपदेश करे ॥३८॥

विवेचन-अनन्तरानुष्ठान-दीक्षा ग्रहण करनेके बाद करनेका आचरण।

दीक्षा लेनेके बाद शिष्य क्या आचरण करे। उसका गुरुके प्रति क्या कर्तव्य है, किस प्रकार व्यवहार करना, धर्म क्रिया, गुरुकी भक्ति बहुमानादि करना, इस दीक्षाके बाद करनेके अनुष्ठानका बोध व उपदेश करे। ऐसा करनेसे यदि मन डिग जाय तो ऐसा समझें कि उसे असली वैराग्य जागृत नहीं हुआ।

तथा-शक्तितस्त्यागतपसी इति ॥३९॥ (२६५)

मूलार्थ-शिष्यकी शक्तिके अनुसार त्याग व तप करावे ॥३९॥

विवेचन-शक्तितः-शक्तिके अनुसार, **त्याग**-देव, गुरु, संघ आदिकी भक्ति व पूजा करनेमें यथाशक्ति द्रव्यका व्यय करे, **तप**-अनशनादि तप करावे।

दीक्षा लेनेवाले शिष्यसे उसकी शक्तिके अनुसार सन्मार्गमें व्यय करावे। देव, गुरु व संघकी भक्ति तथा ज्ञानकार्य व स्वामी भाइयोंका दुःख दूर करने आदि सन्मार्गोंमें दीक्षार्थीकी स्थिति व शक्तिके अनुसार धनका सद्व्यय कराना। परिग्रह त्यागकी परीक्षा भी उससे होती है। आयंबिल, उपवास आदि तपस्या भी कराना चाहिये। शक्तिके अनुसार शरीर व इंद्रिय पर क्या संयम है उसका यथार्थ पता लगे।

तथा-क्षेत्रादिशुद्धौ वन्दनादिशुद्ध्या शीला-रोपणमिति ॥४०॥ (२६६)

मूलार्थ-और क्षेत्र आदिकी शुद्धि करके वंदन आदिकी शुद्धिसे शीलका आरोपण करे ॥४०॥

विवेचन-क्षेत्रस्य-भूमि व दिशाओंकी, **शुद्धौ**-शुद्धि कराना, **वन्दनादिविशुद्ध्या**-वन्दन आदिकी शुद्धिसे चैत्यवंदन, कायोत्सर्ग (काउसग्ग) तथा साधुवेशको देकर या पहनाकर सुंदर आचारकी सुंदरतासे तथा शुद्धतासे शीलका आरोपण करे अर्थात् सामायिककी परिणामरूप आचार तथा उसका अर्पण करना-अर्थात् 'करेमि भंते सामाइयं' आदि दंडकके उच्चारणपूर्वक दीक्षाके योग्य पुरुषको दीक्षा देना।

जहाँ दीक्षा देना हो वह स्थान शुद्ध हो। उसमें दिशाशुद्धि भी आ जाती है फिर चैत्यवंदन तथा काउसग्ग कराना चाहिये। तब दीक्षार्थीको साधुवेश पहनाकर शीलका या सामायिकका उच्चारण करावे अर्थात् 'करेमि भंते सामाइयं' कह कर दीक्षा उच्चरावे। क्षेत्र-शुद्धिके बारेमें कहा है—

"उच्छुवणे सालिवणे पउमसरे कुसुमिए वणसंडे।
गंभीरसाणुणाए, पयाहिणजले जिणहरे वा" ॥१५२॥

तथा—

"पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व, दिज्जाऽहवा पडिच्छेज्जा।
जाए जिणादओ वा, दिसाए जिणचेइयाइं वा" ॥१५३॥

—गन्नेका खेत या वन, शालि या धान्यका क्षेत्र, पद्मसरोवर, या पुष्पवाले वनखंडमें गंभीर शब्द करते हुए और प्रदक्षिणामें बहते हुए जलके पास अथवा जिनगृह या मंदिरमें दीक्षा देना चाहिये। पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर या जिस दिशामें केवली विहार करते हों या जिनचैत्य हों उस दिशाकी ओर शिष्यका मुख करके दीक्षा देना चाहिये।

शीलके बारेमें कहते हैं—

असङ्गतया समशत्रुमित्रता शीलमिति ॥४१॥ (२६७)

मूलार्थ—अनासक्तिसे शत्रु व मित्रके प्रति समभाव रखना शील है ॥४१॥

विवेचन—असंगतया—किसी वस्तुमें आसक्ति या प्रतिबंध रहित ममत्वहीनता, **समशत्रुमित्रता**—शत्रु व मित्रके प्रति समभाव या चित्तकी समानवृत्ति।

किसी भी वस्तुमें आसक्ति न रखें तथा शत्रु हो या मित्र सबके प्रति एक ही वृत्ति रखे, समभाव रखे उसे 'शील' कहते हैं। शील तो अपने परिणामसे साध्य है फिर क्षेत्रादि शुद्धिसे उसका आरोपण कैसे होता है ? उत्तरमे कहते हैं—

अतोऽनुष्ठानात् तद्भावसंभव इति ॥४२॥ (२६८)

मूलार्थ इस अनुष्ठानसे शीलकी उत्पत्ति संभव है ॥४२॥

विवेचन-अनुष्ठानात्- शीलके आरोपण करनेके कार्यसे, **तद्भाव**-शीलका परिणाम उत्पन्न होना, **संभव**-पैदा होना शक्य है।

इस अनुष्ठानसे क्षेत्रादि शुद्धि करके शीलके आरोपण करनेसे शीलके परिणामकी हृदयमें उत्पत्ति होना संभव होती है तथा जिसमें शील विद्यमान हो उसमें उसको स्थिर करते हैं या उसमें शीलकी वृद्धि होती है। द्रव्यक्रिया भावक्रियाकी कारणभूत है। अच्छे कार्यसे अच्छी वृत्ति पैदा होती है और अच्छी वृत्ति हो तो उसकी वृद्धि होती है।

तथा-तपोयोगकारणं चेतिती ॥४३॥ (२६९)

मूलार्थ-और शिष्यके पास तपोयोग कराना चाहिये ॥४३॥

विवेचन-तपोयोग- गुरुपरंपरासे प्राप्त आंबिल आदि तप, **कारणं**- कराना।

विधिवत् दीक्षा लिये हुए शिष्यके पास गुरुपरंपरासे प्राप्त आंबिल आदि तप कराना चाहिये। तपसे इन्द्रियें मनके स्वाधीन होती है तथा इच्छानिरोध होता है।

इस दीक्षाविधिकी समाप्ति करते हुए ग्रन्थकार कहते है—

एवं यः शुद्धयोगेन, परित्यज्य गृहाश्रमम् ।
संयमे रमते नित्यं, स यतिः परिकीर्तितः ॥२२॥

मूलार्थ– इस प्रकार शुद्ध आचारसे गृहस्थाश्रम छोडकर जो नित्य संयममें विचरण करता है वह यति कहलाता है ॥२२॥

विवेचन–**एवं**–इस प्रकार, **यः**– जो भव्य प्राणी, **शुद्धयोगेन**–सम्यक् व शुद्ध आचारसे, **परित्यज्य**– छोड कर, **संयमे**– हिंसादि विरमण महाव्रतके पालनरूप संयममें, **रमते**– आसक्तिवान या रागसहित, **सः**– ऐसा गुणवान **परिकीर्तितः**– कहलाता है ।

'**यततेऽसौ यतिः**' '**ज्ञानस्य फलं विरतिः**'– वही यति है जो यत्न करता है । ज्ञानका फल विरति है । धर्मश्रवणसे ज्ञान प्राप्त करके जो विरति ग्रहण करता है तथा उसमें प्रवृत्ति करता है सो यति है । जो उक्त विधिसे संयम या चारित्र धारण करे और उसमें आनंद माने तथा उसीमें रागसहित विचरण करे, हिंसादि विरमण महाव्रतोंका पालन करे वह यति कहलाता है ।

एतत् तु संभवत्यस्य,
सदुपायप्रवृत्तितः ।
अनुपायात् तु साध्यस्य,
सिद्धिं नेच्छन्ति पण्डिताः ॥२३॥

मूलार्थ– सच्च उपायोंसे प्रवृत्ति करनेसे ही यह यतित्व संभव है । साध्य कार्यकी सिद्धि पंडितजन उपाय विना नहीं इच्छते या उपाय विना कार्यकी सिद्धि संभव नहीं ॥२३॥

विवेचन– एतत् तु संभवत्यस्य– यह यतित्व दीक्षा लेनेवालको सभव है, वह विद्यमान रहता है या टिकता है। कैसे? **सदुपायप्रवृत्तितः**– सुंदर उपायसे प्रवृत्ति करनेसे, योग्य गुरुसे दीक्षा ले इत्यादि उक्त विधिसे चेष्टा करनेसे। **अनुपायात् तु**– उपाय रहित, **सिद्धिं**– सामान्यत सर्व कार्योंकी सिद्धिको, कार्यकी पूर्णताको, **नेच्छन्ति**– इच्छा नहीं करते, **पण्डिताः**– कार्य कारणके विभागसे कुशल।

सदुपायसे दीक्षा लेनेवाला यतित्वके योग्य है। उपरोक्त प्रकारसे योग्य शिष्य योग्य गुरुसे योग्य विधि सहित दीक्षा ले तब वह वस्तुतः यति होगा। क्योंकि उपाय या साधन अच्छे हों तो फल भी सुंदर मिलता है। सुंदर उपाय बिना पंडितजन कार्यकी सिद्धिकी इच्छा नहीं करते। क्योंकि कहा है कि कारण बिना कार्य नही होता।

उपरोक्त रीतिसे उलटे चलनेमे जो दोष है उसे बताते हुए अध्याय समाप्त करते है—

यस्तु नैवंविधो मोहाच्चेष्टते शास्त्रबाधया।
स तादृग् लिङ्गयुक्तोऽपि, न गृही न यतिर्मतः ॥२४॥

मूलार्थ– जो उपरोक्त रीतिसे न चल कर मोहके कारण शास्त्रोलंघन करता है वह यति लिंगधारी होने पर भी उभयभ्रष्ट है ॥२४॥

विवेचन– यस्तु– जिसकी भवभ्रमणा कम न हुई, **नैवंविधः**– उपरोक्त विधिसे विपरीत, **मोहात्**– मोह या अज्ञानसे, **शास्त्रबाधया**–

शास्त्रोलंघनसे, तादृग्लिङ्गयुक्तोऽपि– शुद्ध यति लिंगधारी होने पर भी– यति वेशधारी होने पर भी।

जो पुरुष उपरोक्त विधि रहित यतिधर्म ग्रहण करे वह मोह तथा अज्ञानसे शास्त्रका उल्लंघन करता है तथा उसकी ऐसी प्रवृत्ति होनेसे वह यति वेषधारी होने पर भी उभयभ्रष्ट है। जो शास्त्रीके अर्थके विरुद्ध चले तथा उपरोक्त विधि बिना दीक्षा ले वह शुद्ध यतिके समान होने पर भी, यतिलिंगधारी होने पर भी न यति है, न गृहस्थ। गृहस्थाश्रमका त्याग हो जाता है पर भाव चारित्रसे रहित होनेके कारण यति भी नहीं होता अत उभयभ्रष्ट है। जिसकी भवभ्रमणा बाकी है तथा मोहगर्भित वैराग्यसे यतिव्रत धारण करे तथा यतिके गुण उसमें न हो तब वह उभयभ्रष्ट है। गृहस्थावास बिगडता है तथा यतिधर्मके योग्य वह नहीं होता। अयोग्य शिष्यको संयम देनेसे अनिष्ट परिणाम आता है। तथा जैनशासनकी अपकीर्ति होती है इसकी जिम्मेदारी गुरु पर आती है।

श्रीमुनिचन्द्रसूरि विरचित धर्मबिन्दु वृत्तिमें
यतिविधि नामक चतुर्थ अध्याय
समाप्त हुआ.

पंचम अध्याय।

दीक्षार्थी व गुरुके गुण तथा दीक्षा विधिका वर्णन चतुर्थ अध्यायमें करके यतिधर्मका वर्णन इस पांचवे अध्यायमें करते है। उसका पहला सूत्र यह है—

बाहुभ्यां दुस्तरो यद्वत्, क्रूरनक्रो महोदधिः।
यतित्वं दुष्करं तद्वत्, इत्याहुस्तत्त्ववेदिनः ॥२५॥

मूलार्थ— तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि जिस प्रकार क्रूर मगर व मत्स्यवाले महोदधिको अपनी दोनों भुजाओंसे तैरना कठिन है उसी प्रकार यह यतिधर्म दुष्कर हे ॥२५॥

विवेचन— बाहुभ्यां- भुजाओंमे, **दुस्तरः**— तैरना अशक्य है, **क्रूरनक्रः**— भीषण जळ जन्तुओंसे आक्रांत— भरा हुआ, जैसे— मगर मच्छ आदि जीवोंसे, **महोदधिः**— महासमुद्र, **दुष्करं**— मुश्किलसे आचरणयोग्य कष्टसे किया जानेवाला, **तत्त्ववेदिनः**— दीक्षाके परमार्थको जाननेवाले।

तत्त्वज्ञ जनोंका मन है कि जिस प्रकार क्रूर व भीषण जळ-जंतुओंसे भरा हुआ महासमुद्र हाथोंसे तैरना महा मुश्किल है उतना

ही कष्टसाध्य यतिधर्मका पालन है। महान् फल बडे पुरुषार्थसे ही प्राप्त होते हैं। यतिधर्म दुष्कर होनेका कारण कहते हैं—

अपवर्गः फलं यस्य, जन्म-मृत्यादिवर्जितः।
परमानन्दरूपश्च, दुष्करं तन्न चाद्भुतम् ॥२६॥

मूलार्थ- परम आनंदरूप जन्म मृत्यु आदिसे रहित मोक्ष जिस यतिधर्मका फल है वह दुष्कर हो उसमे क्या आश्चर्य है।

विवेचन- जन्म-मृत्यादिवर्जितः- जन्म, मृत्यु, जरा आदि संस्कार विकार रहित, **परमानन्दरूपः-** जहाके आनदकी न सीमा है, न उपमा।

इस यतिधर्मका भलीभांति पालन करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। उसके प्राप्त होनेसे आत्मा जन्म, जरा, मृत्यु आदि महान् कष्टोसे पूर्णतया मुक्त हो जाती है। वहांका आनंद असीम, उपमा न देने लायक तथा अनत है। उसकी प्राप्तिके लिये जो मार्ग है वह यतिधर्म है अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वह रास्ता इतना कष्ट साध्य हो साध्य या फल महान् है अत उसको लक्ष्यमे रखकर मार्गभ्रष्ट हुए विना इस कष्टसाध्य व दुर्गम राह पर चलते रहना चाहिये। जैसे विद्या, मंत्र या औषधिकी साधनाके लिये इस लोकमें कितना यत्न करना पडता है। जब यही इतने कष्टसे प्राप्त होते हैं तो महान आत्मिक लब्धिके फलको पानेमें अधिक प्रयास होना अवश्यंभावी है। ऐसा दुष्कर यतिधर्म कैसे पाला जा सकता है? उत्तरमें कहते हैं—

भवस्वरूपविज्ञानात् , तद्विरागाच्च तत्त्वतः ।
अपवर्गानुरागाच्च, स्यादेतन्नान्यथा क्वचित् ॥२७॥

मूलार्थ— संसारके स्वरूपको जाननेसे, उस पर वस्तुतः वैराग्य होनेसे तथा मोक्षके प्रति अनुरागसे यतिधर्मका पालन हो सकता है अन्यथा किसी तरह नहीं ॥२७॥

विवेचन— भवस्वरूपस्य— ससारका स्वरूप जो क्षणभंगुर है अथवा इन्द्रजाल, मृगतृष्णा, गन्धर्वनगर या स्वप्नके सदृश है। विज्ञानात्— शास्त्रचक्षुसे भली प्रकार पहलेसे देखनेमे, तद्विरागात्— जैसे तपे हुए लोहे पर पैर रखनेसे जो उद्वेग हो ऐसा वैराग्य संसारसे होने पर पूर्णतः विरक्तिसे, तत्त्वतः— वस्तुतः— बिना कपटभावके वास्तविक विरक्ति, अपवर्गानुरागात्— परम पदको प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छासे, स्यादेतत्— यतिधर्मका पालन होना, नान्यथा— अन्य किसी भी प्रकारसे नहीं, क्वचित्— किसी भी क्षेत्र या कालमें—नहीं ।

ससार अनित्य है । सर्व वस्तुएं तथा सुख क्षणभगुर है। संसारके ऐसे वास्तविक रूपके ज्ञान लेनेसे उससे वैराग्य हो जाता है। उसके प्रति तीव्र उद्वेग हो जाता है तथा इससे छुटकारा पानेके लिये जब मोक्षकी प्राप्तिकी उत्कंठा बढ जाती है। पूर्ण इच्छासे मुक्ति पाना चाहे तभी यतिधर्मका पालन हो सकता है तब वह इतना कष्टसाध्य भी नहीं लगता। आसान दिखता है। जो पुरुष संसारकी असारताको समझ ले वही इस सयमके योग्य है, लक्ष्य मोक्षकी

ओर होना चाहिये । अच्छे सहारेको पाकर ही छोटे सहारेको छोडना चाहिये । इस तरह विरक्ति उत्पन्न होकर मोक्षमें अनुरक्ति हो, तब यतिधर्मका पालन सरल हो जाता है । अच्छे उपाय न होनेसे कदाचित उपेय (यतिधर्म) का अभाव हो सकता है ।

इत्युक्तो यतिः, अधुनाऽस्य धर्ममनुवर्णयिष्यामः । यतिधर्मो द्विविधः, सापेक्षयतिधर्मो निरपेक्षयतिधर्मश्चेति ॥१॥ (२७०)

मूलार्थ- इस प्रकार यतिका स्वरूप कहा अब यतिधर्म कहते हैं । यतिधर्म दो प्रकारका है— १ सापेक्ष यतिधर्म तथा २ निरपेक्ष यतिधर्म ॥ १ ॥

विवेचन- गुरु व गच्छकी सहायताकी अपेक्षा (इच्छा) रखनेवाला सापेक्ष यति कहलाता है । जो अपेक्षा विना दीक्षा पालन करे वह निरपेक्ष । इनके लक्षण गच्छमें निवास करना तथा जिनकल्पादि है या गच्छवास सापेक्ष है तथा जिनकल्प निरपेक्ष है ।

तत्र सापेक्षयतिधर्म इति ॥२॥ (२७१)

मूलार्थ—उसमें सापेक्ष यतिधर्मका वर्णन पहले करते हैं ॥२॥

विवेचन- सापेक्ष व निरपेक्ष दो प्रकारके यतिधर्मोंमेसे सापेक्षका वर्णन पहले करते हैं ।

यथा- गुर्वन्तेवासितेति ॥ ३ ॥ (२७२)

मूलार्थ- गुरुके पास शिष्यभावसे रहना ॥३॥

विवेचन- गुरोः- दीक्षा देनेवाला आचार्य, अन्तेवासिता- यावज्जीव शिष्यभावसे रहना।

दीक्षा देनेवाले आचार्य जो उसके गुरु हैं उनके साथ आजन्म शिष्यभाव रखकर रहे। शिष्यभावसे रहनेका महान् फल है। वह कहते हैं—

'नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य।
धण्णा आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥ १५४ ॥"

—जो शिष्य मृत्यु होने तक (आजन्म) गुरुके साथ रहते हैं वे धन्य पुरुष ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा दर्शन व चारित्रमें पूर्णतः स्थिर होते हैं।

तथा- तद्भक्तिबहुमानाविति ॥ ४ ॥ (२७३)

मूलार्थ- और गुरुकी भक्ति तथा बहुमान करे ॥४॥

विवेचन- भक्ति बाह्य आचरणसे तथा बहुमान हृदयसे होता है। गुरुके साथ रहे तथा अन्न-पान आदि लाकर देना, पैर धोना आदि सेवा करे तथा हृदयसे आदर व प्रेम रखे। विनय व वैयावच्च करना चाहिये।

तथा- सदाज्ञाकरणमिति ॥ ५ ॥ (२७४)

मूलार्थ- निरंतर गुरुके आज्ञाका पालन करे ॥५॥

विवेचन- सर्वदा, हर समय गुरु जो भी आज्ञा दे, चाहे रात्रि हो, चाहे दिवस उसका तत्काल पालन करना चाहिये।

तथा- विधिना प्रवृत्तिरिति ॥ ६ ॥ (२७५)

मूलार्थ-और विधिवत् आचार आदिका पालन करे ॥६॥

विवेचन-शास्त्रोक्त विधिके अनुसार पडिलेहण, प्रमार्जन, गोचरी आदि साधुके आचार भली भांतिसे पालन करना चाहिये। शुद्ध मार्गकी पालन करना।

तथा- आत्मानुग्रहचिन्तनमिति ॥७॥ (२७६)

मूलार्थ-अपने पर किये उपकारका चिंतन करना ॥७॥

विवेचन-गुरुद्वारा किये हुए उपकारोंका विचार करना चाहिये। टीकाकारके अनुसार गुरुकी सारी आज्ञाएं अनुग्रह (उपकार) रूपमें मानना चाहिये कहा है कि—

"धन्यस्योपरि निपतत्यहितसमाचरणधर्मनिर्वापी।
गुरुवदनमलयनिसृतो, वचनरसश्चन्दनस्पर्शः" ॥२५५॥

—अहित आचरणरूप (अमंगल कार्य) गरमीको शांत करनेवाला गुरुके मुखरूपी मलयाचलसे निकला हुआ वचनरस चंदनके स्पर्श समान है। यह भाग्यवान् पुरुषों पर ही पडता है। अतः गुरुके वचन अमंगलकारी आचरणोंको मिटानेवाले हैं और भाग्यवान पुरुषों पर ही पडते हैं-इस प्रकार विचार करें।

तथा- व्रतपरिणामरक्षेति ॥८॥ (२७७)

मूलार्थ-व्रतके परिणामकी रक्षा करनी चाहिये ॥८॥

विवेचन-चारित्र पालनमें जो उपसर्ग तथा परीषह आवें तो उनको यथोचित रीतिसे दूर करना चाहिये। उपसर्गोंसे न डरे तथा परीषहको सहन करे। जिस प्रकार चिंतामणिरत्नकी रक्षा करनेके लिये प्रत्येक प्रकारके कष्ट सह कर भी तत्पर रहते हैं उसी प्रकार

चारित्र चिंतामणिका रक्षण करना चाहिये। प्रतिक्षण इसकी संभाल रखनी चाहिये।

तथा- आरम्भत्याग इति ॥९॥ (२७८)

मूलार्थ-और आरंभका त्याग करे ॥९॥

विवेचन-जिन कार्योंसे छकायकी विराधना हो उसका त्याग करे। ऐसे सब कार्य जिनसे छकायमेंसे किसी भी कायके जीवकी विराधना हो वे सब कार्य त्याज्य हैं। यति उनको न करे।

उस (आरंभ त्याग)का उपाय कहते है—

पृथिव्याद्यसंघट्टनमिति ॥१०॥ (२७९)

मूलार्थ-पृथ्वीकाय आदिका स्पर्श न करे ॥१०॥

विवेचन-असंघट्टन-स्पर्शका न करना-जिससे जीवोंको परितापं या कष्ट कम या अधिक हो, उनको फैंकना आदिका त्याग करना।

पृथ्वीकाय आदि जीवोंका स्पर्श न करे। इन छ काय जीवोंमेंसे किसीका स्पर्श या विराधना न करे। संक्षेपमें छ काय जीवोंकी रक्षा करे।

तथा- त्रिधेर्याशुद्धिः ॥११॥ (२८०)

मूलार्थ-तीन प्रकारकी ईर्याशुद्धि करना ॥११॥

विवेचन-त्रिधा-ऊंचे, नीचे या तिरछी-इन तीन दिशाओंकी अपेक्षासे तीन प्रकारकी, ईर्यायाः शुद्धिः-जाने आनेकी-गमनकी शुद्धि रखना। अर्थात् भलीभांति देखकर चलना।

तीनों दिशाओंमेंसे जाते आते दृष्टि डालते हुए भली प्रकारसे चले ताकि चलनेमें किसी जीवकी विराधना न हो, कोई भी जीव पैर नीचे न आवे। इस प्रकार ईर्यासमिति पाले।

तथा- भिक्षाभोजनमिति ॥१२॥ (२८१)

मूलार्थ-और भिक्षा मांगकर भोजन करना ॥१२॥

विवेचन-भिक्षा तीन प्रकारकी है-१ सर्वसंपत्करी, २ पौरुषघ्नी, और ३ वृत्तिभिक्षा। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

"यतिर्ध्यानादियुक्तो यो, गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः।
सदाऽनारम्भिणस्तस्य, सर्वसंपत्कारी मता ॥१५६॥
"वृद्धाद्यर्थमसङ्गस्य, भ्रमरोपमयाऽटनः।
गृहिदेहोपकाराय, विहितेति शुभाशयात् ॥१५७॥
"प्रव्रज्यां प्रतिपन्नो, यस्तद्विरोधेन वर्तते।
असदारम्भिणस्तस्य, पौरुषघ्नी प्रकीर्तिता ॥१५८॥
"निःस्वान्धपङ्गवो ये तु, न शक्ता वै क्रियान्तरे।
भिक्षामटन्ति वृत्त्यर्थं, वृत्तिभिक्षेयमुच्यते" ॥१५९॥

—जो यति ध्यान आदि सहित, गुरुकी आज्ञामें रहनेवाला, निरंतर आरंभरहित, वृद्ध गुरु आदिके लिये भ्रमरकी तरह अनासक्तिसे घूमनेवाला, जो भिक्षा गृहस्थ तथा देहके उपकारके लिये लाता है वह सर्वसंपत्करी भिक्षा होती है उसमें शुभ आशय रहा हुआ है।

जो पुरुष दीक्षा लेकर उसके विरुद्ध प्रवृत्ति करता है तथा असद् आरंभको करनेवाला है उसकी भिक्षा पौरुषघ्नी कहलाती है।

जो व्यक्ति निर्धन, अंधे तथा लंगडे या लूले है और अन्य कोई क्रिया करनेमें असमर्थ हैं वे वृत्ति या आजीविकाके लिये जो भिक्षाटन करते है, भीख मागते हैं वह वृत्तिभिक्षा कहलाती है।

इनमेंसे यति सर्वसंपत्करी भिक्षासे पिंड लाकर भोजन करे—

तथा- आघाताद्यदृष्टिरिति ॥१३॥ (२८२)

मूलार्थ—जहां जीवहिंसा आदि हो, साधु उसे न देखे।

टीकार्थ—आघातादेः—जहां जीवहिंसा आदि हो अर्थात् कसाईखाना, तथा जहा जुआ खेला जावे या अन्य दुष्ट कार्य होते हो तथा ऐसे ही अन्य प्रमाद स्थानोंकी ओर **अदृष्टिः**— नहीं देखना, दृष्टिपात न करना।

जहा जीवहिंसा हो अथवा तो जूआ, वेश्यागमन, अन्य व्यसनादिमें पडे हुए मनुष्य हों या जहा व्यसन किये जाते हों, नाटक आदिके स्थल जहा भी प्रमाद हो ऐसे सर्व स्थानोंकी ओर साधु न देखे। अपनी दृष्टि न डाले। क्योकि उसके देखनेसे कई पूर्वभवोंके संस्कारोके जागृत हो जाने तथा प्रमादसे हृदय उधर आकर्षित हो जानेकी संभावना रहती है। उससे अनर्थ होता है अतः साधु ऐसे सर्व स्थानोंकी ओर दृष्टि भी न डाले।

तथा- तत्कथाऽश्रवणमिति ॥१४॥ (२८३)

मूलार्थ—और ऐसे स्थानोंकी बात भी न सुनें ॥१४॥

विवेचन—आघात आदि जहा हो ऐसे उपरोक्त स्थानोकी बात भी यदि किसी द्वारा कही जाय तो उसे भी न सुने। उसके सुननेमें उपरोक्त दोष ही है। ऐसे संस्कार जागृत होना संभव है अतः सन्मार्गसे पतित हो सकते हैं।

तथा- अरक्तद्विष्टतेति ॥१५॥ (२८४)

मूलार्थ-और राग-द्वेषका त्याग करे ॥१५॥

विवेचन-सर्वत्र राग-द्वेषके रहित होना। जो प्रिय करते हैं उन पर राग तथा अप्रिय करनेवाले पर द्वेष-दोनोंका त्याग करे। ममत्व या असक्ति न रखे पर प्राणिमात्र पर प्रेमभाव तो रखे। जो अपनेको प्रतिकूल हो-अपनेको सहन न हो वह दूसरेके प्रति नहीं करना चाहिये। कहा है कि—

'राग-द्वेषौ यदि स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम्?।'

—यदि राग-द्वेष वर्तमान है तो तपसे क्या प्रयोजन है? अर्थात् राग-द्वेष न रख कर ही तप करनेसे फलदायी होता है। तपसे भी राग द्वेष नष्ट होता है।

तथा-ग्लानादिप्रतिपत्तिरिति ॥१६॥ (२८५)

मूलार्थ-और बीमार आदिकी सेवा करनी चाहिये ॥१६॥

विवेचन-ग्लानादि- ज्वर पीडा या बीमार, बाल, वृद्ध, बहु-श्रुत, मेहमान आदि, **प्रतिपत्तिः**-योग्य अन्न, पान आदि लाकर देना-वैयावच्च करना।

जो बीमार हो, उम्रमें बालक हो या वृद्ध हो, ज्ञानोपार्जनमें ज्यादा लगा हो या विद्याभ्यास अधिक करे व विद्वान हो अथवा कोई महेमान हो-इन सबकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। उनको अन्न-पान आदि योग्य वस्तु लाकर देना चाहिये। इस वैयावच्चका महान् फल है। कहा है कि—

"पडिमग्गस्स मयस्स व, नासइ चरणसुअं अगुणणाए।
नो वेयावच्चकयं, सुहोदय नासइ कम्मं ॥१६१॥
तथा-
"जह भमरमहुअरिगणा, निवयंति कुसुमियम्मि वणसंडे।
इय होइ निवइयव्वं, गोलग्गे कइयवजढेणं ॥१६२॥"

—चरित्रके परिणामसे भ्रष्ट हुए व्यक्तिका और मृत व्यक्तिका चरित्र नष्ट हो जाता है और गणना या अभ्यास बिना शास्त्र विस्मृत हो जाता है पर शुभ उदयवाला वैयावच्च करनेसे उपजार्जित कर्म नष्ट नहीं होता।

और जैसे पुष्पवाले वनखंडमें भ्रमरीके समुदाय आकर रहते है उस प्रकार ग्लान साधुकी सेवाके लिये पुरुषोको आना चाहिये। अर्थात् आदर सहित सेवा करे। इससे उसके चारित्रपरिणाम भी शुद्ध रहते है।

तथा-परोद्वेगाहेतुतेति ॥१७॥ (२८६)

मूलार्थ-और दूसरोंको उद्वेगका कारण न बने ॥१७॥

विवेचन-परोद्वेग-अपने पक्षके या अन्य पक्षके गृहस्थ या अन्य किसीको उद्वेग उपजे, **अहेतुता**-उसका कारण न बने या ऐसा कार्य न करे।

साधु कोई भी कार्य ऐसा न करे जिससे किसी भी अन्यको उद्वेग उत्पन्न हो। वह ऐसा वचन भी न बोले। उससे शांति उत्पन्न होना चाहिये न कि उद्वेग। कहा है कि—

" धम्मत्थमुज्जयणं, सव्वसापत्तियं न कायव्वं।
इय सजमोऽवि सेओ, पत्थ य भयवं उदाहरणं ॥१६३॥

"सो तावसासमाओ, तेसिं अप्पत्तियं मुणेऊणं ।
परमं अबोहिबीअं, तओ गओ हंतऽकालेऽवि ॥१६४॥
"इय अन्नेणऽवि सम्मं, सक्कं अप्पत्तियं सइजणस्स ।
नियमा परिहरियव्वं, इयरम्मि सतत्तचिंताउ त्ति ॥१६५॥"

—धर्ममें तत्पर पुरुष दूसरोंको अप्रीति करनेवाला कार्य न करे। अप्रीतिके कारणको दूर करनेसे संयम अधिक श्रेयकारी होता है। भगवानका उदाहरण विचारणीय है। जैसे- भगवान किसी तापसके आश्रममें ऊतरे पर यह जान कर कि उसे अप्रीति उत्पन्न होगी और बोधिबीजकी प्राप्ति न होगी अतः अकालमें भी (जब विहार न करपे—वर्षाकालमें) विहार कर गये। अतः संयममें तत्पर साधुजन भावशुद्धि रखनेके लिये लोगोंको अप्रीति हो तो यथासाध्य उस स्थानका त्याग करे। यदि स्थान त्याग न कर सके तो अपने दोष या अपराधका विचार करे।

वह इस प्रकार विचार करे—

"ममैवायं दोषो यदपरभवे नार्जितमहो,
शुभं यस्माल्लोको भवति मयि कुप्रीतिहृदयः ।
अपापस्यैवं मे कथमपरथा मत्सरमयं,
जनो याति स्वार्थं प्रतिविमुखतामेत्य सहसा ॥१६६॥"

—अरे! यह मेरा दोष है, मैंने परभवमें पुण्योपार्जन नहीं किया अतः लोगोंमें मेरे प्रति अप्रीति होती है। यह मेरमें ही किसी दोषके होनेके कारण है। यदि मैं अपापी होता, शुभ कर्मवाला होता तो लोग निश्चित ही अपना काम छोड कर मेरे प्रति विमुख न होते। मेरे पर मत्सर क्यों रखते? अतः यह मेरा ही दोष है— ऐसा विचारे पर क्रोध न करे।

भावतः प्रयत्न इति ॥१८॥ (२८७)

मूलार्थ–भावसे प्रयत्न करे, (मनसे अप्रीतिका कारण टाले)॥

विवेचन–भावतः–चित्तके परिणामसे, **प्रयत्नः**– अप्रीतिके कारणको हटानेका प्रयास।

चित्तके मनके भावसे उस कारणको हटानेका प्रयत्न करे। तात्पर्य यह कि यदि एसी विषम परिस्थिति आ जावे तो कायासे और वचनसे या काया व वचन दोनोसे दूसरोको अप्रीति करनेके कारणको हटानेकी कोशिश करे। स्थान त्याग करे या शांत व मधुर वचनोसे समझावे। दोनोके न होनेपर भावसे दूसरोंकी अप्रीति या उद्वेगको मिटानेका प्रयत्न करे। द्वेष द्वेषसे नष्ट नहीं होता, प्रेमसे मिटता है। भावका फल निश्चित है अतः उत्तम भावसे अप्रीति अवश्य नष्ट होती है। कहा है कि—

'अभिसन्धेः फलं भिन्नमनुष्ठाने समेऽपि हि।
परमोऽतः स एवेह, वारीव कृषिकर्मणि ॥१६७॥

—अनुष्ठान समान होने पर भी भावकी भिन्नतासे भिन्न भिन्न फलकी प्राप्ति होती है। जैसे खेतीमें पानी ही परम कारण है उसी प्रकार भाव फलकी प्राप्तिमें प्रधान कारण है।

तथा–अशक्ये बहिश्चार इति ॥१९॥ (२८८)

मूलार्थ–अशक्य अनुष्ठानका त्याग करे या आरंभ न करे ॥१९॥

विवेचन–अशक्ये-किसी भी कारणसे द्रव्य, क्षेत्र, काल व

भावकी प्रतिकूलतासे, किसी तप आदिका कोई अनुष्ठान करना संभव न हो, बहिश्चारः- त्याग।

जो अनुष्ठान किसी भी हेतुसे करना अशक्य हो उसे त्याग करे ऐसेको प्रारंभ ही न करे। उसका परिणाम शुभ नहीं होता। हृदयमें क्लेश होता है और साध्यवस्तुकी सिद्धि नहीं होती। इससे शक्य कार्यमें भी बाधा आती है अतः अपने सामर्थ्यका विचार करके प्रत्येक धर्मकार्यका प्रारंभ करे।

तथा-अस्थानाभाषणमिति ॥२०॥ (३८९)

मूलार्थ--न बोलनेके स्थान पर (अस्थानमें) बोलना नहीं॥

विवेचन-अस्थाने-जहां बोलनेका उपयोग न हो या बोलना अयोग्य हो।

उचित वस्तु ही बोले तथा योग्य स्थान पर ही बोले। अस्थान पर न बोले। न बोलने योग्य स्थल पर किसी भी कार्यके बारेमें कहना नहीं। अयोग्य स्थल पर बोलनेसे भाषासमितिकी शुद्धि नहीं रहती। सत्य, प्रिय व हितकर बोले, अन्य नहीं।

तथा-स्खलितप्रतिपत्तिरिति ॥२१॥ (३९०)

मूलार्थ-और दोष (स्खलन)का प्रायश्चित्त करे ॥२१॥

विवेचन-स्खलितस्य-किसी भी कारणसे प्रमादके कारण किसी भी मूलगुण आदिके आचारमें विराधना हुइ हो तो, प्रतिपत्तिः उसका शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करना।

किसी भी कारणसे प्रमादवश किसी मूलगुण आदिके आचारकी कोई विराधना हुई हो तो उसका स्वतः या किसीकी प्रेरणासे दोषको स्वीकार करके शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त अंगीकार करे। यदि प्रायश्चित्त या आलोचना न ली जावे तो दोष होने के समयसे दोषका अनन्त गुना दारुण परिणाम आता है, जिसे भोगना पडता है। मूलको मान लेनेसे तथा प्रायश्चित्तसे पाप टल जाता है पर दोषको स्वीकार न करनेसे अनन्त गुना दोष लगता है। शास्त्रमें कहा है—

"उप्पण्णा माया अणुमग्गओ निहंतव्वा।
अलोअणनिंदणगरहणाहि न पुणो विबीयंति ॥१६८॥
"अणंतगमरं पर कम्मं, नेवं गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे, असंसत्ते जिइंदिए ॥१६९॥"

—अपने प्रमादसे उत्पन्न दोषसे मूलगुणकी जो विराधना हुई हो उसकी आलोयण, निंदा और गर्हणासे तथा फिरसे प्रमाद न करनेसे उस विराधनाका नाश करना अर्थात् दोषका प्रायश्चित्त करना और फिरसे भूल न हो उसका संकल्प करना। निर्मल बुद्धिवाला, सुंदर भाववाला, आसक्तिरहित, और जितेन्द्रिय कदाचित् पाप करे पर तत्काल गुरुके पास उसका प्रायश्चित्त करे पर उसे छिपावे नहीं।

तथा—पारुष्यपरित्याग इति ॥२२॥ (२९१)

मूलार्थ—और कठोरताका त्याग करे ॥२२॥

विवेचन—पारुष्यस्य—तीव्र कोप तथा कषायके उदयसे उत्पन्न

कठोरता या कठोर भाषण या स्वपक्ष व परपक्षको लेकर अयोग्यतासे जैसा तैसा बोलना।

हरेक व्यक्ति को चाहिये कि वह कठोरताका त्याग करे। साधुमें तो कठोरताकी जरा भी जरूरत नहीं। हृदयमें आर्द्रता व प्रेम होना चाहिये। कठोर पुरुषका चहेरा व नेत्र भी कठोर होता है तथा वचन भी। इन सबको छोड देना चाहिये। कठोरतासे अप्रीति व उद्वेग उत्पन्न होता है तथा विश्वास नष्ट हो जाता है। अकठोरता रूप विश्वास ही सर्व सिद्धियोंका मूल है। कहा है—

"सिद्धेर्विश्वासितामूलं, यद्यूथपतयो गजा।
सिंहो मृगाधिपत्येऽपि, न मृगैरनुगम्यते" ॥१७०॥

—विश्वास सर्व सिद्धिका मूल है जैसे हाथी यूथपति होकर विचारता है पर सिंह मृगेन्द्र होने पर भी मृग उसके पीछे नहीं जाते। हाथी नहीं मारेगा ऐसा उस पर विश्वास है पर सिंह क्रूर है अतः कोई उसका साथ नहीं देता। अतः मिलनसार स्वभाव रखके अपने पर विश्वास जमावे ताकि सब मनुष्य अपने पर प्रीति, विश्वास व रुचि रखे। कठोर त्यागसे ही रुचि होगी ॥

तथा-सर्वत्रापिशुनतेति ॥२३॥ (२९२)

मूलार्थ-सबके दोष नहीं देखना या दोषारोपण न करना ॥२३॥

विवेचन-अपने व पराये सबके परोक्षमे दोषदर्शन नहीं करना। किसीके भी दोषोके प्रति साधु अपनी दृष्टि न करे। किसीकी

गुप्त बात किसी अन्यको न कहे। साधु गंभीर रहे। दूसरोंके दोष देखनेसे स्वयंकी आत्मा मलिन होती है अत. दोष न देखे। कहा है-

"लोओ परस्स दोसे, हत्थाहत्थि गुणे य गिण्हंतो।
अप्पाणमप्पणा च्चिय, कुणइ सदोसं च सगुण च ॥१७१॥

—जो मनुष्य पराये दोषको खुद ही ग्रहण करता है वह स्वयं दोषयुक्त होता है और जो पराये गुणोंको देखता है वह स्वयं गुणवान बनता है।

तथा-विकथावर्जनमिति ॥२४॥ (२९३)

मूलार्थ-और विकथाका त्याग करना चाहिये ॥२४॥

विवेचन-विकथानाम्-विकथा चार प्रकारकी हैं—स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा व राजकथा-इनका साधु त्याग करे कारण कि स्वभावसे ही इनमे अशुभ आशय रहता है।

साधु इन चारों विकथाओंका त्याग करे। इनसे अंतःकरण मलिन होता है। स्फटिक मणि निर्मल होने पर भी काले नीले या जिस किसी रंगके संबंधमें आवे वैसा दीखता है। उसी प्रकार आत्मा निर्मल होने पर भी स्त्री आदिकी कथा सुनकर उसमे लीन हो जानेसे वैसे भावको पाता है। अतः इन कथाओंसे आत्मा को लाभके बजाय हानि है। कषायोदय होता है अतः न करे न सुने।

तथा-उपयोगप्रधानतेति ॥२५॥ (२९४)

मूलार्थ-और उपयोगकी प्रधानता रखे ॥२५॥

विवेचन-सर्व कार्योंमें, प्रत्येक धर्म अनुष्ठान आदिमें उपयोग-को ध्यानमें रखे। भावसहित क्रिया करे। दान, शील, तप व भावमें में भाव मुख्य है। उपयोग रहित अनुष्ठान केवल द्रव्य अनुष्ठान है। वह क्रिया केवल द्रव्य क्रिया है। अनुयोगद्वारमें कहा है—

"अनुपयोगो द्रव्यम्"-अतः भाव प्रधान रखे। उसके विना अधिक लाभ नहीं होता।

तथा-निश्चितहितोक्तिरिति ॥२६॥ (२९४)

मूलार्थ- और निश्चित किया हुआ हित वचन बोले ॥२६॥

विवेचन-निश्चित-संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय दोषोंसे रहित निश्चय किया हुआ, हितस्य-सुंदर परिणामवाला, उक्तिः-बोलना।

जब साधुको पूर्णतः सब दोषरहित किसी वचनमें विश्वास हो कि यह हित ही करेगा अहित नहीं तब ऐसा निश्चित वचन बोले। कहा है कि—

'कुदृष्टं कुश्रुत चैव, कुज्ञात कुपरीक्षितम्।
कुभावजनकं सन्तो, भाषन्ते न कदाचन' ॥१७२॥

—जो सतजन हैं वे सुने हुए, देखे हुए, जाने हुए, परीक्षा किये हुए और निंदित भाव उत्पन्न करनेवाली एसी इन बुरी बातोंको कदापि नहीं बोलते। यदि ये सब कार्य अच्छे हों तो बोले, एक भी खराब होने पर न बोले।

तथा-प्रतिपन्नानुपेक्षेति ॥२७॥ (२९६)

मूलार्थ-अंगीकृत सदाचारकी उपेक्षा न करे ॥२७॥

विवेचन-गुरुका विनय, स्वाध्याय, साधुका सम्यक् आचार, आदि जो भी अंगीकार किया है वह कदापि न छोड़े, उसकी उपेक्षा या अनादर न करे। उसे यथार्थ रीतिसे पालन करे। साधुके आचार जो पुरुष तिरस्कार करते हैं उनको जन्मान्तरमें भी वह अचार दुर्लभ होता है ॥२९६॥

तथा-असत्प्रलापाश्रुतिरिति ॥२८॥(२९७)

मूलार्थ-असत् (दुष्ट) पुरुषोंके वचन नहीं सुने ॥२८॥

विवेचन--असतां-जो संत नहीं, खल या दुष्ट, **प्रलापाः**-विना मतलबके निरथक वचन, **अश्रुतिः**-नहीं सुनना-ध्यान न देना।

ऐसे दुष्ट जनोंके निरर्थक वचनोंको नहीं सुनना, उनकी ओर लक्ष न देना। यदि वह अपने अपमान आदिमे कहे जावें तो उसके प्रति द्वेष न करके उसको उलटा अनुग्रह समझना, अपने पर किया उपकार समझें। कारण कि वह अपनेको हमारे दोष दिखाता है। कहा है कि—

"निराकरिष्णुर्यदि नोपलभ्यते,
भविष्यति क्षान्तिरनाश्रया कथम्।
यदाश्रयात् क्षान्तिफलं मयाऽऽप्यते,
स सत्कृति कर्म च नाम नार्हति" ॥१७३॥

—यदि कोई अपमान करनेवाला न हुआ तो क्षांति (क्षमा)का आधार क्या? अपमान होनेसे मेरी क्षमाको जो स्थान मिला है उससे क्षमा रखनेका फल मुझे मिलता है। क्षमागुण व लोको-

पर दोनो लाभ हैं। पर अपमान करनेवाला न इस भवमें सत्कार योग्य रहेगा न परभवमें उसे सत्कर्मका फल ही मिलेगा, अतः उसकी क्या गति होगी? यह सोचकर उस पर दया करे। खुद पर उपकार किया ऐसी अनुग्रह बुद्धि तथा दया रखे।

तथा–अभिनिवेशत्याग इति ॥२९॥ (२९८)

मूलार्थ–मिथ्या आग्रहका त्याग करे ॥२९॥

विवेचन–कदाग्रह न रखे। अपनी भूलको अधिक ज्ञानी द्वारा बताये जाने पर तुरंत मान लेना चाहिये। कोई गीतार्थ पुरुष भूल समझावे उसे न मानना कदाग्रह है इसे छोड देना चाहिये। सभी कार्योंमें ऐसे कदाग्रहका त्याग करे।

तथा–अनुचिताग्रहणमिति ॥३०॥ (२९९)

मूलार्थ–और अयोग्यको ग्रहण न करे ॥३०॥

विवेचन–अनुचितस्य–साधुके आचारको बाधा करे या हानि करे वह अयोग्य–सर्व अयोग्य वस्तुओका त्याग करे। अशुद्धपिंड (आहार), शय्या, वस्त्रादि धर्मके अन्य उपकरण जो अयोग्य हों उनको ग्रहण न करे, न ले। दीक्षाके अयोग्य बालक, वृद्ध तथा नपुंसक आदिको दीक्षा न दे। कहा है कि—

"पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव च।
अकप्पियं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥१७४॥

"अट्ठारसपुरिसेसुं, वीसं इत्थीसु दसनपुंसेसु।
पव्वावणा अणरिहा, पन्नत्ता वीयरागेहिं" ॥१७५॥

—पिंड, शय्या, वस्त्र तथा पात्र–ये सब या जो कोई अकल्पित हो, साधुको न कल्पे ऐसे हों तो उसे ग्रहण न करे। और कल्पनीय हो, ग्रहण योग्य हो तो जितनी आवश्यकता हो उतना ही (उचित मात्रामें, ग्रहण करे।

श्रीवीतराग प्रभुके कथनके अनुसार अठारह प्रकारके पुरुष, वीस प्रकारकी स्त्रियें तथा दस प्रकारके नपुंसक दीक्षाके योग्य नहीं हैं। वे इस प्रकार है—

'बाले वुड्ढे नपुंसे य, कीवे जड्डे य वाइए।
तेणे रायावगारी य, उम्मत्ते य अदंसणे॥
दासे दुट्ठे य मूढे य, अणत्ते जुंगिए इय।
ओवद्धए य भयगो, सेह निप्फेडिए इय" ॥१७६॥

—बालक, वृद्ध, नपुंसक, क्लीब, जड, रोगी, चोर, राजाका अपकार करनेवाला, उन्मत्त, अन्धा, दास, दुष्ट, मूढ, ऋणी जाति-कर्म व शरीरसे अशुद्ध या दूषित, स्वार्थसे प्रेरित या बंधा हुआ, द्रव्यसे रखा हुआ चाकर और माता पिता आदिकी आज्ञा बिना आनेवाला–यह अठारह प्रकारके पुरुष दीक्षा लेने योग्य नहीं है।

सगर्भा तथा छोटे बच्चेवाली–इन दो प्रकारकी उपरोक्त दोषों-वाली स्त्रियोंके १८ प्रकारके साथ जोडनेसे २० प्रकारकी इन दोषों-वाली स्त्रिये दीक्षाके योग्य नहीं हैं।

इन सबके बारेमें कुछ विवेचन इधर–उधरसे लेकर जोडा जाता है। ये निम्नोक्त लोग दीक्षाके योग्य नहीं हैं।

१. वाल—जन्मसे ८ वर्ष तक वालक रहता है, वह दीक्षा योग्य नहीं है। 'प्रवचनसारोद्धार'के अनुसार दीक्षाकी जघन्य या लघुतम आयु ८ वर्ष कही है, इससे कम दीक्षाके योग्य नहीं। वह देशविरति या सर्वविरतिका अधिकारी नहीं। वज्रस्वामीने छमासकी आयुमें ही भावसे सर्व सावद्य विरतिका त्याग किया था। ऐसा अपवाद है उदाहरण नहीं माना जा सकता। वालक होनेसे पराभव भी होता है। संयमकी विराधना व लोकनिंदा होती है अतः वालकको दीक्षा न दे।

२. वृद्ध— सित्तर—७० वर्षसे अधिक वृद्ध कहलाता है। कोई ६० वर्षसे अधिकको भी वृद्ध कहते हैं। उस वयमें इंद्रिय हानि हो जाती है। १०० वर्षके आयुमें यह प्रमाण है। जब आयुमान कम हो, मनुष्यकी साधारण आयु कम या अधिक हो तो दस भागमेंसे ७ भाग तक ही दीक्षाके योग्य माना गया है। १० मेंसे ८ वां या अधिक भागमें वृद्ध गिना जाता है।

३. नपुंसक— स्त्री व पुरुष दोनोंका अभिलाषी, पुरुष आकृतिवाला अथवा दोनो लिंगो रहित व्यक्ति नपुंसक है।

४. क्लीव— दर्शन व श्रवणसे विकारको सहनेमें असमर्थ, स्त्रियोंद्वारा प्रार्थना किये जाने पर या अंगोपाग देख कर या ऐसी वार्ता सुनकर कामातुर होनेवाला क्लीव है। वह कभी वलात्कार भी करे अतः वह अयोग्य है।

५. जड— ये तीन प्रकारके हैं— भाषाजड, शरीरजड तथा करणजड। तुतलाना, हकलाना या अव्यक्त शब्द कहना तीनों भाषा-

जड है। स्थूल शरीर होनेसे भिक्षाटन, वंदन तथा विहार आदि करनेमें असमर्थ हो वह शरीरजड तथा साधु क्रियाके पालनमें असमर्थ वह करणजड। अर्थात् पांच समिति, तीन गुप्ति, प्रतिक्रमण, पडिलेहण आदि संयमकी क्रियाएं उपदेश करने पर भी न कर सके, प्रमादवश या जडतावश वह करणजड है। तीनो दीक्षाके अयोग्य हैं। भाषाजड ज्ञानप्राप्तिमें असमर्थ है, शरीरजड आवश्यक क्रियाओमें तथा करणजड आवश्यक नियमादिके पालनमें असमर्थ हैं।

६. रोगी– भगंदर, अतिसार, कोढ, पथरी, क्षय, ज्वर आदि व्याधि या रोगोंसे पीडित व्यक्तिको दीक्षा नहीं देना चाहिये। चिकित्सामें छकाय जीवकी विराधना संभव है तथा स्वाध्याय होना भी कठिन है।

७. स्तेन या चोर अनर्थका कारण होनेसे अयोग्य है।

८. राजापकारी– राजाके भंडार, अंतःपुर, शरीर या कुटुंबका द्रोह करनेवाला कारागृह देशनिकालके पात्र है अतः दीक्षाके योग्य नहीं।

९. उन्मत्त– पागल या मोहके उदयसे परवश दीक्षाके योग्य नहीं है। उससे स्वाध्याय, ध्यान व संयमका पालन अशक्य है।

१०. अदर्शन या अंध, नेत्ररहित या समकितदृष्टिहीन इससे छकाय जीव विराधना होती है। समकित न होनेसे चारित्रके योग्य नहीं होता।

११. दास– दासीसे उत्पन्न या मोल लिया हुआ। वह स्वयं अपना अधिकारी नहीं है। स्वामीका उस पर स्वत्व है।

१२. दुष्ट– कषायदुष्ट जो मामूली कारण होनेसे अतिकषाय या क्रोध करनेवाला तथा विषयदुष्ट जो परस्त्री आदिमें या व्यसनोमें लुब्ध हो; ये दोनों ही दीक्षाके अयोग्य हैं।

१३. मूढ– स्नेह या अज्ञानसे वस्तुज्ञानरहित मूढमें कार्य, अकार्यका विवेक नहीं होता।

१४. ऋणी– राजा या अन्यका कर्जा हो। उसका निरादर होता है।

१५. जुंगित– जाति, कर्म या शरीरसे दूषित–हलकी जाति-वाला, चंडाल, मोची आदि जातिजुंगित है। मोर, तोता आदि पालकर बेचनेवाले, नट तथा शिकार आदि निन्द्य कर्म करनेवाले कर्मजुंगित हैं। विकलांग जैसे बहरे, लूले, लंगडे, काने, कुबडे आदि शरीरजुंगित हैं।

१६. अवबद्ध– द्रव्य या विद्या निमित्त दीक्षा लेनेवाला या काल नियत करके दीक्षा लेनेवाला अवबद्ध है। उससे कलह आदि दोषकी उत्पत्ति संभव है।

१७. भृतक– अवधि सहित रखा हुआ चाकर अवधि समाप्ति तक अयोग्य है।

१८. निष्फेटिका– माता-पिता आदिकी आज्ञा बिना आये हुए या अपहरण किये हुएको दीक्षा न दे। इससे माता, पिता आदिका कर्मबंध होता है तथा दीक्षा देनेवालेको अदत्तादान लगता है। तथा—

"पंडए वाइए कीवे, कुंभी ईसालुय त्ति य।
सउणी तक्कम्मसेवी य, पक्खियापक्खिए इय" ॥१७७॥
"सोगंधिए य आसत्ते, एए दस नपुंसगा।
संकिलिट्ठ त्ति साहूणं, पव्वावेउं अकप्पिया" ॥१७८॥

—पंडक, वातिक, क्लीब, कुंभी, ईर्ष्यालु, शकुनि, तत्कर्मसेवी, पाक्षिकापाक्षिक, सौगंधिक और आसक्त–ये दस प्रकारके नपुंसक हैं। ये संक्लेशका कारण होनेसे दीक्षाके योग्य नहीं हैं—

१. पंडक– जिसका आकार पुरुषका हो पर स्वभाव स्त्रीका हो। मदगति, शीतल शरीर, स्त्रीकी तरह केशबंधन करनेवाला, आभूषणोंकी अधिक इच्छा करनेवाला, पुरुषोंमें शंका व भय रखना, ये उसके लक्षण हैं। पुरुष चिह्न बडा, वाणी स्त्रीके जैसी, स्वरमें भेद तथा रस, गंध, वर्ण, स्पर्श आदिमें स्त्रीसे विलक्षण हो।

३ वातिक– पुरुषचिह्न स्तब्ध होने पर स्त्रीसेवा बिना वेदको धारण करनेमें असमर्थ हो।

४. क्लीब– स्त्रीको देख कर, शब्द सुन कर, आलिंगनसे या निमत्रणसे जो क्षोभ पाता है वह क्लीब है।

५. कुंभी– जिसका पुरुषचिह्न कुभकी तरह स्तब्ध हो अथवा कुंभ जैसे स्तन हों वह कुभी कहलाता है।

५. ईर्ष्यालु– स्वयं स्त्रीका सेवन करनेमें असमर्थ होनेसे अन्य कोई स्त्रीका सेवन करे तो उस स्त्रीको देख कर ईर्ष्या करनेवाला ईर्ष्यालु है।

६. शकुनि— जो बार बार स्त्रीसेवनमें आसक्त हो।

७. तत्कर्मसेवी— जिह्वा आदिसे चाटने जैसे निंद्य कर्म करनेवाला।

८. पाक्षिकापाक्षिक— जिसे एक पक्ष अतिशय मोह व दूसरेमें अल्प मोह हो।

९. सौगंधिक— अपने लिंगको शुभ गंधवाला जान कर सूंघा करे।

१०. आसक्त— वीर्यपात बाद भी आलिंगन बद्ध ही रहे।

पुरुष व स्त्रीमें जो नपुंसक भेद बताया वह पुरुषाकृति तथा स्त्रीआकृतिवाले नपुंसकके लिये कहा है। उपरोक्त दस भेद नपुंसक आकृतिवाले नपुंसकके हैं। यह तीनों तरहके नपुंसकोंमें भेद है।

शास्त्रमें कुल नपुंसक १६ कहे हैं। उपरोक्त १० दीक्षाके अयोग्य हैं। जो छ प्रकारके नपुंसक दीक्षाके योग्य निशीथाध्ययन सूत्रमें कहे हैं वे ये हैं—अर्थात् निम्न छ प्रकारके दीक्षाके योग्य समझना।

१. वर्द्धितक— राजाद्वारा अंतःपुरकी रक्षाके लिये नाजर किया हुआ पुरुष।

२. चिप्पित— जन्म होते ही अंगुलियोंके मर्दनसे वृषण गलाये हों वह पुरुष।

३. मन्त्रोपहत— मंत्रसे जिसका पुरुषवेद नष्ट हुआ हो।

४. औषध्युपहत— औषधिसे जिसका पुरुषवेद नष्ट हुआ हो।

५. ऋषिशप्त } जो ऋषि या देवके शापसे पुरुषवेद नष्ट
६. देवशप्त } होकर नपुंसक बना हो।

ये दीक्षाके योग्य हैं। इसका विशेष स्वरूप निशीथा-ध्ययनसे जानना।

तथा–उचिते अनुज्ञापनेति ॥३१॥ (३००)

मूलार्थ–योग्य वस्तुके ग्रहणमें अनुज्ञा लेना ॥३१॥

विवेचन–जो उपरोक्त पिंड आदि वस्तुएं ग्रहणके योग्य हों, अयोग्य न हो, उनको ग्रहण करनेमें गुरुकी या स्वामीकी अनुमति लेना चाहिये। जैसे 'आप यह वस्तु ग्रहण करनेकी आज्ञा दीजिये' अन्यथा अदत्तादान होता है।

तथा निमित्तोपयोग इति ॥३२॥ (३०१)

मूलार्थ–शकुन आदि निमित्तका विचार करना ॥३२॥

विवेचन–उचित आदि आहार ग्रहण करनेमें साधु शुद्धि व अशुद्धिके साधुजनोंमें प्रसिद्ध शकुनका विचार करे। जो निमित्त अशुद्ध लगे तो चैत्यवंदन आदि शुभ क्रिया करना चाहिये और निमित्त या शकुनका पुनः विचार करे। ऐसा तीन बार करने पर यदि तीनों बार निमित्तशुद्धि न हो तो साधु उस दिन कुछ भी ग्रहण न करे। यदि कोई दूसरा ले आवे तो उसे खा लेनेमें कोई हानि नहीं। निमित्तशुद्धि होने पर भी—

अयोग्येऽग्रहणमिति ॥३३॥ (३०२)

मूलार्थ–अयोग्य वस्तु ग्रहण न करे ॥३३॥

विवेचन–अयोग्य या अनुचित आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि वह कोई उपकार नहीं करता। शास्त्रमें आहारग्रहण

करनेकी जो विधि है उस प्रकार बयालीस दोषरहित आहार ग्रहण करना चाहिये ।

तथा-अन्ययोग्यस्य ग्रह इति ॥३४॥ (३०३)

मूलार्थ-अन्यके योग्य वस्तुको भी ग्रहण कर सकता है ॥३४॥

विवेचन-खुदको छोड कर गुरु अथवा ग्लान, बाल आदि साधुके योग्य जो वस्तु हो तो उसे आवश्यकता होने पर ग्रहण किया जा सकता है । ऐसा ग्रहण करने पर क्या करे सो कहते हैं—

गुरोर्निवेदनमिति ॥३५॥ (३०४)

मूलार्थ-गुरुसे निवेदन करे ॥३५॥

विवेचन-उपाश्रय या रहनेके स्थानमे सौ हाथसे अधिक दूर जाने पर या जाकर वस्तु लाने पर पहले आनेको ईर्यापतिक्रमण आदि आलोयणा करना । और तब गुरुसे निवेदन करना । सो हाथके भीतरसे लाने पर आलोयणा बिना ही गुरुसे निवेदन करना । जिसके हाथसे जिस प्रकार वस्तु प्राप्त हो वह सब निवेदन करके वह गुरुको सौंपना चाहिये । यह कर लेनेसे—

स्वयमदानमिति ॥३६॥ (३०५)

मूलार्थ-स्वय दूसरेको (गुरु आज्ञा विना) न दे ॥३६॥

विवेचन-वह स्वयं लाने पर भी अपने आप दूसरोंको न दे क्योंकि वह गुरुको समर्पित की हुई है । अतः गुरु आज्ञा विना

किसीको न दे।

यदि गुरु स्वयं बालक, वृद्ध या बीमारको कुछ दे तो अच्छा है। यदि गुरु किसी काममें लगे हुए हो और खुद न देकर उसीसे दिलवे तो—

तदाज्ञया प्रवृत्तिरिति ॥३७॥ (३०६)

मूलार्थ-गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करना ॥३७॥

विवेचन-गुरुकी आज्ञासे लाई हुई सारी सामग्रीको बांट देना चाहिये। उसमें भी—

उचितच्छन्दनमिति ॥३८॥ (३०७)

मूलार्थ-योग्य पुरुषकी निमन्त्रणा करना ॥३७॥

विवेचन-अपने साथ जो बराबर भागमे खा सके ऐसे बाल आदि साधुको अन्नग्रहणकी अभिलाषा उत्पन्न करा कर उसको देवे। दूसरेको नहीं देना क्योकि दूसरेको देनेका उसे अधिकार नहीं है। सबको देनेके बाद बचे हुए अन्नका—

धर्मायोपभोग इति ॥३९॥ (३०८)

मूलार्थ-धर्मके लिये उपभोग करना ॥३९॥

विवेचन-शरीर धर्मका साधन है। अतः धर्मके आधारभूत शरीरके लिये धर्म साधनार्थ उस अन्नको खावे। पर शरीर, आकृति या वीर्यबलकी वृद्धिके लिये नहीं। कहा है कि—

"वेयण वेयावच्चे, इरियट्ठाए य संयमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥१७२॥"

—भूखकी शांतिके लिये वैयावच्च (सेवा) करनेके लिये, ईर्या-समितिके शोधनके लिये, संयम धारण करनेके लिये, प्राण धारण करनेके लिये और धर्म चिंतवनके लिये अन्नका उपभोग करे या अन्न ग्रहण करे।

तथा-विविक्तवसतिसेवेति ॥४०॥ (३०९)

मूलार्थ-और एकांत स्थानमें निवास करना ॥४०॥

विवेचन-विविक्तायाः-स्त्री, पशु या नपुंसक जहां न रहते हों; **वसतेः**-स्थानका, **सेवा**-उपयोग करना।

ऐसे स्थान पर जहां स्त्री, पशु या नपुंसक न रहते हों वहां रहे। अर्थात् एकान्त स्थानमें वास करे। एकांतमें न रहनेसे साधुको ब्रह्मचर्यभंगका प्रसंग उपस्थित हो सकता है। अर्थात् ब्रह्मचर्य पालनके लिये एकांतमें रहे।

ब्रह्मचर्य पालन करनेमें बची हुई गुप्तियोंके पालनके लिये अब कहते हैं—

तत्र स्त्रीकथापरिहार इति ॥४१॥ (३१०)

मूलार्थ- उसमें स्त्रीकथाका त्याग करे ॥४१॥

विवेचन-ब्रह्मचर्य पालनके लिये, शेष गुप्तियोंके पालनके लिये जो आगे आठ सूत्र कहे जाते हैं उसमें पहला यह है। स्त्रीकथा चार प्रकारकी है—जाति, कुल, रूप व वस्त्र आदि वेषके बारेमें कथा। जैसे ब्राह्मण आदि जाति चौलुक्य आदि कुल, शरीरके आकार प्रकार तथा वेषभूषाके बारेमें बातें करना। स्त्रीकथा कामोद्दीपन करती है अतः न सुने, न करे और न पढे। ब्रह्मचर्यके लिये यह आवश्यक है। जैसे—

"धिग् ब्राह्मणीर्धवाभावे, या जीवन्ती मृता इव।
धन्या शूद्री जनैर्मान्या, पतिलक्षेऽप्यनिन्दिता ॥१८०॥

"अहो! चौलुक्यपुत्रीणां, साहसं जगतोऽधिकम्।
विशन्त्यग्नौ मृते पत्यौ, या प्रेमरहिता अपि ॥१८१॥

"अहो! अन्ध्रपुरन्ध्रीणां, रूपं जगति वर्ण्यते।
यत्र यूनां दृशो लग्ना, न मन्यन्ते परिश्रमम् ॥१८२॥

"धिग् नारीरौदीच्याः, बहुवस्त्राच्छादिताङ्गलतिकत्वात्।
यद्यौवनं च यूना, चक्षुर्मोदाय भवति सदा ॥१८३॥"

—ब्राह्मण नारीको धिक्कार है जो पतिके मृत्यु पर मृतवत् रहती है। धन्य है शूद्र नारीको जो कई पति होने पर भी लोगोंमें मान्य व अनिंदित रहती है। अहो! चौलुक्य पुत्रियोंका साहस सबसे अधिक है। प्रेम रहित होने पर भी वे पतिके मरने पर अग्निमें प्रवेश करती है। अहो! आन्ध्रदेशकी स्त्रियोंका रूप जगत्में प्रसिद्ध है जहा स्त्रीके रूपको देखते हुए नेत्र कभी थकते ही नहीं। औदीच्य नारी या उत्तरीय नारीको धिक्कार है जो अपने लता समान अंगोंको बहुत वस्त्रोंसे आच्छादित कर लेती है जिसस उनका यौवन युवानोंके देखनेके उपयोगमें नहीं आता। ऐसी स्त्रीकथाको त्याग करे, ऐसी पुस्तकें भी न पढे।

निषद्यानुपवेशनमिति ॥४२॥ (२११)

मूलार्थ-स्त्रीके आसन पर नहीं बैठना चाहिये ॥४२॥

विवेचन-स्त्रीके बैठनेके पट्ट आदि आसन पर ब्रह्मचारी स्त्रीके उठ जाने पर भी दो घडी (४८ मिनिट) तक न बैठे। तत्काल

ऐसे आसन पर बैठनेसे स्त्रीके संयोगसे उत्पन्न उष्णताके स्पर्शसे साधु या ब्रह्मचारीका मन विह्वल हो सकता है। अतः उसी स्थान पर तुरंत नहीं बैठना।

इन्द्रियाप्रयोग इति ॥४३॥ (३१२)

मूलार्थ-स्त्रीके अवयवोंकी तरफ इंद्रियोंका प्रयोग न करे ॥४३॥

विवेचन-इन्द्रियाणां-नेत्र आदि इन्द्रियोसे स्त्रीके शरीरके **गुह्य,** साथल, मुख, कान, स्तन आदि अवयवोंको देखना, छूना आदि, **अप्रयोगः**-प्रयोग नहीं करना।

ब्रह्मचारी स्त्रीको विषयभावसे देखे नहीं। स्त्रीके इन अवयवोंको विषयभावसे देखनेसे, उनको निरखनेमे कामकी उत्तेजना होती है। देखनेसे मनमे कामभाव पैदा होता है। किसी भी अंगका स्त्री पर प्रयोग नहीं करना-जैसे स्पर्श, नेत्र, हाथ या अन्य कर्मेन्द्रियका-सबका प्रयोग वर्जित है।

कुड्यान्तरदाम्पत्यवर्जनमिति ॥४४॥ (३१३)

मूलार्थ-एक दीवारके अंतरसे दम्पति रहते हों वहां न रहे ॥४४॥

विवेचन-कुड्यं-एक दीवार, **दाम्पत्यं**-स्त्री व पतिका जोडा।

यदि एक ही दीवार बीचमें हो व उसके दूसरी ओर पति,पत्नी रहते हों तो ऐसे स्थान पर साधु न रहे। ऐसी जगह पर स्वाध्याय व ध्यान भी नहीं हो सकता। साथ ही ऐसे स्थान पर जब काम-

क्रीडाकी बातें होती हों तो वह सुननेमें आवे अतः साधुका मन स्खलित हो तथा विह्वल हो और ध्यान, स्वाध्याय न हो सके।

पूर्वक्रीडितास्मृतिरिति ॥४५॥ (३१४

मूलार्थ–स्त्रीके साथ की हुई पहलेकी क्रीडाका स्मरण न करे ॥४५॥

विवेचन–दीक्षा लेनेके पहले स्त्रीके साथके कामभोग तथा क्रीडा वा विलास, खास तौरसे वे प्रसग जो आनंददायक थे, उनको याद न करे। इससे मन उसकी ओर प्रेरित होता है तथा कामोद्दीपन भी होता है। यह भुक्तभोगी साधुके लिये विशेषतया कहा है।

प्रणीताभोजनमिति ॥४६॥ (३१५)

मूलार्थ–अतिस्निग्ध भोजनका त्याग करे ॥४६॥

विवेचन–जो आहार बहुत स्निग्ध या रसप्रद हो जैसे घीके बिंदु टपके ऐसा रसीला आहार साधु न करे। इससे कामविकारकी उत्पत्ति होती है। साथ ही ऐसी सर्व वस्तुओंका भी त्याग करे जो कामवृद्धि करती हैं।

अतिमात्राभोग इति ॥४७॥ (३१६)

मूलार्थ–अतिशय आहार नहीं करना ॥४७॥

विवेचन–अतिस्निग्ध न हो तब भी अधिक मात्रामें खाना नहीं चाहिये। शास्त्रोक्त प्रमाण ३२ कवलका है। ज्यादा भोजन करनेसे इन्द्रियें सतेज होती हैं जिससे कामविकारकी उत्पत्ति होकर

उसे वशमें करना कठिन होता है।

विभूषापरिवर्जनमिति ॥४८॥ (३१७)

मूलार्थ–शृंगारका त्याग करे ॥४८॥

विवेचन–विभूषा अर्थात शरीरका शृंगार करनेवाले वेषको धारण न करें। शरीरकी शोभा बढानेके लिये किया हुआ वेश तथा तेल, इत्र आदि लगाना भी कामोद्दीपक है और इन्द्रियोंको विलासी बनाता है। अतः साधु इसे त्यागें।

स्त्रीकथासे लेकर कहे हुए ये नौ सूत्र जिसमें ब्रह्मचर्यपालन संबंधी नौ नियम हैं, ब्रह्मचर्यपालनमें सहायक हैं। ये ब्रह्मचर्यकी नौ वाड या ब्रह्मचर्यको पालनेके लिये नौ दीवारें हैं। साधु व ब्रह्मचारी इन नियमोंका पालन करें। ये मोहके उत्तेजनाके निमित्त हैं अतः इनका निषेध किया है।

तथा–तत्त्वाभिनिवेश इति ॥४९॥ (३१८)

मूलार्थ–तत्त्वके प्रति पूर्ण आदर रखे ॥४९॥

विवेचन–सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी पुष्टि करनेवाली सब क्रियाओंमें असमर्थ हो अथवा अशक्त हो उसके प्रति मनसे भाव रखे तथा उसे करनेकी इच्छा रखे ॥

तथा–युक्तोपधिधारणमिति ॥५०॥ (३१९)

मूलार्थ–और योग्य सामग्री रखे या धारण करे ॥५०॥

विवेचन–शास्त्रोक्त प्रमाणवाली, लोकापवाद रहित तथा स्वयं

व अन्य किसीको राग उत्पन्न न करे ऐसी वस्तु या सामग्री ग्रहण करे व रखे। वस्त्र, पात्र आदि वस्तुएं सब योग्य प्रमाणमें श्लोक तथा आवश्यकतानुसार ग्रहण करें। इन उपकरणोंमें किसीका राग उत्पन्न न हो। यदि अधिक हो तो उनका त्याग भी उचित है। उपयोगसे अधिक सामग्री होनेसे ममता बढती है तथा संयमपालनमें बाधा आती है। कहा है कि—

"धारणया उवभोगो, परिहरणा होइ परिभोगो" ॥१८३॥

—वस्त्र, पात्रादिकका धारण करना तथा त्याग करना क्रमशः उपभोग व परिभोग कहलाता है अत अधिक वस्तुका परिभोग और त्याग करें।

तथा-मूर्च्छात्याग इति ॥५१॥ (३२०)

मूलार्थ-और मूर्च्छाका त्याग करे ॥५१॥

विवेचन-सामग्री कम होनेके साथ उसमें ममत्व तो जरा मात्र भी न रखे। जहा ममत्व भावना है चाहे सामग्री कम हो या अधिक वहा परिग्रह है और पाचवें महाव्रतका खण्डन होता है। सब बाह्य व अभ्यतर वस्तुओंमें जैसे शरीरका बल आदि, ममता व मूर्छाका त्याग करें।

तथा-अप्रतिबद्धविहरणमिति ॥५२॥ (३२१)

मूलार्थ-और प्रतिबंधभाव रहित विहार करे ॥५२॥

विवेचन-देश, ग्राम, कुल आदि किसीमें ममता न रखे। मूर्च्छा भावनाका त्याग करके विहार करे। साधुलोक कल्याणके

लिये विविध स्थलोंमें घूमे । किसी देश, स्थान, कुल अथवा भक्त-जनोंके प्रति ममता नहीं रखना चाहिये ।

तथा-परकृतबिलवास इति ॥५४॥ (३२२)

मूलार्थ-अनुज्ञासे शुद्धि करके निवास करे ॥५४॥

विवेचन-अवग्रह पाच है- देवेन्द्र, राजा, गृहपति, शय्यातर व साधर्मिक-इन पाचोंकी आज्ञा या अनुज्ञा लेकर तब उस स्थान पर रहे । साधुके पास अपना कोई स्थान नहीं अत जिसके आधि-पत्यमें जगह हो उसकी आज्ञा लेना जरूरी है ।

सौधर्मेन्द्र जो इस स्थानका अधिपति है, राजा, चक्रवर्त्ती आदि जिसका राज्य हो, गृहपति, उस देशका नायक या जागीरदार हो, शय्यातर-उस घरका खुद मालिक या जिसके कबजेमें वह स्थान हो तथा आचार्य, उपाध्याय आदि जो आसपास पाच कोस तक रहते हो उनकी आज्ञा लेना चाहिये । इन सबकी आज्ञा ही अवग्रह शुद्धि है । उसके बाद ही वहां निवास करे ।

मासादिकल्प इति ॥५५॥ (३२३)

मूलार्थ-मास आदि कल्पके अनुसार विहार करे ॥५५॥

विवेचन-मास कल्प व चतुर्मास कल्प जो शास्त्रमें कहा है उसके अनुसार विहार करे । साधु चातुर्मासमें चारों महिने (अथवा पांच) तथा अन्य समयमें एक माससे अधिक एक जगह रह नहीं सकते । अतः उस प्रकार विहार करना चाहिये ।

जब दुष्काल हो, राजाओंका परस्पर युद्ध हो, अपने पैरसे चलनेकी शक्तिका ह्रास हो ऐसे समय मासकल्प आदिके अनुसार विहार या भ्रमण न कर सके तो क्या करे ?

एकत्रैव तत्क्रियेति ॥५६॥ (३२४)

मूलार्थ–एक ही क्षेत्रमें मासकल्प आदि करे ॥५६॥

विवेचन–उपरोक्त कारणोंसे एक नगर या देश छोडकर दूसरी जगह जानेका न हो सके तो एक गांवसे दूसरे गांव, एक स्थानसे दूसरे स्थान, एक गलीसे दूसरी गली अथवा तो भिन्न उपाश्रय, उसी उपाश्रयमे भिन्न स्थान, अथवा तो अंततः जिस स्थान पर संथारा हो उसको छोड कर दूसरे स्थानमें संथारा करे पर कल्पको दूषण न लगे। कहा है कि–

> "संथारपरावत्त, अभिग्गहं चेव चित्तरूवं तु।
> पत्तो चरित्तिणो इह, विहारपडिमाइसु करित्ति" ॥१८४॥

–जिनशासनके चारित्रधारी मुनिविहार और पडिमाको करनेके लिये अंतत संथारा परिवर्तन भी करके और अभिग्रह करके उसका पालन करें।

तत्र च सर्वत्राममत्वमिति ॥५७॥ (३२५)

मूलार्थ–वहां भी सब वस्तुओंमें ममत्वरहित हो ॥५७॥

विवेचन- वृद्धावस्था आदि उपरोक्त कारणोंसे यदि एक ही स्थल पर रहना पडे तो भी वहा रही हुई सब वस्तुओं, उपाश्रय, पुस्तक या अन्यके प्रति ममत्वभावना रहित रहे, इसीलिये भ्रमण आवश्यक है।

तथा-निदानपरिहार इति ॥५८॥ (३२६)

मूलार्थ-और नियाणाका त्याग करना चाहिये ॥५८॥

विवेचन-देवता या राजादिककी ऋद्धि प्राप्त करनेकी इच्छा करना निदान या नियाणा है। धर्मरूपी कल्पवृक्षका मूल सम्यग्-दर्शन है। ज्ञान व विनय उसका थड है। दान शील, तप और भावना उसकी डालिया हैं। देव व मनुष्यके सुख उसके पुष्प हैं तथा मोक्ष उसका फल है अतः हमेशां लक्ष्य मोक्षका रखना। नियाणा या निदान करना धर्मरूपी कल्पवृक्षको छेदना है। अतः उस निदानका त्याग करे। ऐसी ऋद्धि आदिकी वांछा (इच्छा) न करे। मोक्षप्राप्तिके लिये किये गये प्रयत्नके फलस्वरूप अन्य ऋद्धि अपने आप प्राप्त हो जाती है जैसे अन्नकी खेतीमें घास। अतः निष्कामवृत्ति रखें। निदानका परिणाम बुरा है। कहा है कि—

'यः पालयित्वा चरणं विशुद्धं, करोति भोगादिनिदानमज्ञः।
द्रौ वर्द्धयित्वा फलदानदक्षं, स नन्दनं भस्मयते वराकः॥१८५॥"

—जो अज्ञ शुद्ध चारित्रका पालन करके भोग आदिकी प्राप्तिका निदान करता है वह मन्दबुद्धि सुंदर फल देनेवाले नन्दन वनको बडा करके भी जला देता है। तब क्या करे, वह कहते हैं—

विहितमिति प्रवृत्तिरिति ॥५९॥ (३२७)

मूलार्थ-सब क्रियायें शास्त्रोक्त है अतः प्रवृत्ति करना चाहिये ॥५९॥

विवेचन-सब धर्म क्रियाये भगवान द्वारा निरूपित हैं, शास्त्रमें

कही हुई हैं ऐसा सोच कर क्रियायें करे। सब धर्म कार्योंमें प्रवृत्ति इसी धारणासे करे। वह भगवान द्वारा कर्तव्यरूपमें कही हैं अतः करनी हैं। पुण्य व पाप स्वर्ण व लोहेकी बेडी समान हैं जो दोनो बन्धनयुक्त हैं, अतः आसक्ति रहित निष्काम वृत्तिसे कर्म करना चाहिये।

तथा-विधिना स्वाध्याययोग इति ॥६०॥(३२८)

मूलार्थ-और विधिवत् स्वाध्याय करे ॥६०॥

विवेचन-काल, विनय आदि शास्त्रोक्त विधिसहित स्वध्याय करे। पढना, सुनना व मनन करना, उसका समय तथा विनयपूर्वक वाचना लेना आदि विधिसे करे। गुरुका विनय व बहुमान करनेका नियम पाले।

तथा-आवश्यकापरिहाणिरिति ॥६१॥ (३२९)

मूलार्थ-आवश्यक कार्योंका भंग नहीं करना ॥६१॥

विवेचन-आवश्यक-समयके अनुसार करनेयोग्य नियमित कर्त्तव्योंका जैसे पडिलेहण आदि, **अपरिहाणिः**-तोडना नहीं-भंग न होने देना।

जिस जिस समय पर साधुको करनेके जो जो अनुष्ठान है वह उसके आवश्यक कर्म हैं, उनको अवश्य ही करना चाहिये। वे साधुपनेके मुख्य चिह्न हैं। उसके लिये दशवैकालिक सूत्रमें लिखा है—

"संवेगो निव्वेओ, विसयविवेगो सुसीलसंसग्गी।
आराहणा तवोनाणदंसणचारित्तविणओ य ॥१८६॥"

"खंती य मद्दवऽज्जव, विमुत्तयाऽदीणया तितिक्खा य ।
आवस्सगपरिसुद्धी य भिक्खुलिंगाइ एयाइं" ॥१८७॥

—संवेग (मोक्षकी अभिलाषा), निर्वेद (ससारसे विरक्ति), विषय विवेक (हेय व उपादेयका विवेक), सुशील साधुकी संगति, ज्ञानादि गुणकी आराधना, बाह्य-अभ्यंतर तप करना, ज्ञान-दर्शन और चारित्रका विनय करना; क्षमा, मृदुता, मान, माया व लोभका त्याग, दीनता छोडना तथा परीषह-उपसर्ग आदि सहना और आवश्यक कर्मोंकी शुद्धि (पडिलेहण आदि) या धर्मानुष्ठान—ये सब साधुके लक्षण हैं या साधुके चिह्न हैं।

तथा–यथाशक्ति तपःसेवनमिति ॥६२॥(३३०)॥

मूलार्थ–और शक्तिके अनुसार तप करे ॥६२॥

विवेचन–अपनी शक्तिके अनुसार न अधिक कृश करके, न शरीरको बचाकर, तपका आचरण करना चाहिये। कहा है कि—

"कायो न केवलमयं परितापनीयो,
मिष्टै रसैर्बहुविधैर्न च लालनीयः।
चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति यतोत्पथेन,
वश्यानि येन च तदाचरितं जिनानाम् ॥१८८॥"

—शरीरको केवल कष्ट हो ऐसा तप न करे, नहीं बहुत मधुर तथा रसप्रद पदार्थों द्वारा उसका लालन पालन करे जिससे चित्त व इन्द्रियां गलत राह पर न चलें और वशमें हो ऐसा जिन परमात्माका कहा हुआ तप है।

तथा–परानुग्रहक्रियेति ॥६३॥ (३३१)

मूलार्थ—और दूसरों पर अनुग्रह हो ऐसी क्रिया न करे।६३।

विवेचन—अपने व पराये सब पर करुणा करके ज्ञान दान आदि उपकार करना। लोगोंको उपदेश देना। इससे श्रोताको लाभ होता है तथा वक्ताको भी करुणा व अनुग्रह द्वारा उपदेश देनेके कारण लाभ होता है।

तथा—गुणदोषनिरूपणमिति ॥६४॥ (३३२)

मूलार्थ—और सब क्रियाओंमें गुणदोषका ध्यान रखना।६४।

विवेचन—जो जो भी कार्य करे उस सबमें गुण तथा दोषका विवेचन करके उस कार्यको करे, इससे दोष टालकर केवल गुण करनेवाली क्रिया ही की जायगी, जिससे बहुत लाभ होगा। विहार आदि सब कामोंमे, ऐसा करे।

तथा—बहुगुणे प्रवृत्तिरिति ॥६५॥ (३३३)

मूलार्थ—और अधिक गुणवाली क्रियामें प्रवृत्ति करें॥६५॥

विवेचन—जो कार्य बहुत गुणोंवाला अथवा केवल गुणोंवाला हो उस कार्यमें प्रवृत्ति करें। अन्य कार्य जिसमे दोष अधिक हो व गुण कम हो वह कदापि न करे।

तथा—क्षान्तिमार्दवमार्जवमलोभतेति ॥६६॥ (३३४)

मूलार्थ—क्षमा, मृदुता, सरलता और संतोष रखना ॥६६॥

विवेचन—चारो कषाय—क्रोध, माया व लोभका त्याग करके उनके शत्रुरूप क्षमा, मृदुता, सरलता व सतोषको अपनाना चाहिये। ये चारों गुण साधुधर्मके मूल भूमिका रूप है, अतः इन्हें निरंतर हृदयमें रखना।

क्रोधाद्यनुदय इति ॥६७॥ (३३५)

मूलार्थ–क्रोध आदिका उदय न होने दे ॥६७॥

विवेचन–क्रोध आदि चारों कषायोंका उदय न हो, मूलसे ही उत्पन्न न हों ऐसा यत्न करना चाहिये। जिन कारणोंसे इन कषायोंका उदय हो उनका ही त्याग अधिक अच्छा है।

तथा–वैफल्यकरणमिति ॥६८॥ (३३६)

मूलार्थ–और उदय हुए क्रोध आदिको निष्फल करे ॥६८॥

विवेचन–पूर्व जन्म उपार्जित कर्मसे, उसके कारण मिल जाने पर, क्रोध आदि कषायकी उत्पत्ति कदाचित् हो जाय तो उसे निष्फल करना चाहिये। क्रोध आदिके आवेश जो काम करनेकी इच्छा हो उसको नहीं करना या न होने देना। ऐसा होने पर ही पूर्वोक्त क्षमा, मृदुता, सरलता व संतोष आदि गुणोका सेवन कहा जायगा।

क्रोध आदिका उदय न होने देनेके लिये जो करना चाहिये वह कहते हैं–

विपाकचिन्तेति ॥६९॥ (३३७)

मूलार्थ–कषायोंके फलका विचार करना ॥६९॥

विवेचन–क्रोध आदि कषायोंके जो बुरे परिणाम होते हैं, इस भवमें तथा परभवमें, उन परिणामों व फलोंको सोचे जिससे वे कम हों। जैसे—

"क्रोधात् प्रीतिविनाशं, मानाद् विनयोपघातमाप्नोति।
शाठ्यात् प्रत्ययहानिं, सर्वगुणविनाशनं लोभात् ॥१८९॥"

—क्रोधसे प्रीतिनाश, मानसे विनयकी हानि, शठता या मायासे (कपटसे) विश्वासकी समाप्ति तथा लोभसे सर्व गुणोंका नाश होता है।

तथा-धर्मोत्तरो योग इति ॥७७॥ (३३८)

मूलार्थ-मन, वचन व कायासे ऐसा काम करे जिसका फल धर्म हो ॥७७॥

विवेचन-मन, वचन व कायासे सब ऐसे ही काम करने चाहिये जिनसे धर्मकी प्राप्ति हो। अत: मनसे शुभ विचार, शांति व ज्ञानको देनेवाले शब्दोंका उच्चार और दुःख दूर करने या किसीको हानि न पहुंचानेका कायिक व्यापार या कार्य करे। ऐसे विचार, वचन या कार्य न करे जिनका फल पाप हो, जैसे-जोरसे हंसना, कुवचन बोलना, खराब विचार करना आदि कर्म न करे।

तथा-आत्मानुप्रेक्षेति ॥७१॥ (३३९)

मूलार्थ-और आत्माका विचार करे ॥७१॥

विवेचन-साधु प्रतिक्षण आत्मनिरीक्षण करें। अपने आपकी, अपने मनके ऊठते हुए भावोकी तथा कार्योंकी आलोचना स्वयं करे। जैसे—

'किं कयं किं वा सेसं, किं करणिज्ज तवं न करेमि।
पुव्वावरत्तकाले, जागरओ भावपडिलेह त्ति ॥१९०॥

—मैंने क्या किया, क्या करना बाकी है, और करने योग्य कौनसा तप मैं नहीं करता हूं—इस प्रकार प्रात:कालमें ऊठ कर भाव पडिलेहण करे। अर्थात् सवेरे जब रात्रिके अंतिम भागमें जागे तब इस प्रकार अपने भावोंका विश्लेषण करे। इस प्रकार प्रति समय आत्मनिरीक्षण करनेसे या मैं कौन हूं, कहांसे आया, क्या धर्म है,

क्या कर्त्तव्य है, अन्य प्राणियोंसे क्या संबंध आदि प्रश्नों पर विचार करते रहनेसे मनुष्य अपने दोषोंको हठाता तथा शुभ कर्मोंको करता है व करनेको प्रेरित होता है। इस प्रकार साधु व श्रावक सोचें।

उचितप्रतिपत्तिरिति ॥७२॥ (३४०)

मूलार्थ-योग्य अनुष्ठान अंगीकार करे ॥७२॥

विवेचन-इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करके जो अनुष्ठान योग्य लगे ऐसे शुभ अनुष्ठान करे। गुणकी वृद्धि करनेवाला, प्रमादको हठानेवाला-ऐसा उचित कार्य करे।

तथा-प्रतिपक्षासेवनमिति ॥७३॥ (३४१)

मूलार्थ-और दोषोंके शत्रुरूप गुणोंका सेवन करे ॥७३॥

विवेचन-जैसे हिमपातसे तकलीफ पाया हुआ प्राणी अग्निका उपयोग करे वैसे ही जब भी किसी पुरुषमें कोई भी दोष उत्पन्न हो तब वह उस दोषके शत्रुरूप गुणका सेवन करे। जैसे क्रोधके लिये क्षमा, द्वेषके लिये प्रेम-इसी प्रकार सब दोषोंका समझना। अतः दुर्गुण त्यागके लिये उसका विरोधी गुण ग्रहण करना चाहिये।

तथा-आज्ञाऽनुस्मृतिरिति ॥७४॥ (३४२)

मूलार्थ-और भगवानकी आज्ञाका स्मरण रखे ॥७४॥

विवेचन-भगवानके वचनोंको हर समय अपने हृदयमें स्मरण रखे। भगवानके वचनका स्मरण भगवानके स्मरणके समान है अतः भगवानके स्मरणका महान् लाभ होता है। कहा है कि—

"अस्मिन् हृदयस्थे सति, हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति।
हृदयस्थिते च तस्मिन्, नियमात् सर्वार्थसंसिद्धिः"॥१९१॥

—जब प्रभुका वचन हृदयमें है तो वास्तवमें प्रभु ही हृदयमें हैं। जब प्रभु ही हृदयमें हैं तो निश्चय ही सर्व अर्थकी सिद्धि हुई ऐसा समझे।

तथा-समशत्रुमित्रतेति ॥७५॥ (३४३)

मूलार्थ-शत्रु व मित्रमें समान भाव रखना ॥७५॥

विवेचन-साधुको शत्रु तथा मित्रके प्रति समान परिणाम रखना चाहिये। शत्रु तिरस्कार करे तथा मित्र स्तुति तथा वंदन करे तब भी साधु एकभावसे देखे। वह सोचे कि दोनोंको इससे संतोष मिलता है। मै तो दोनोके कार्यके लिये निमित्तमात्र हूं। मुझे किसीसे भी काम नहीं। मेरे कोई भी न ज्यादा है न कम है अर्थात् मेरे लिये बराबर है—ऐसा सोचे। एक पर राग व एक पर द्वेष न रखे। दोनोका कल्याण हो ऐसी प्रवृत्ति करे।

तथा-परीषहजय इति ॥७६॥ (३४४)

मूलार्थ-और परीषहको जीते ॥७६॥

विवेचन-क्षुधा, पिपासा आदि बाईस परीषह हैं। इन सबको जीतना चाहिये। या हराना चाहिये पर स्वयं इनसे न हारे। इन सबको समभावसे सहन करके कर्म निर्जरा करे। दर्शन परीषहको सहना या जीतना सम्यग् मार्ग या मोक्षमार्गसे पतित होनेसे बचानेका है और बाकी परीषह कर्मकी निर्जराके लिये हैं। कहा है कि—

"मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।"

—मोक्ष मार्गसे भ्रष्ट न हों तथा कर्मकी निर्जरा हो इसके लिये परीषह सहन करे।

तथा-उपसर्गातिसहनमिति ॥७७॥ (३४५)

मूलार्थ-और उपसर्गोको अति सहन करना ॥७७॥

विवेचन-धर्ममार्गमें प्रयाण करते हुए जो संकट आते हैं वे उपसर्ग कहलाते हैं या पीडासहित जो पुरुष वेदना या कष्ट दे वह उपसर्ग है। वह चार प्रकारके हैं-दिव्य (देव) संबधी, मनुष्यसंबंधी, तिर्यंचसंबंधी और आत्मासंबंधी। जब पुरुष सब कर्मोंसे छूटनेकी कोशिश करता है तो सब कर्म एकदम आकर कष्ट देते हैं इस प्रकार तथा उसके सद्गुणोंकी कसौटीके लिये भी उपसर्ग होते हैं। जब ये चार प्रकारके या इनमेंसे एक उपसर्ग हो तो मनका समभाव नहीं खोना चाहिये। सहनशीलतासे पूर्वोपार्जित कर्मका फल समझ कर उसे जीते तथा सन्मार्गसे डीगना नहीं। संसार कष्टमय है और कष्टको सहन न करनेसे मूढता मालूम होती है। कहा है कि-

"संसारवर्त्यपि समुद्विजते विपद्भ्यो,
यो नाम मूढमनसां प्रथमः स नूनम्।
अम्भोनिधौ निपतितेन शरीरभाजां,
संसृज्यतां किमपरं सलिलं विहाय ? ॥१९२॥

—जो संसारमें रह कर दुःखसे डरता है वह प्रथम मूर्ख है या महामूर्ख है। जो समुद्रमें गिर गया है उसे पानी छोडकर अन्य किसका संसर्ग होगा ? अतः कष्ट होगा ही॥

तथा-सर्वथा भयत्याग इति ॥७८॥ (३४६)

मूलार्थ-और सब प्रकारसे भयका त्याग करे ॥७८॥

विवेचन-सब प्रकारसे इस लोक तथा परलोकमें होनेवाले सब भयोसे डरना छोड दे। कर्मको माननेवाला कभी भय न रखे। सब भोग्य कर्म अवश्य भोगना है और नहीं किया हुआ भोगना ही नहीं है। और जो निरतिचार यतिधर्मका पालन करता है और जिसने ऐसा कर्म उपार्जन किया है जिससे अनन्त सुख मिले, मोक्षको प्राप्त करनेवाला है अतः उसे मृत्युका भी भय नहीं है तो और सामान्य भय तो हो ही कैसे ? कहा है कि—

"प्रायेणाकृतकृत्यत्वान्मृत्योरुद्वेजते जनः।
कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते, मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ॥१९३॥"

—जो मनुष्य प्रायः करनेयोग्य कार्यको नही करते हैं वे हीं मृत्युसे उद्वेग पाते है पर जिन्होने योग्य कर्म किया है वे तो अपने प्रिय अतिथिकी तरह मृत्युकी राह देखते हैं। मृत्यु उनका प्रिय अतिथि है। मृत्यु ही उच्च जीवन देनेवाली है।

तथा-तुल्याश्मकाञ्चनतेति ॥७९॥ (३४७)

मूलार्थ-और पत्थर व स्वर्णको बराबर माने ॥७९॥

विवेचन-साधु आसक्ति रहित होकर स्वर्ण व पत्थर को बराबर समझे। 'सम गणे सुवर्ण पाषाण रे' यह साधुका चिह्न है। अतः धन पर ममत्वभाव न रखे।

तथा-अभिग्रहग्रहणमिति ॥८०॥ (३४८)

मूलार्थ-और अभिग्रह धारण करे ॥८०॥

विवेचन–द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावसे विभिन्न अवग्रहको साधु धारण करे। अनेक प्रकारके अभिग्रह लेनेका शास्त्रमें कहा हुआ है। कोई खास द्रव्य लेना या विगईका त्याग करना या कुछ काल तक मौनव्रत रखना आदि विभिन्न अभिग्रह हैं। जैसे—

"लेवडमलेवडं वा, अमुग दव्वं च अज्ज घेच्छामि।
अमुगेण व दव्वेण व, अह दव्वाभिगहो एस ॥१९४॥"

—"लेपवाला या बिना लेपवाला अमुक द्रव्य ग्रहण करूंगा या अमुक द्रव्य सहित आहारादि वस्तु अमुक वस्तु द्वारा दे तो लेना यह द्रव्य अभिग्रह है" ऐसा शास्त्रोक्त अभिग्रह ले।

तथाविधत्वपालनमिति ॥८१॥ (३४९)

मूलार्थ–और विधिवत् उनका पालन करना ॥८१॥

विवेचन–जिस प्रकार विधिसमित अभिग्रहोंका पालन हो उस प्रकार करना। यथार्थरीतिसे पालन करना तथा उनको संभालना, लगे हुए अतिचारकी आलोयणा लेवे व फिरसे अतिचार न लगे ऐसा निश्चय करे।

तथा–यथार्हध्यानयोग इति ॥८२॥ (३५१)

मूलार्थ–और योग्य ध्यानको धारण करे ॥८२॥

विवेचन–जैसा उचित हो वैसा धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान ध्यावे। जो योग्य हो उसका उल्लंघन किये बिना दोनों शुभ ध्यानोंको धारण करे। अथवा ध्यानके योग्य देश व कालका जो उचित हो उनका उल्लंघन न करे।

तथा-अन्ते संलेखनेति ॥८३॥ (३५१)

मूलार्थ-और अंतकालमें संलेखना करे ॥८३॥

विवेचन-अन्ते-मृत्युके समीप आने पर, संलेखना-शरीर व कषायोंको तपद्वारा कृश करना।

आयुष्यका अंत जानकर या शरीरके वेकार हो जाने पर साधु सलेखना करे। तपसे शरीर व भावसे कषायोंको कम करे। शरीर व कषाय दुर्बल करे। उसमें--

संहननाद्यपेक्षणमिति ॥८४॥ (३५२)

मूलार्थ-अपने सामर्थ्यकी अपेक्षा रखे ॥८४॥

विवेचन-शरीरसामर्थ्य, अपनी चित्तवृत्ति तथा आसपासके अन्य साधुओंकी सहायताका विचार करके संलेखना करना। शरीर शक्तिके अनुसार तप करे।

इन द्रव्य व भाव दो संलेखनामेंसे कौनसी ज्यादा करने लायक है-

भावसंलेखनायां यत्न इति ॥८५॥ (३५३)

मूलार्थ-भाव संलेखनाका प्रयत्न करना ॥८५॥

विवेचन-कषाय और इंद्रियके विकारोंको कम करनेके हेतुसे भावसंलेखना करे। द्रव्य संलेखना करनेका हेतु भी भावसंलेखना ही है। तात्पर्य यह कि मोक्षकी इच्छावाला भिक्षु-साधु प्रतिदिन मृत्युके समयको जाननेका प्रयत्न करे। मृत्युका समय जाननेके लिये शास्त्र, देवताके वचन, खुदकी सुबुद्धि और उस प्रकारके अनिष्ट स्वप्न आदि अनेक उपाय हैं जो शास्त्रमें व लोकमें प्रसिद्ध हैं उस प्रकार समय जान लेने पर बारह वर्ष पहलेसे ही

उत्सर्गमार्गमे संलेखना करना प्रारंभ करे। बारह वर्ष संलेखना करना चाहिये, उसमें—

"चत्तारि विचित्ताई, विगईनिज्जूहियाइ चत्तारि।
संवच्छरे य दोण्णि उ, एगंतरियं च आयामं ॥१९५॥
"नाइविगिट्ठो य तवो, छम्मासे परिमियं च आयामं।
अन्नेवि य छम्मासे, होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥१९६॥
"वासं कोडिसहियं, आयामं काउमाणुपुव्वीए।
गिरिकंदरं तु गंतुं, पायवगमणं अह करेइ ॥१९७॥"

[पञ्च० १५७४, ७५, ७६]

—पहले चार वर्ष तक विचित्र तप, चतुर्थ, अष्टम, द्वादश आदि (एक, दो, तीन, चार, पाच उपवास) आदि करे। फिर चार वर्ष तक विचित्र तप करे पर पारणेमे नीवी तप करे अर्थात् उत्कृष्ट रसका त्याग करे। फिर दो वर्ष तक उपवास आदि करे और पारणेमें आयंबिल करे। इस प्रकार दस वर्ष व्यतीत होने पर ग्यारहवें वर्षमें प्रथम छ मासमें चतुर्थ, षष्ठ (एक या दो उपवास) तप करे और पारणेमे आयंबिल करे पर कुछ कम आहार ग्रहण करे और पारणेमें आयंबिल करके ग्यारहवां वर्ष पूरा करे। बारहवें वर्षमें अत तक कोटिसहित (उणोदरीव्रतसहित) आयंबिल निरंतर करे। कोई कहते हैं कि बारहवें वर्षमें चतुर्थ करके पारणेमें आयंबिल करे। तपमें भेद होनेसे परंपरानुसार तप करे। इस प्रकार बारह वर्ष संलेखना करके पर्वतकी गुफामें या जहां षट्जीवनिकायकी रक्षा हो वहां जाकर पादोपगमन नामक अनशन व्रत करे।

बारहवें वर्षमें आयंबिल करते करते एक एक कंवल कम करे और अंतमें सिर्फ एक कंवल बाकी रखे उसमें भी धीरे धीरे कम करके एक अंश ही रखे–जैसे दीपकमें तेल व स्नेह एक साथ खतम होता है वैसे ही शरीर व आयुष्यका एक साथ अंत आवे वह सुदर है। अंतिम चार मासमें हर तीसरे दिन तेलका कुल्ला भर कर मुहमें रखे और राखमें डाल दे फिर गरम पानीसे कुल्ले करे। ऐसा न करनेसे मुह बहुत लूखा (स्निग्धता रहित) हो जाता है और नवकार मंत्रका भी उच्चार नहीं हो सकता।

जब किसी प्रकार शरीरके सामर्थ्य (संहनन)के कम होनेसे इतने समय संलेखना न हो सके तब कुछ वर्ष और मास कम करते अंततः छ मासकी संलेखना करे। बारह वर्षके बजाय ११,१०,८, ६,५,४,३,२,१ वर्ष अथवा ११,१०,९,८,७ या ६ मासका कमसे कम व्रत करे। क्योंकि जो साधु शरीर व कषायोंको क्षीण न करे उसके अनशन लेनेसे शीघ्र धातुक्षय होनेसे समाधि मरण व सुगति नहीं हो सकती अत निकृष्टतम (कमसे कम) छ मास तो संलेखना करना ही चाहिये।

ततो विशुद्धं ब्रह्मचर्यमिति ॥८६॥ (३५४)

मूलार्थ–फिर विशुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन करे ॥८६॥

विवेचन–विशुद्धं–विशेषत. शुद्ध–अतिगहन रूपसे गुप्तिसहित ब्रह्मचर्यका शुद्धरूपसे पालन।

साधु ब्रह्मचर्यका पालन तो करता ही है पर संलेखना व्रतमें ब्रह्मचर्य पालन करनेका कहनेका तात्पर्य यह है कि शरीर शुष्क

हो जाने पर भी मैथुनकी अभिलाषा उत्पन्न हो सकती है। उस वेदनाके उदयको रोकना है जो बहुत कठिन है। संलेखना करते हुए शीघ्र मृत्यु उपजानेवाले विषविशूचिका आदि रोग हो जाने पर क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

विधिना देहत्याग इतीति ॥८७॥ (३५५)

मूलार्थ-विधिवत् देहका त्याग करे ॥८७॥

विवेचन-देहत्याग करते समय, मृत्युके उपस्थित होने पर आलोयणा करना, व्रतका उच्चार करना, अनशन करना, सर्व जीवको खमाना, प्रायश्चित्त करना, शुभ भावना रखना, पंच परमेष्ठिस्मरण आदि विधिसे देहत्याग करे। पंडित मरणकी आराधना करे। इस प्रकार सापेक्ष यतिधर्म कहा। अब दूसरा निरपेक्ष यतिधर्मका वर्णन करते हैं—

निरपेक्षयतिधर्मस्त्विति ॥८८॥ (३५६)

मूलार्थ-निरपेक्ष यतिधर्म इस प्रकार है ॥८८॥

विवेचन-जो गुरुके कुलके साथ नहीं रहते ऐसे जिनकल्पी साधुका निरपेक्ष यतिधर्म कहते हैं।

वचनगुरुतेति ॥८९॥ (३५७)

मूलार्थ-आगमको गुरु माने ॥८९॥

विवेचन-जैसे सापेक्ष यतिधर्म पालन करनेवाला सब बातोंमें गुरुसे पूछ कर उसकी आज्ञाके अनुसार प्रवृत्ति व निवृत्ति करता है उसी प्रकार निरपेक्ष यतिधर्म पालन करनेवाला शास्त्रोक्त विधि

-अनुसार या शास्त्रका अनुसरण करके प्रवृत्ति व निवृत्ति करे। शास्त्र ही उनका गुरु है।

तथा-अल्पोपधित्वमिति ॥९०॥ (३५८)

मूलार्थ-उपकरण (सामग्री) कम रखे ॥९०॥

विवेचन-सापेक्ष यतिधर्मको पालन करनेवालेकी अपेक्षा उसके उपकरण व साधनसामग्री, जैसे- वस्त्र-पात्र आदि बहुत कम होने चाहिये। सामानका प्रकार अन्य विशेष शास्त्रसे जानना चाहिये।

तथा-निष्प्रतिकर्मशरीरतेति ॥९१॥ (३५९)

मूलार्थ-और प्रतीकार रहिततासे शरीर धारण करे ॥९१॥

विवेचन-बिना किसी प्रतीकारके रोग मिटाने आदिके साधन किये विना, शरीरको उनकी सामान्य प्रकृतिस्थ अवस्थामें रहने देवे। जैसी स्थिति हो वैसी ही रहे।

अपवादत्याग इति ॥९२॥ (३६०)

मूलार्थ-अपवाद मार्गका त्याग करे ॥९२॥

विवेचन-इस कारणसे अपवाद मार्गका त्याग करना चाहिये। सापेक्ष यतिधर्मवाला उत्सर्ग मार्ग पर चले और न चल सके तो ज्यादा गुण व कम दोषवाला अपवाद मार्ग ग्रहण करे पर निरपेक्ष यतिधर्ममें जीव जाय तो भी अपवाद मार्ग ग्रहण नहीं करे। केवल गुणवाला उत्सर्ग पथका ही आचरण करे। वह केवल उत्कृष्ट रास्ते पर चले। न्यून व अपवाद मार्ग पर सापेक्षवानकी तरह नहीं।

तथा-ग्रामैकरात्रादिविहरणमिति ॥९३॥ (३६१)

मूलार्थ-और गाममें एक रात्रि आदि प्रकारसे विहार करे।

विवेचन-एक गांव या नगरमें केवल एक रात्रि अथवा तो दो रात्रि या मास तक रहे पर ज्ञातरूपसे कि पडिमाकल्पी साधु आये हैं वहां एक रात्रि ही रहे। अज्ञात अवस्थामें अधिक रहे। कहा है कि—

"नाएगरायवासी, एग च दुग च अन्नाए ॥१९७॥"

—ज्ञात अवस्थामें एक रात्रि रहे, अज्ञातमें एक या दो रात्रि रहे।

जिनकल्पी या उसके जैसे यथालन्दकल्पिक और शुद्ध परिहारिक ऐसे निरपेक्ष साधु ज्ञातरूपसे या अज्ञातरूपसे एक मास तक रहे।

तथा-नियतकालचारितेति ॥९४॥ (३६२)

मूलार्थ-और नियतकालमें भिक्षाटन करे ॥९४॥

विवेचन-नियत समयमें अर्थात् तीसरे प्रहरमें भिक्षाके लिये जावे। कहा है कि—

"भिक्खापंथो य तइयाए त्ति" ॥

—भिक्षाके लिये तीसरी पोरसी (प्रहर)में जावे।

तथा-प्राय ऊर्ध्वस्थानमिति ॥९५॥ (३६३)

मूलार्थ-और प्रायः कायोत्सर्ग मुद्रामे रहे ॥९५॥

विवेचन-निरपेक्ष यतिधर्म पालन करते बहुधा कायोत्सर्ग मुद्रामें ही रहे।

तथा-देशनायामप्रबन्ध इति ॥९६॥ (३६४)

मूलार्थ-और देशना देनेमें बहुत भाव न रखे ॥९६॥

विवेचन—धर्मकथारूप देशना या व्याख्यान देनेमें धर्मको सुननेवाले उस प्रकारके लोगोंके उपस्थित होने पर भी बहुत भाव न रखे। बहुत आग्रह करे तो 'एगवयणं दुवयणं'—एक या दो वचन कहे—ऐसा शास्त्रका प्रमाण है। निरपेक्ष मुनि अधिकांश कायोत्सर्गमें रहता है। कभी कोई धर्म सुनने आवे तो उसे सारभूत शास्त्रके एक दो वचन कहे—यही भाव है।

तथा—सदाऽप्रमत्ततेति ॥९७॥ (३६५)

मूलार्थ—और निरंतर प्रमाद रहित रहे ॥९७॥

विवेचन—निरंतर मन तथा इन्द्रियोंको स्वाधीन रखे। पांचों प्रकारके प्रमादका त्याग करे। दिवस या रात्रिमें जरा भी प्रमाद न करे। निद्रा आदिका त्याग करे। प्रतिक्षण सावधान रहे।

तथा—ध्यानैकतानत्वमिति ॥९८॥ (३६६)

मूलार्थ—और ध्यानमें एकाग्रता रखे ॥९८॥

विवेचन—धर्मध्यानमें मनको तल्लीन रखे। मनको भटकने न दे, पर धर्मध्यान व स्वाध्यायमें तल्लीन रहे और चित्त एकाग्र रखे। इति शब्द समाप्त्यर्थक है।

अब उपसंहार करते हुए कहते हैं—

सम्यग्यतित्वमाराध्य, महात्मानो यथोदितम्।
संप्राप्नुवन्ति कल्याणमिहलोके परत्र च ॥३८॥

अर्थ—महात्मा लोग उपरोक्त यतिधर्मको द्रव्य व भावसे सम्यक् प्रकारसे आराधन करके इस लोक तथा परलोकमें कल्याणको प्राप्त होते हैं।

ऊपर जो यतिधर्म कहा है उसे भली प्रकारसे जो महात्मा आराधता है उसे इस लोकमें कल्याणकी प्राप्ति होती है तथा परंपरासे मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसका विवरण आगे करते हैं—

क्षीराश्रवादिलब्ध्योघमासाद्य परमाक्षयम्।
कुर्वन्ति भव्यसत्त्वानामुपकारमनुत्तमम् ॥२९॥

मूलार्थ—वे महात्मा क्षीराश्रव आदि उत्तम तथा अक्षय लब्धि पाकर भव्य प्राणियों पर अति उत्तम उपकार करते हैं।

विवेचन—**क्षीराश्रवादि**— श्रोताजनोके कानोमें दूध, दहीं या अमृतके समान मधुर लगनेवाले वचन बोलनेरूप लब्धि, **लब्ध्योघः**— लब्धिसमूह, **आसाद्य**— प्राप्त करके, **परम**— सुन्दर, **अक्षयम्**— अनेक रीतिसे सहायता करने पर भी क्षय न होनेवाली, **उपकारम्**— सम्यक् ज्ञान, चारित्र आदि देनेका, **भव्यसत्त्वानां**— भव्य प्राणियोंका, **अनुत्तमम्**—निर्वाण।

वे महात्मा क्षीराश्रव आदि महान् लब्धियोको प्राप्त करके भव्य प्राणियोंको सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिकी प्राप्ति करानेका उपकार करते हैं तथा उनको निर्वाणरूपी उत्तम फल प्रदान करानेमें सहायक होते हैं। उन लब्धियोका उपयोग अपनी महत्ताके लिये नहीं पर अन्य जीवोंका उपकार करनेमें करते हैं।

मुच्यन्ते चाशु संसारादत्यन्तमसमञ्जसात्।
जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-रोग-शोकाद्युपद्रुतात् ॥३०॥

मूलार्थ—वे महापुरुष जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, रोग,

शोक आदि उपद्रवयुक्त तथा अत्यंत अयोग्य ऐसे इस संसारसे तुरत मुक्त करते हैं ॥३०॥

विवेचन-मुच्यन्ते- मुक्त करते हैं, आशु- शीघ्र, संसारात्- भवसे, संसार भ्रमणसे, अत्यन्तमसमञ्जसात्- अत्यन्त अयोग्य इस संसारके स्वरूपसे।

इस महान अयुक्त संसारसे तथा इसके अंदर रहे हुए कई उपद्रवोंसे वे महात्मा शीघ्र ही मुक्त करते हैं-स्वयंको तथा अन्योंको-अर्थात् वे स्वयं शीघ्र मुक्तिलाभ करते हैं तथा अन्योंको भी निर्वाण दिलानेमें सहायक होते हैं। इस संसारके जो कई उपद्रव हैं उन सबसे मुक्त होना ही मोक्ष है ॥

श्रीमुनिचन्द्रसूरि विरचित धर्मबिन्दुकी टीकामें
यतिविधि नामक पांचवा अध्याय
समाप्त हुआ॥

छट्ठा अध्याय।

निरपेक्ष तथा सापेक्ष यतिधर्मकी व्याख्या नामक पाचवें प्रकरणकी व्याख्या करके अब छट्ठे अध्यायकी व्याख्या करते हैं। यह प्रथमसूत्र है—

आशयाद्युचितं ज्यायोऽनुष्ठानं सूरयो विदुः।
साध्यसिद्ध्यङ्गमित्यस्माद् यतिधर्मो द्विधा मतः।२१।

मूलार्थ-आशयसे उचित अनुष्ठानको आचार्य श्रेष्ठ कहते हैं। वह साध्य (मोक्ष) की सिद्धिका अंग है अतः यतिधर्म (सापेक्ष और निरपेक्ष) दो प्रकारका है।

विवेचन-आशयस्य-चित्तकी वृत्ति आदि, ज्ञान, शरीरबल, परोपकार करनेकी शक्ति व अशक्ति, **उचितं**-उसके योग्य, **ज्यायः अनुष्ठानं**-बहुत प्रशस्त, जैनधर्मकी सेवारूप आचरण, **साध्यसिद्ध्यंङ्ग**-साध्य जो सब क्लेशको हरनेवाला-मोक्ष, उसकी प्राप्तिका कारण, **तस्मात्**-इस कारण, **द्विधा**-दो प्रकारका।

हृदयके आशय, ज्ञान, शरीरके संहनन, सामर्थ्य तथा परोपकार करनेकी अशक्ति अथवा न कर सकनेके सामर्थ्यसे जो जैनधर्मकी सेवारूप आचरण किया जाता है उसे सूरिगण-आचार्य बहुत प्रशस्त

प्रशंसनीय कहते हैं। वह सब क्लेशको नाश करनेवाले मोक्षकी प्राप्तिका कारण है। अतः इस साध्य वस्तुके साधनरूप आचरण निरपेक्ष व सापेक्ष यतिधर्म कहे हैं।

समग्रा यत्र सामग्री, तदपेक्षेण सिद्ध्यति।
दवीयसाऽपि कालेन, वैकल्ये तु न जातुचित् ।३२।

मूलार्थ–जहां सब सामग्री होती है तो कार्य तत्काल सिद्ध होता है पर सामग्रीके अभावमें तो काफी समय जाने पर भी सिद्धि हो या न भी हो ॥३२॥

विवेचन–समग्रा–पूर्ण, सामग्री–सब संयोग पूरे हों, अपेक्षेण–तुरंत, दवीयसाऽपि–बहुत समय बाद तथा दूर रहे हुए समयमें भी, वैकल्ये–सामग्रीकी कमीसे।

जिस कार्यमे सारी परिपूर्ण सामग्री हो, सब संयोग पूरे हो तो वह कार्य शीघ्र ही पूरा हो जाता है। अन्यथा सब सामग्रीके न होनेसे बहुत समय व्यतीत होने पर भी कुछ सामग्रीकी कमीसे वह काम कदाचित् हो या न हो। वह सामग्री क्या है ? व क्या कर्त्तव्य है सो कहते हैं—

तस्माद् यो यस्य योग्यः स्यात्, तत् तेनालोच्य सर्वथा।
आरब्धव्यमुपायेन, सम्यगेष सतां नयः ॥३३॥

मूलार्थ–अतः जो जिसके योग्य हो, उसका, सापेक्ष या निरपेक्ष यतिधर्मका) पूर्णतया विचार करके उपाय सहित आरंभ करे। यही सत्पुरुषोंका न्याय्य मार्ग है।

विवेचन–यस्य– सापेक्ष व निरपेक्षमेंसे जिसका आचरण कर सके, योग्य– समुचित, आलोच्य– पूर्ण निपुणतासे ऊहापोहसे विचार करके (तर्क वितर्क सहित)।

ऊपर दोनों यतिधर्मोंका वर्णन किया है अतः उनमेंसे जिस मार्गका पालन साधु कर सके उसे तर्क वितर्क सहित पूर्णतया सोच-कर जो उचित लगे उसे योग्य साधनों सहित प्रारंभ करे। जो योग्य हो वही आचरणीय है यही सत्पुरुषोंका नीतिमार्ग है।

इत्युक्तो यतिधर्मः, इदानीमस्य विषयविभाग-मनुवर्णयिष्याम इति ॥१॥ (३६८)

मूलार्थ–इस प्रकार यतिधर्म कहा है। अब इसके विषय विभागोंका वर्णन करते हैं—

तत्र कल्याणाशयस्य श्रुतरत्नमहोदधेः उपशमादि-लब्धिमतः परहितोद्यतस्य अत्यन्तगम्भीरचेतसः प्रधानपरिणतेर्विधूतमोहस्य परमसत्त्वार्थकर्त्तुः सामायिकवतः विशुद्ध्यमानाशयस्य यथोचितप्रवृत्तेः सात्मीभूतशुभ-योगस्य श्रेयान् सापेक्षयतिधर्म एवेति ॥२॥ (३६९)

मूलार्थ–यतिधर्ममें शुभ आशयवाला, शास्त्ररत्नोंका समुद्र, उपशम आदि लब्धिप्राप्त, परहितमें तत्पर, अत्यंत गंभीर चित्तवाला, उत्तम परिणतिवाला, मोह (मूर्खता)को नाश

करनेवाला, जीवोंके लिये उत्तम मोक्षरूप प्रयोजनको साध-नेवाला, सामायिकवाला, जिसका आशय शुद्ध (पवित्र) है, उचित प्रवृत्ति करनेवाला, और शुभ योगको आत्माके साथ जोडनेवाला जो पुरुष (या साधु) हो उसके लिये सापेक्ष यतिधर्म ही श्रेयस्कर है।

विवेचन-तत्र- विषय विभागके वर्णनमें, **कल्याणाशयस्य**-जिसके परिणाम-भाव अरोग्यरूपी मुक्तिनगरको ले जानेवाले हैं या जो सर्व जीवोंका कल्याण करनेका आशय रखता है, **श्रूतरत्न-महोदधेः**-जैसे समुद्रमें रत्न रहते हैं वैसे ही उसके हृदयमें सिद्धांत या शास्त्रके रत्न हों, अर्थात् ज्ञानी हो, **उपशमादिलब्धिमतः**-उपशम आदि हित करनेमे तत्पर या उनके हितको ही धन समझने-वाला, **अत्यन्तगम्भीरचेतसः**-उसके मनमें हर्ष या विषाद क्या है उसको बहुत निपुण मनुष्य भी न समझ सके या वह ये चित्त-विकार उसमें न पा सकें ऐसा गंभीर हृदयवाला, तथा दूसरेकी गुप्त बात प्रगट न करे ऐसा बडे मनवाला, इससे ही **प्रधानपरिणतेः**-सर्वोत्तम आत्मपरिणतिवाला, **विधूतमोहस्य**-मोह अर्थात् मूढता तथा आलसकी मुद्रासे रहित, **परमसत्त्वार्थकर्तुः**-उच्च वस्तु मोक्षके बीजरूप सम्यक्त्व आदिका अन्योंमें प्रयोजन करनेवाला, या लोगोंमें सम्यक्त्व उपजानेवाला, **सामायिकवतः**-सबके प्रति समभाव तथा माध्यस्थ्यदृष्टि रखनेवाला, **विशुद्ध्यमानाशयस्य**-शुद्ध आशय अर्थात् शुक्ल पक्षके चंद्रमाकी तरह प्रतिक्षण उज्ज्वल हृदयवाला, **यथो-चितप्रवृत्तेः**-प्रसंगके योग्य प्रयोजन या कार्य करनेवाला या कालो-

चित प्रवृत्ति करनेवाला, इससे ही सात्मीभूतशुभयोगस्य-जैसे तप्त लोहपिंड अग्निके साथ एकमेक या एक समान हो जाता है ऐसे ही जिसकी आत्मामें शुभयोग व्याप्त है ऐसा, अर्थात् शुभ भावनामय।

यतिधर्म दो प्रकारका है। सापेक्ष यतिधर्मको पालने लायक जो यति है उसके गुण यहां कहे गये हैं। जिस यतिमें या व्यक्तिमें उपरोक्त (इस सूत्रमें) वर्णन किये हुए गुण हों उसके लिये सापेक्ष यतिधर्म ही श्रेयकारी या मंगलमय है, अन्य नहीं। ऐसा क्यों? अर्थात इन गुणोवाला निरपेक्ष यतिधर्म क्यों न पाले? कहते हैं—

वचनप्रामाण्यादिति ॥३॥ (३७०)

मूलार्थ-भगवानकी आज्ञा इसका प्रमाण है ॥३॥

विवेचन-उपरोक्त गुणवाला निरपेक्ष यतिधर्म न पाले पर सापेक्ष रीतिसे पाले ऐसी भगवानकी आज्ञा है। यह कैसे कहा है? किस आधारसे? कहते हैं—

संपूर्णदशपूर्वविदो निरपेक्षधर्मप्रतिपत्ति-प्रतिषेधादिति ।४॥ (३७१)

मूलार्थ-संपूर्ण दश पूर्व जाननेवालेको निरपेक्ष यतिधर्म अंगीकार करनेका निषेध है ॥४॥

निषेधके लिये निम्न सूत्र कहा है—

"गच्छे च्चिय निम्माओ, जा पुव्वदसभवे असंपुण्णा।
नवमस्स तइयवत्थू, होइ जहन्नो सुआभिगमो ॥१९८॥

—साधु समुदायमें रह कर निरपेक्ष यतिधर्म पालन करनेके अभ्यासमें परिपक्व हो और इस प्रतिमाकल्पादिक निरपेक्ष यतिधर्मके

पालन करनेवालेको उत्कृष्ट श्रुतज्ञान सूत्र व अर्थसे कुछ कम दश पूर्वका होता है और जघन्यतासे नवम पूर्वकी तीसरी वस्तु (प्रत्याख्यान नामक पूर्वकी आचार नामक तीसरी वस्तु) तक श्रुतज्ञान होता है। इन वचनोंसे सपूर्ण दश पूर्वधारीको निरपेक्ष यतिधर्मके स्वीकारका निषेध सिद्ध होता है। सपूर्ण दश पूर्वधर 'अमोघवचनी' होते है अतः उनका वचन तीर्थंकर समान होता है अतः वे धर्मदेशनाद्वारा भव्य जीवोंका उपकार करके तीर्थवृद्धि करते हैं अतः प्रतिमा आदि कल्पको अंगीकार नहीं करते। यह निषेध किस लिये किया है (निरपेक्ष यतिधर्मका ?) कहते है—

परार्थसंपादनोपपत्तेरिति ॥५॥ (३७२)

मूलार्थ—परोपकार करनेका अर्थ सिद्ध होता है ॥५॥

विवेचन—सापेक्ष यतिधर्मका पालन करनेसे परोपकार होता है अतः निरपेक्षका निषेध है। दश पूर्वधर तीर्थके आधारभूत हैं अतः वे सापेक्ष यतिधर्मका पालन करके जगत्के कल्याणके मार्गको स्वीकार करते हैं।

यदि परोपकार होता है तो भी क्या ? कहते है-

तस्यैव च गुरुत्वादिति ॥६॥ (३७३)

मूलार्थ—परोपकार ही सबसे उत्तम है ॥६॥

विवेचन—धर्मके सब अनुष्ठानोंमें परोपकार सबसे गुरुतर है। परोपकार ही सर्वोत्तम है। वह उत्तम कैसे ? कहते है—

सर्वथा दुःखमोक्षणादिति ॥७॥ (३७४)

मूलार्थ—इससे सब दुःखोंमेंसे मुक्ति होती है ॥७॥

विवेचन-परोपकार करनेसे सब प्रकारसे अपने व दूसरोंके शरीर व मन संबंधी सब कष्टोंका अंत होता है अतः परोपकार ही उत्तम है।

तथा-संतानप्रवृत्तेः ॥८॥ (३७५)

मूलार्थ-और उससे संतान प्रवृत्ति होती है ॥८॥

विवेचन-परोपकार करनेसे शिष्य, प्रशिष्यके प्रवाहरूप संतानकी उत्पत्ति होती है।

तथा-योगत्रयस्याप्युदग्रफलभावादिति ॥९॥ (३७६)

मूलार्थ-और तीनों योगोंका बडा फल मिलता है इस हेतुसे ॥९॥

विवेचन-दूसरोंको धर्मके उच्च ज्ञानका बोध देने जैसा उत्तम मार्ग इस जगत्में एक भी नहीं है। उसमें तीनों ही योग-मन, वचन व काया जैसे शुद्ध व्यापारमें प्रवृत्त होते हैं वैसे किसी भी दूसरे अनुष्ठानमें नहीं। अतः परोपकार करनेसे तीनो योगोंसे उत्तम कर्म होनेसे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है। इससे अनेक कर्मोंकी निर्जरा होती है। अन्य किसी भी प्रकारसे ऐसा कर्मनिर्जराका फल नहीं मिलता। अतः ज्ञानशक्तिवाला दूसरोंको सद्बोध देवे। ज्ञानप्राप्ति उत्तम है पर ज्ञानदान अधिक उत्तम है।

तथा-निरपेक्षधर्मोचितस्यापि तत्प्रतिपत्तिकाले परपरार्थसिद्धौ तदन्यसंपादकाभावे प्रतिपत्तिप्रतिषेधाच्चेति ॥१०॥ (३७७)

मूलार्थ-और निरपेक्ष यतिधर्मके योग्य पुरुषको भी अंगीकार करते समय अन्य जीवोंकी उत्कृष्ट सिद्धि करानेके लिये अन्य पुरुषका अभाव हो तो निरपेक्ष यतिधर्मका अंगीकार करनेका प्रतिषेध है अतः परहित ही उत्तम मार्ग है ॥१०॥

विवेचन-तत्प्रतिपत्तिकाले-निरपेक्ष धर्म अंगीकार करनेके समय, परपरार्थसिद्धौ-अन्य जनोंके सम्यग्दर्शन आदि उत्तम प्रयोजनकी सिद्धि करनेमें, तदन्यसंपादकाभावे-जो निरपेक्ष यतिधर्मके योग्य है उससे दूसरा साधु जो दूसरोंको ज्ञान दे न सकता हो तो, प्रतिपत्तिप्रतिषेधात्-अंगीकार करनेका निषेध है।

कोई साधु निरपेक्ष यतिधर्म पालन करनेके योग्य हो, और अन्य जीवोंको सद्बोधसे सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्ति करानेवाले दूसरे साधु या व्यक्तिका अभाव हो तो वह साधु निरपेक्ष यतिधर्म अंगीकार न करे, उसे निषेध है। अत परोपकार ही अधिक उत्तम मार्ग है। सापेक्ष यतिधर्मकी योग्यताके लक्षण कह कर निरपेक्षके लिये कहते हैं—

नवादिपूर्वधरस्य तु यथोदितगुणस्यापि साधुशिष्यनिष्पत्तौ साध्यान्तराभावतः सति कायादिसामर्थ्ये सद्वीर्याचारसेवनेन तथा प्रमादजयाय सम्यगुचितसमये आज्ञाप्रमाण्यतस्तथैव योगवृद्धेः प्रायोपवेशनवच्छ्रेयान्निरपेक्षयतिधर्म इति ॥११॥ (३७८)

मूलार्थ-पूर्वोक्त गुणों सहित नवसे अधिक पूर्वधारी अच्छे शिष्य प्राप्त करके, अन्य साध्य कार्यके अभावमें, शरीर सामर्थ्य होने पर, सद्वीर्याचारके सेवनसे, प्रमादको जीतनेके लिये योग्य समय होने पर तथा मोक्षकी वृद्धिके लिये आज्ञाके प्रमाणसे अनशनकी तरह निरपेक्ष यतिधर्म अंगीकार करे वह अति उत्तम है ॥११॥

विवेचन-नवादिपूर्वधरस्य-नवें पूर्वकी तीसरी वस्तुसे लेकर दश पूर्वसे कुछ कम ज्ञानवाला, यथोदितगुणस्यापि-तत्र 'कल्याणाशयस्ते' सूत्रमें कहे हुए जो सापेक्ष यतिधर्म पालनके गुण हैं वे सब निरपेक्ष यतिधर्म पालन करनेवालेमें हो, साधुशिष्यनिष्पत्तौ-अच्छे शिष्य होने पर आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, तथा गणाधिपति ऐसे पांच योग्यतावाले साधु उसके शिष्य हों, साध्यान्तराभावत-निरपेक्ष यतिधर्मके योग्य शरीरबल तथा मनोबल होना चाहिये और सामर्थ्य होनेका विश्वास सामर्थ्यके उपयोगसे पैदा हुआ हो। वह बल वज्रऋषभनाराच संहननरूप शरीरका बंधारण हो और वज्रकी दीवारके जैसी धीरज हो-इससे काय व मनका महान् सामर्थ्य हो, सद्वीर्याचारासेवनेन-अच्छे यतिधर्मके विषयमें प्रवृत्ति करनेसे सुंदर वीर्याचार अर्थात् अपने सामर्थ्य व बलको नहीं छिपावे ऐसे वीर्याचारके सेवनसे, तथा प्रमादजयाय-और निरपेक्ष यतिधर्मको अंगीकार करके निद्रादि प्रमादको हरावे, प्रमादको हरानेके लिये, सम्यगुचितसमये-शास्त्रोक्त नीतिके अनुसार तप, सत्त्व, सूत्र, एकत्व और बल-इन पांच प्रकारकी तुलनासे अपनी आत्माको

भली भांति तोलकर, जांचकर उचित समयमें अर्थात् तिथि, वार, नक्षत्र, योग और लग्नकी शुद्धि देकर, **आज्ञाप्रामाण्यतः**—इस विषयमे आज्ञा ही प्रमाण है ऐसा परिणाम रखकर, **तथैव**—और अंगीकृत निरपेक्ष यतिधर्मकी योग्यता द्वारा या उसके अनुरूप ही, **योगवृद्धेः**—सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप धर्मके व्यापारके योगकी वृद्धिके लिये, **प्रायोपवेशनवत्**—अंत समयमें करने योग्य अनशनव्रतकी क्रियाके समान है ऐसा समझकर, **श्रेयान्**—अतिप्रशस्त, बहुत शुभ या कल्याणकारी है, **निरपेक्षयतिधर्मः**—जिनकल्प आदि जिसका स्वरूप ग्रन्थोमें प्रसिद्ध है वह निरपेक्ष यतिधर्म।

जिस साधुमें कमसे कम ऊपर कहे हुए सापेक्ष यतिधर्मके पालनमें आवश्यक जो गुण हैं, वे हो और वह नवादि पूर्वधर तथा अन्य इस सूत्रमें कहे गये (तथा जिनका विवेचन अभी यहां किया है) सब गुण स्थित हैं जिसमें—इतना सामर्थ्य है, वह उचित समयमे सम्यग्‌रूपसे प्रमादको जय करनेके लिये, योगकी वृद्धिके लिये, आज्ञाको प्रमाण मानकर अनशनव्रतकी तरह निरपेक्ष यतिधर्मको स्वीकारे उसके लिये यह अतिशय श्रेष्ठ है। इस निरपेक्ष यतिधर्मके लिये साधुमें महान् गुणोंकी आवश्यकता है। इतना बल, वीर्य तथा नवादि पूर्वका ज्ञान जंबूद्वीपके भरतक्षेत्रमें वर्तमान समयमें विद्यमान प्रतीत नहीं होता। फिर भी उसका वर्णन जानना भव्य आत्माओंके लिये तथा उसकी ओर लक्ष्य करनेके लिये आवश्यक होनेसे ग्रथकारने बताया है।

तथा—तत्कल्पस्य च परं परार्थलब्धि-
विकलस्येति ॥१२॥ (३७९)

मूलार्थ—और जो पूर्वोक्त गुणवाला हो परन्तु अन्यों पर उपकार करनेकी शक्ति रहित हो वह भी निरपेक्ष यतिधर्मके योग्य है ॥ १२ ॥

विवेचन—**तत्कल्पस्य**—निरपेक्ष यतिधर्मके पालनके समर्थ पुरुषके समान दूसरा भी, **परं**—केवल, **परार्थलब्धिविकलस्य**—उस प्रकारके अंतराय आदि दोषके कारण व कर्मके कारण परतन्त्र होनेसे परोपकार करनेमें—साधु व शिष्य आदि करनेमें असमर्थ हो जो साधु शिष्य आदि न कर सके।

जो साधु निरपेक्ष यतिधर्म पाल सकता है उसके समान गुण-वाला जो ऊपर कहे जा चुके हैं दूसरा भी कोई व्यक्ति हो पर किसी अंतराय कर्मके कारण परोपकार न कर सके, शिष्य—प्रशिष्य न बना सके वह भी निरपेक्ष यतिधर्मका पालन करे। जो परोपकार करनेमें असमर्थ हो वह अपना हित तो साधे यह भावार्थ है। ये दो विभाग करनेका हेतु शास्त्रकार बताते हैं—

उचितानुष्ठानं हि प्रधानं कर्मक्षयकारण-मिति ॥१३॥ (२८०)

मूलार्थ—योग्य अनुष्ठान कर्मक्षय करनेका मुख्य कारण है।

विवेचन—जिसके लिये जो आचरण श्रेष्ठ है या उचित है वह कर्मके क्षय करनेमें मुख्य कारण है जो जिसके लायक हो वह उसका उचित अनुष्ठान है और उचित प्रवृत्तिमें प्रयास करनेसे विजय होती है अत उचित अनुष्ठान कर्मक्षयका प्रधान कारण है।

उचित अनुष्ठानसे कर्मक्षय कैसे होता है? कहते हैं—

उदग्रविवेकभावाद् रत्नत्रयाराधनादिति ॥१४॥ (३८१)

मूलार्थ-उत्कट विवेकसे तीन रत्नोंका आराधन होता है, उससे कर्मक्षय होता है ॥१४॥

विवेचन-विवेक-उचित व अनुचितका यथार्थ भेद समझना, करने योग्य व न करने योग्यका भेद जानना, उदग्र—उत्कट, पूर्णरूपसे खिला हुआ।

जिसमें यह विवेक पूर्ण जाग्रत है व खिला हुआ है। वह ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप रत्नत्रयका आराधन ठीक तरहसे कर सका है। रत्नत्रयके आराधनसे ही कर्मका क्षय हो सकता है। तात्पर्य यह कि उचित अनुष्ठानके आरंभ करनेसे ही रत्नत्रयका आराधक उत्कृष्ट, विवेक उत्पन्न होता है और रत्नत्रयके आराधनसे ही कर्मक्षय होता है अतः विवेकको उत्पन्न करनेवाला उचित अनुष्ठान कर्मक्षयका प्रधान कारण है। यदि उचित अनुष्ठान न हो तो क्या फल होता है? कहते हैं-

अननुष्ठानमन्यदकामनिर्जराङ्गमुक्त-
विपर्ययादिति ॥१५॥ (३८२)

मूलार्थ-पूर्वोक्तसे विपरीत अनुष्ठान अनुष्ठान ही नहीं, वह अकाम निर्जराका अंग है।

विवेचन-अननुष्ठानं-अनुष्ठान ही नहीं होता, अन्यत्-उचित अनुष्ठानसे भिन्न, अकामनिर्जराङ्ग-अकाम, बिना इच्छाके बैल आदिकी तरह, जो कर्मनिर्जरा होती है उसका अंग होता है-बिना

इच्छाके कर्मक्षय जैसा होता है-जो निर्जरा मुक्तिफल देनेवाली नहीं, **विपर्ययात्**-उत्कृष्ट विवेकके अभावमें रत्नत्रयकी आराधना नहीं होती है अतः उचित अनुष्ठानसे भिन्न अन्य अनुष्ठान अनुष्ठान ही नहीं। इसी भावको आगे स्पष्ट करते हैं--

निर्वाणफलमत्र तत्त्वतोऽनुष्ठानमिति ॥१६॥ (३८३)

मूलार्थ-जिस अनुष्ठानका फल मोक्ष है वही तत्त्वतः अनुष्ठान है ॥१६॥

विवेचन-निर्वाणफलं-मुक्ति देनेवाला, **अत्र**-जिनवचनमें, **तत्त्वतः**-वस्तुत., **अनुष्ठानं**-सम्यग् दर्शन आदिके आराधनाके रूपमें जो कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन आदि जो अनुष्ठान केवल मोक्ष फलकी आशासे किया जाय वही जैनशास्त्रके अनुसार यथार्थ अनुष्ठान है। मोक्षके फलके बिना अन्य कोई फलकी आशासे किया जानेवाला अनुष्ठान नहीं। स्वर्गादि पदार्थकी प्राप्ति होने पर भी साध्यबिंदु मोक्ष होनेसे वह अनुष्ठान है। मोक्षको ले जानेवाली क्रिया ही अनुष्ठान है।

ऐसा कहनेसे क्या? शास्त्रकार उत्तर देते है—

न चासदभिनिवेशवत् तदिति ॥१७॥ (३८४)

मूलार्थ-वह अनुष्ठान मिथ्याभिनिवेशवाला नहीं होता ॥१७॥

विवेचन-न च असद् अभिनिवेशवत्-मिथ्या आग्रहयुक्त नहीं होता, **तत्**-निर्वाण फल देनेवाला अनुष्ठान।

जो अनुष्ठान मोक्षफल देनेवाला है वह मिथ्या-आग्रहवाला नहीं होता। मिथ्या आग्रहवाला बडा अनुष्ठान भी मोक्षफल रोकनेवाला

होता है अतः ऐसे असद् आग्रहका त्याग करनेके हेतु सच्चा अनुष्ठान असत् आग्रहवाला न हो, कहा है मिथ्या आग्रहसे विवेक बुद्धि नष्ट हो जाती है अत उचित व अनुचितका भेद नहीं प्रतीत होता।

अनुचित अनुष्ठान भी मिथ्या आग्रह विना संभव है—इस शंकाका उत्तर देते हैं—

अनुचितप्रतिपत्तौ नियमादसदभिनिवेशो-ऽन्यत्रानाभोगमात्रादिति ॥१८॥ (३८५)

मूलार्थ—अज्ञात अवस्था सिवाय अनुचित अनुष्ठानमें प्रवृत्ति हो वह निश्चित दुराग्रह है ॥१८॥

विवेचन—**अनुचितप्रतिपत्तौ**— अनुचित अनुष्ठान अंगीकार करना, **नियमात्**— अवश्य, **असदभिनिवेश**— मिथ्या आग्रह रूप, **अन्यत्र**—विना, **अनाभोगमात्रात्**—आग्रह रहित अज्ञानताके कारण।

अनुचित अनुष्ठान अवश्य ही मिथ्या आग्रहरूप है। मिथ्या आग्रह ही अनुचित अनुष्ठानका कारण है पर अपवादस्वरूप मिथ्या आग्रह रहित केवल अज्ञानतासे किया हुआ अनुचित अनुष्ठान भी आग्रह नहीं है। अतः अज्ञानताको छोडकर अन्य सब अनुचित अनुष्ठानकी प्रवृत्ति मिथ्या आग्रह है।

वह दुराग्रह नहीं है, ऐसा करनेसे क्या सिद्ध हुआ? कहते हैं—

संभवति तद्वतोऽपि चारित्रमिति ॥१९॥ (३८६)

मूलार्थ—केवल अज्ञानतासे अनुचित प्रवृत्ति करनेवालेको भी चारित्र संभव है ॥१९॥

विवेचन-संभवति- होने पर, **तद्भतोऽपि**- अज्ञानतासे अनुचित मार्गमें प्रवृत्ति हो तो भी।

जो पुरुष केवल अज्ञानतासे अपने सामर्थ्यको न समझकर अथवा अन्य कारणसे अनुचित अनुष्ठानमें प्रवृत्ति करे तो भी उसे सर्व विरतिरूप चारित्र संभव है। उचित प्रवृत्तिवालेको तो चारित्र संभव ही है। विशेष कहते हैं—

अनभिनिवेशवाँस्तु तद्युक्तः खल्वतत्त्वे ॥२०॥ (३८७)

मूलार्थ-चारित्रवान पुरुष अतत्त्वमें आग्रहरहित होता है।

विवेचन-अनभिनिवेशवान्- निराग्रही, **खलु**- निश्चित ही, **अतत्त्वे**- प्रवचनद्वारा निषिद्ध।

जो कार्य प्रवचनद्वारा निषिद्ध है ऐसे कार्यको निराग्रही पुरुष युक्त है ऐसा नहीं कहेगा। अज्ञानतासे अनुचित मार्गमें भी प्रवृत्ति करे पर चारित्रवान् पुरुष ऐसे अतत्त्वको माननेका दुराग्रह नहीं करेगा अथवा दुराग्रह रहित चारित्रवान् उस अनुचित मार्गको निश्चय ही योग्य न कहेगा।

यह कैसे कहा है? उत्तर देते हैं—

स्वस्वभावतोत्कर्षादिति ॥२१॥ (३८८)

मूलार्थ-अपने स्वभावकी उत्कृष्टतासे ॥२१॥

विवेचन-स्वस्य- उपाधि रहित होनेसे अपने खुदके, **स्वभावस्य**- आत्मतत्त्वके, **उत्कर्षात्**- उत्कृष्टताके कारण-वृद्धि होनेसे-(वह अतत्त्वको योग्य नहीं कहता) ॥

जिन्होंने चारित्र ग्रहण किया है वे छद्मस्थ हैं अतः अज्ञानतासे अनुचित मार्गमें प्रवृत्ति होने पर भी अतत्त्वको तत्त्व माननेकी अज्ञानता तो उनमें नहीं होती।

उनका स्वभाव सम्यग्दर्शनमय होता है। उसमें न्यूनता नहीं आती, वह उत्कृष्ट है। अतः स्वभाव उत्कृष्ट होनेसे अतत्त्वको तत्त्व नहीं मानते। गौतम आदि महामुनिकी तरह छद्मस्थ होनेसे उस प्रकारके अतिबाधक कर्म रहित होनेसे सम्यग्दर्शन आदिरूप अपने स्वभावको न्यून नहीं होने देते। उनका स्वभाव न्यून न होकर वृद्धि पाता है। क्योंकि तत्त्वोंके साथ उनका स्वभाव तन्मय हो गया है अतः वह उत्कर्ष ही पाता है।

स्वभावकी उत्कर्षता किससे होती है? वह कहते है—

मार्गानुसारित्वादिति ॥२२॥ (३८९)

मूलार्थ—मार्गानुसारितासे (स्वभावकी उच्चता होती है)।

विवेचन—ज्ञान, दर्शन व चारित्र आदिके सम्यग् मार्गके अनुसार चलनेसे आत्मा उच्च स्वभाववाला होता है। मुक्तिमार्गको अनुसरण करनेसे स्वभाव उच्चताको प्राप्त होता है।

रत्नत्रयके मार्गका अनुसरण किससे होता है? कहते है—

तथा-रुचिस्वभावत्वादिति ॥२३॥ (३९०)

मूलार्थ—उसमें रुचिका स्वभाव होनेसे ॥२३॥

विवेचन—मोक्ष मार्गको अनुसरण करनेके लिये रत्नत्रयके आराधनरूप मार्गमे रुचि व श्रद्धा होनेसे मार्गानुसारिता प्राप्त होती

है। मोक्षकी इच्छा होनेसे उसके लिये आवश्यक मार्ग रत्नत्रयके आराधनका है अतः उसमें रुचि होनेसे मार्गका अनुसरण प्राप्त होता है।

सन्मार्ग-पर चलनेकी रुचि कैसे होती है? कहते हैं—

श्रवणादौ प्रतिपत्तेरिति ॥२४॥ (३९१)

मूलार्थ—शास्त्र श्रवणसे (भूल) अंगीकार करनेसे (मार्गमें रुचि होती है) ॥२४॥

विवेचन—शास्त्रका श्रवण करनेसे स्वयं अथवा दूसरेकी प्रेरणासे अपनी भूल 'मैंने यह असुंदर कर्म किया है' ऐसा अंगीकार करनेसे—माननेसे मार्गानुसारिता आती है। भूल ज्ञात होनेसे हृदय-मन्थन होकर सन्मार्ग खोजता है, इससे मार्गमें रुचि होती है।

असदाचारगर्हणादिति ॥२५॥ (३९२)

मूलार्थ—असदाचारकी निन्दा करनेसे ॥२५॥

विवेचन—अघटित व अयुक्त आचरणकी निन्दा करे व उचित प्रायश्चित्त करे, वह अपनी भूलके अंगीकार करना हुआ। प्रायश्चित्त द्वारा निन्दा करे तब सन्मार्गमें रुचि होती है।

इत्युचितानुष्ठानमेव सर्वत्र श्रेय इति ॥२६॥ (३९३)

मूलार्थ—अतः उचित अनुष्ठान ही सब जगह श्रेयस्कर है।

विवेचन—इति—(इस) प्रकार। अनुचित अनुष्ठानमें अवश्य ही मिथ्या आग्रह है, अतः सर्वत्र— गृहस्थधर्ममें तथा यतिधर्ममें, श्रेयः—प्रशंसनीय, श्रेयस्कर।

अतः चाहे गृहस्थधर्म हो, चाहे यतिधर्म–उचित अनुष्ठान ही श्रेयस्कारी है उसमे दुराग्रह नहीं है।

उचित अनुष्ठान हितकारी क्यों है? वह कहते है—

भावनासारत्वात् तस्येति ॥२७॥ (३९४)

मूलार्थ–भावनाकी प्रधानतासे उचित अनुष्ठान श्रेयस्कारी है।

विवेचन–भावना ही उचित अनुष्ठानमें प्रधान होती है अतः वह श्रेयस्कारी है। भावना उच्च होनेसे परिणाम लाभप्रद ही होता है। उच्च भावनासे उच्च कार्यकी प्रेरणा होती है अतः निरंतर उच्च भावना रखना चाहिये। उच्च भावनासे ही उचित अनुष्ठान श्रेयस्कारी है।

इयमेवं प्रधानं निःश्रेय-
साङ्गमिति ॥२८॥ (३९५)

मूलार्थ–भावना ही मोक्षका प्रधान कारण है ॥२८॥

विवेचन–भावना, अर्थात् उच्च विचार, वही वास्तवमें मोक्षका मुख्य कारण है।

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः॥"

—मन ही मनुष्योंके बंध और मोक्षका कारण है। अतः उच्च विचार व शुभ भावना ही मोक्षका हेतु है।

एतत्स्थैर्याद्धि कुशलस्थैर्योप-
पत्तेरिति ॥२९॥ (३९६)

मूलार्थ–भावनाकी स्थिरतासे सर्व कुशल आचरणोंकी स्थिरता होती है ॥२९॥

विवेचन-एतस्य-भावनाके, कुशलानां-सब कल्याणकारी आचरणोंकी।

यदि भावना उच्च हो तो विचार, कार्य व वचन-सब उच्च होंगे। अतः भावना पर सब कार्योंका आधार है। अतः जब भावना स्थिर रहती है तब सब कुशल व कल्याणकारी आचरण भी स्थिरताको प्राप्त होते है अतः वे निश्चितरूपसे किये जा सकते है। इससे ही मोक्षका प्रधान कारण शुद्ध भावना है। यह कैसे? कहते है—

भावनानुगतस्य ज्ञानस्य तत्त्वतो ज्ञानत्वादिति ॥३०॥ (३९७)

मूलार्थ-भावनाके अनुसार ज्ञान ही वस्तुतः ज्ञान है ॥३०॥

विवेचन-ज्ञानके तीन भेद हैं— श्रुतज्ञान, चिन्ताज्ञान, भावनाज्ञान। इनके लक्षण ये हैं।

"वाक्यार्थमात्रविषयं, कोष्ठकगतबीजसंनिभ ज्ञानम्।
श्रुतमयमिह विज्ञेयं, मिथ्याभिनिवेशरहितमलम् ॥१९९॥
"यत् तु महावाक्यार्थजमतिसूक्ष्मसुयुक्तिचिन्तयोपेतम्।
उदक इव तैलबिन्दुर्विसर्पि-चिन्तामयं तत् स्यात् ॥२००॥
"ऐदम्पर्यगतं यद् विध्यादौ यत्नवत् तथैवोच्चैः।
एतत् तु भावनामयमशुद्धसद्रत्नदीप्तिसमम् ॥२०१॥

—वाक्यके अर्थ मात्रको बतानेवाला, मिथ्या आग्रह रहित, भंडारमें रहे हुए अन्नके बीजके सदृश श्रुतज्ञान है। सर्व धर्मात्मक वस्तुको प्रतिपादन करनेवाला, अनेकांतवाद विषयवाला, अति सूक्ष्म बुद्धिसे जानने लायक, सुयुक्तिद्वारा सोचा हुआ, जलमें तैल बिन्दुकी

भांति विस्तारवाला चिन्ताज्ञान है। सर्वज्ञकी आज्ञाको ग्रहण करनेवाला; विधि, द्रव्य, दाता व पात्रके प्रति आदरवाला, और उच्च तात्पर्य सहित जो ज्ञान है वह भावनाज्ञान है। वह अशुद्ध सद्रत्नके समान कांतिवाला है। जैसे अच्छा रत्न साफ न किया हुआ हो तब भी अधिक कांतिवान है वैसे ही अशुद्ध रत्न समान भव्य जीवमें रहा हुआ यह ज्ञान अन्योंसे अधिक प्रकाश देनेवाला है।

ज्ञान प्राप्तिके तीन साधन है—श्रवण, मनन व निदिध्यासन। श्रवणका ज्ञान श्रुतज्ञान है जो बीजकी तरह जितना हो उतना ही रहता है। मननसे ज्ञान बढता है और वह चिन्ताज्ञान है। पूर्ण आत्मा जब एक ध्यान होकर उधर भावना व निदिध्यासन करे तब पूर्ण सामर्थ्यसे प्रगट होनेवाले भावनाज्ञानसे ही पूर्ण रहस्य प्राप्त होता है, अतः भावनाके अनुसार जो विशेष ज्ञान होता है वही वस्तुतः ज्ञान कहा जा सकता है।

पहले श्रवण होता है वह श्रुतज्ञान, फिर दिमागमें विचार व तर्क आदि होता है वह चिंताज्ञान, तथा फिर वह हृदयमें उतरता है तब भावनाज्ञान होता है। जिस ज्ञानको हृदय अनुभवसे स्वीकार करता है वह भावनाज्ञान ही वस्तुतः ज्ञान है, वही श्रद्धा है।

न हि श्रुतमय्या प्रज्ञया, भावनादृष्टज्ञातं नामेति ॥३१॥ (३९८)

मूलार्थ—श्रुतमय बुद्धिसे जाना हुआ ज्ञान नहीं, पर भावनासे देखा व जाना हुआ ज्ञान है ॥३१॥

विवेचन– जो प्रथम ज्ञानरूप बुद्धिद्वारा देखा व जाना या श्रुतमय प्राज्ञद्वारा देखा या जाना गया वह वस्तुतः ज्ञान नहीं है पर भावनाज्ञान द्वारा जो सामान्य प्रकारसे देखी जाय तथा विशेष प्रकारसे देखी जाय तथा विशेष प्रकारसे जानी जावे वे वस्तु जानी हुई है, अतः भावना द्वारा देखा व जाना ही वस्तुतः ज्ञान है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भावनासे वस्तुका ज्ञान होता है वैसा केवल श्रुतज्ञानसे नहीं होता। जो सुना, मनन किया किया तथा भावनासे जाना वही यथार्थ ज्ञान है।

उपरागमात्रत्वादिति ॥३२॥ (३९९)

मूलार्थ–क्योंकि श्रुतज्ञान केवल बाह्य ज्ञान है ॥३२॥

टीकार्थ–श्रुतज्ञान केवल उपरसे रंगे हुए समान है जैसे स्फटिक मणिके पास किसी भी रंगका पुष्प रख देनेसे वह उस रंगका दीखता है पर वस्तुत. वह उसका रंग नहीं अतः वह उपरी रंग है। उसी प्रकार श्रुतज्ञानसे उपरका ज्ञान होता है पर भाव परिणति नहीं होती। अत श्रुतज्ञानसे जाना हुआ नहीं जानने समान है, भावनाज्ञान ही वस्तुत ज्ञान है। श्रुतज्ञान केवल ऊपरी ज्ञान है ? यह कैसे हो सकता है? कहते हैं—

दृष्टवदपायेभ्योऽनिवृत्तेरिति ॥३३॥ (४००)

मूलार्थ–दृष्ट अनर्थसे व्यक्ति निवृत्ति नहीं पाता ॥३३॥

विवेचन–जो मनुष्य यथार्थ रीतिसे अनर्थको देखे व जाने, भावनाज्ञानसे उसे अनर्थ समझ वह उसे छोडता है पर श्रुतमय

प्रज्ञासे देखे व जाने हुए अनर्थको वह नहीं छोडता है। भावनासे जाना हुआ अनर्थ छूट जाता है केवल दृष्ट अनर्थ नहीं छूटता। अतः श्रुतज्ञान बाहरी ज्ञान है तथा भावना ज्ञान ही वस्तुतः ज्ञान है, भावना ज्ञानसे जैसी निवृत्ति होती है वैसी दृष्ट या श्रुतज्ञानसे नहीं, अतः श्रुत ऊपरी है। जो यथार्थ ज्ञान हो तो प्रवृत्ति भी वैसी ही होती है अतः अनर्थ छूटता है। भावना ज्ञान होने पर भी अनर्थसे निवृत्ति नहीं होती तब? उत्तर देते हैं—

**एतन्मूले च हिताहितयोः प्रवृत्ति-
निवृत्तिरिति ॥३४॥ (४०१)**

मूलार्थ—हितमें प्रवृत्ति व अहितसे निवृत्ति—इसका मूल ही भावनाज्ञान है ॥३४॥

विवेचन—जिस बुद्धिमान पुरुषको भावनाज्ञान हुआ है वही हित-अहितमें भेद कर सकता है तथा वही हितमें प्रवृत्ति तथा अहितसे निवृत्ति करेगा। हित व अहितके भेद करनेमें मूलभूत भावनाज्ञान ही है, दूसरा ज्ञान नहीं।

**अत एव भावनादृष्टज्ञाताद् विपर्यया-
योग इति ॥३५॥ (४०२)**

मूलार्थ—इस कारणसे ही भावज्ञान द्वारा देखे जाने व जानने पर विपरीत प्रवृत्ति नहीं होती ॥३५॥

विवेचन—अत एव—हित, अहितमें प्रवृत्ति व निवृत्तिके मूलमें भावनाज्ञान ही है। भावनादृष्टज्ञाताद्—भावना द्वारा देखी व

जानी वस्तुको प्राप्त करके, विपर्ययायोगः-विपरीतताका योग नहीं होता-विपरीतमें प्रवृत्ति नहीं होती।

हितमार्ग व अहित मार्गका भेद बतानेवाला ही भावनाज्ञान है। भावनाज्ञान द्वारा देखे हुए तथा जाने हुए पदार्थोंके बारेमें विपरीत प्रवृत्तिका संभव नहीं है। बिना मतिविभ्रमके हितमें अप्रवृत्ति तथा अहितमें प्रवृत्ति नहीं होती। यह विपरीतता भावनाज्ञानमें होती ही नहीं। यह कैसे सिद्ध होता है? कहते हैं—

तद्वन्तो हि दृष्टापाययोगेऽप्यदृष्टापायेभ्यो निवर्त्तमाना दृश्यन्त एवान्य-रक्षादावितीति ॥३६॥(४०३)

मूलार्थ-भावनाज्ञानवाले पुरुष दृष्ट कष्टोंकी (मरण आदि) प्राप्ति होने पर भी अदृष्ट (नरक) कष्टोंसे निवृत्ति पाकर अन्य जीवोंकी रक्षामें प्रवृत्त होते हैं ॥३६॥

विवेचन-**तद्वन्तः**-भावनाज्ञानवाले, **दृष्टापाययोगेऽपि**-प्रत्यक्ष दीखनेवाले मरण आदि कष्ट प्राप्त करने पर भी (उनके न पाने पर तो और भी विशेषतः) **अदृष्टापायेभ्यः**-नरक आदि गति देनेवाले (हिंसा आदि कर्म), **अन्यरक्षादौ**-अपनेसे भिन्न दूसरे प्राणियोंकी रक्षा, मृत्युसे बचाना, उपकार करना तथा जैनमार्गकी श्रद्धा आदि आरोपण करनेमें-(तत्पर देखे जाते हैं)।

जो भावनाज्ञानवाले पुरुष हैं वे मरण आदि कष्ट जो दीखते हैं उनको पाने पर नरक आदि कुगतिको ले जानेवाले हिंसा आदि

कर्मसे निवृत्ति पाते हैं। वे ऐसे अनर्थकारी कार्य नहीं करते, इतना ही नहीं अन्य जीवोंकी रक्षा व उपकार करनेमें सर्वदा तत्पर रहते हैं। मेतार्य मुनिका दृष्टान्त इस बारेमें प्रसिद्ध है। "वे भिक्षाके लिये एक सूनारके यहां गये जो सोनेके जौ बना रहा था। वह भिक्षा देनेके लिये अंदरसे लाने गया इतनेमें उसका मुर्गा कई जौ निगल गया। मुनि मौनव्रत रख कर चले गये। सूनारने जौ चुराये हुए जान कर मुनिको पकडा। उनके नाम न बताने पर सिर पर गिला चमडा बांध कर सूनारने उनकी मृत्युका प्रारंभ किया। स्वयं कष्ट उठा कर भी हिंसाके भयसे मुर्गाका नाम न बताया। ऐसे महासत्त्ववाले महापुरुष अब भी देखे जाते है जो जीवोंकी रक्षा तथा अन्योंको धर्ममार्गमें प्रवृत्त व स्थिर करने आदिका उपकार करते हैं। इस विषयकी समाप्ति करते हुए कहते है—

इति मुमुक्षोः सर्वत्र भावनायामेव यत्नः श्रेयानिति ॥३७॥ (४०४)

मूलार्थ–इस प्रकार मुमुक्षु सर्वत्र भावनामें ही यत्न करें यही श्रेयस्कारी है ॥३७॥

विवेचन–अत सब कार्योंमें, सब अनुष्ठानोंमें यति उच्च प्रकारकी भावना रखे यही श्रेयस्कारी मार्ग है। भावनाज्ञान ही सद्विचारोंका प्रेरक ज्ञान है। सद्विचार ही सत्कार्य करनेवाले हैं। भावनाज्ञान प्रतिक्षण मनमे रखे। भावनाका ही आदर करना बहुत प्रशंसनीय है।

तद्भावे निसर्गत एव सर्वथा दोषोपरतिसिद्धेरिति ॥३८॥ (४०५)

मूलार्थ–भावनाज्ञान द्वारा स्वभावतः उपरामसिद्धि (दोषों-से निवृत्ति) होती है ॥३८॥

विवेचन–तद्भावे–भावनाके होनेसे, निसर्गत एव–स्वभावसे ही, दोषाणां–रागादि दोषोंका, उपरतिसिद्धिः–निवृत्तिका सिद्ध होना-दोषोंका टल जाना।

जब भावना हृदयमें रही हुई हो तब स्वभावसे ही राग आदि दोष हट जाते हैं। उनसे निवृत्ति होती है अथवा तो भावनाज्ञानसे ही सब प्रकारके मनोविकार तथा वृत्तिये हट जाती हैं–मिट जाती हैं। भावनाके होनेसे स्वभावसे ही रागादि दोष नष्ट हो जाते हैं। भावनाकी उत्पत्ति व कारण बताते हैं—

वचनोपयोगपूर्वा विहितप्रवृत्ति-
योनिरस्या इति ॥३९॥ (४०६)

मूलार्थ–वचनके उपयोग सहित शास्त्रमें कहे हुए अनुष्ठानकी प्रवृत्ति भावनाका कारण है ॥३९॥

विवेचन–वचनोपयोगः–शास्त्रमें इस इस प्रकार कहा है ऐसा सोच कर. योनिः–उत्पत्ति स्थान।

भावनाज्ञानकी उत्पत्ति शास्त्रोक्त प्रवृत्तिमें है। शास्त्रके वचनको भली प्रकार सोचना व समझना तथा उसकी आलोचना सहित किसी कार्यमें प्रवृत्ति करना वह भावनाज्ञानका उत्पत्ति स्थान है। शास्त्रद्वारा कथित अनुष्ठानोंमें उपयोगसहित की हुई प्रवृत्ति भावना-ज्ञानको पैदा करती है। वचनोपयोग सहित शास्त्रोक्त प्रवृत्ति भाव-

नोंका कारण क्यों है ? कहते हैं—

महागुणत्वाद् वचनोपयोगस्येति ॥४०॥ (४०७)

मूलार्थ-वचनोपयोग महागुणकारी है ॥४०॥

विवेचन-वचनोपयोग-शास्त्रमें यह बात इस प्रकार है व इस प्रकार कही है अतः ऐसे करना चाहिये आदि आलोचना सहित कार्य करना वह बहुत गुणकारी है, शास्त्रोक्त वचनका विचार करना बहुत उपकारी है। शास्त्रमें ज्ञानी जनोंका अनुभव तथा जिस रास्ते चलनेसे इष्टसिद्धि होती है उसका वर्णन होता अतः उसके अनुसार विचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेसे भावनाज्ञान होता है।

तत्र ह्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पस्य भगवतो बहुमानगर्भं स्मरणमिति ॥४१॥ (४०८)

मूलार्थ-वचनोपयोग द्वारा प्रवृत्तिसे अचिन्त्य चिन्तामणि समान भगवानका बहुमान सहित स्मरण होता है ॥४१॥

विवेचन-शास्त्रोक्त विचारका स्मरण करके तदनुसार प्रवृत्ति करनेसे शास्त्रके प्रणेताका भी स्मरण होता है। जिसके प्रभावके बारेमें सोचना अशक्य है ऐसे चिंतामणि रत्नके समान प्रभु भगवान हैं उनका स्मरण भी हो आता है। प्रभुका बहुमानपूर्वक स्मरण भी अत्यंत लाभदायक है अतः शास्त्रोक्त वचनको विचार करके निरंतर प्रवृत्ति करे। वह स्मरण किस प्रकार होता है ? कहते है—

भगवतैवमुक्तमित्याराधनायोगादिति ॥४२॥ (४०९)

मूलार्थ-भगवानने ऐसा कहा है इस प्रकारके अराधना योगसे (स्मरण होता है) ॥ ४२ ॥

विवेचन-जब शास्त्रवचनोंका विचार करते हैं तथा मनन करते है तब भगवानने इस बारेमें ऐसा कहा है ऐसा विचार स्वभाविक रूपसे आता है। उससे शास्त्र व उसके प्रणेताके प्रति अनुकूल भाव जागृत होते हैं और इससे भगवानका स्मरण होता है।

एवं च प्रायो भगवत एव चेतसि समवस्थानमिति ॥४३॥ (४१०)

मूलार्थ-इस प्रकार प्राय. भगवानकी ही ठीक प्रकारसे चित्तमें स्थापना होती है ॥४३॥

विवेचन-ऐसे बहुमानपूर्वक भगवानका स्मरण करनेसे हृदयमें भगवानकी ही स्थापना होती है। क्रिया करते समय चित्त क्रियामें ही स्थिर होता है अन्यथा वह भावक्रिया न होकर केवल द्रव्य क्रिया रहती है अतः इस प्रकार कुछ समयको छोड देनेसे भगवानका स्मरण प्रायः ही होता है, सर्व कालमें नहीं। क्रियाके समय चित्त उसमें ही रखे। भगवानका कहा करनेसे क्या सिद्ध होता है ? कहते हैं—

तदाज्ञाराधनाच्च तद्भक्तिरेवेति ॥४४॥ (४११)

मूलार्थ-भगवानकी आज्ञाकी आराधनासे भगवानकी ही भक्ति होती है ॥४४॥

विवेचन-भगवानकी आज्ञका अनुसरण करना यही भगवान

की भक्ति है। भक्तिके लिये उनकी आज्ञाका पालन आवश्यक है अतः आराधनासे उनकी भक्ति होती है।

उपदेशपालनैव भगवद्भक्तिः, नान्या, कृतकृत्यत्वादिति ॥४५॥ (४१२)

मूलार्थ—भगवानके उपदेशका पालन करना ही भगवानकी भक्ति है ॥४५॥

विवेचन—भगवानकी भक्ति करनेका एक ही मार्ग है वह उनका उपदेशपालन। जो भगवानकी आज्ञाके अनुसार कार्य करता है वही वस्तुतः भगवानका भक्त है यह निश्चित है। भगवान तो अपने करनेयोग्य सब कुछ कर चुके व मोक्ष सिधार गये हैं वे कृतकृत्य हैं। प्रभु कृतकृत्य हैं तो पुष्पादिसे पूजा करनेका क्या प्रयोजन? कहते हैं—

उचितद्रव्यस्तवस्यापि तद्रूपत्वादिति ॥४६॥ (४१३)

मूलार्थ—उचित द्रव्यस्तव भी उपदेशपालनरूप है अतः वह भी भक्ति है ॥४६॥

विवेचन—पुष्पादि पूजा द्रव्यस्तुति है। द्रव्यस्तुतिसे भी भगवानकी आज्ञाका पालन होता। कहा है—

"काले सुइभूएणं, विसिट्ठपुप्फाइएहिं विहिणा उ।
सारथुइथोत्तगरुई, जिणपूजा होइ कायव्वा ॥२०२॥

—योग्य अवसर पर पवित्र होकर अच्छे पुष्पादिसे तथा विधिसहित स्तुति व स्तोत्र आदि द्वारा महान् जिनपूजा करना योग्य है।

ऐसा शास्त्रोक्त उपदेश है। इस आज्ञाके अनुसार चलनेसे भक्ति होती है अतः भावपूजा व द्रव्यपूजा दोनों ही प्रभुभक्तिके मार्ग है क्योंकि जब द्रव्यस्तव उपदेशपालन समझा है तब भावस्तव तो है ही अतः निरंतर प्रभुपूजा करनी चाहिये। ऐसा क्यों ? कहते हैं—

भावस्तवाङ्गतया विधानादिति ॥४७॥ (४१४)

मूलार्थ—द्रव्यस्तव भावस्तवका अंग है ऐसा कहा हुआ है ॥४७॥

विवेचन—द्रव्यस्तवका विधान शास्त्रमें शुद्ध यतिधर्मके कारण है। विषयतृष्णा आदि कारणोंसे साधुधर्मरूप मंदिरके शिखर पर चढनेमें असमर्थ तथा धर्मकार्य करनेकी इच्छा रखनेवाले प्राणीके लिये महान् सावद्य कर्मसे निवृत्ति पानेका दूसरा मार्ग न होनेसे अरिहंत भगवानने शुभ आरंभके रूपमें द्रव्यस्तवका उपदेश किया है। जैसे—

'जिनभवनं जिनबिम्बं, जिनमतं च यः कुर्यात्।
तस्य नरामरशिवसुखफलानि करपल्लवस्थानि ॥२०३॥"

—जो पुरुष जिनमंदिर, जिनबिंब, जिनपूजा और जिनमतको करता है, उसको कराता है या उसकी पूजा-भक्ति करता है, उस पुरुषके हाथमें नर, देवता व मोक्षके सब सुख आ जाते हैं।

इस प्रकार द्रव्यस्तव भी भगवानके उपदेशके पालनरूप है। आज्ञापालन भक्ति है अतः द्रव्यस्तव भी भक्ति है। भगवानको चित्तमें रखनेका फल कहते हैं—

हृदि स्थिते च भगवति क्लिष्टकर्म-
विगम इति ॥४८॥ (४१५)

मूलार्थ–भगवान हृदयमें रहनेसे क्लिष्ट कर्मोंका क्षय होता है ॥४८॥

विवेचन–क्लिष्ट कर्म वे है जो संसारमें रहनेके लिये आत्माको बाध्य करते हैं। उनका नाश भगवानके स्मरणसे होता है। अशुभ अनुबंधी मिथ्यात्व मोहनीय आदि कर्म हैं। ऐसा किस तरहसे कहा? (कैसे कर्म क्षय होते है?) कहते हैं–

जलानलवदनयोर्विरोधादिति ॥४९॥ (४१६)

मूलार्थ–भगवानका स्मरण वह क्लिष्ट कर्मका जल व अग्निकी तरह परस्पर विरोधी है ॥४९॥

विवेचन–जिस प्रकार जलके साथ अग्नि नहीं रह सकती, जहां जल होगा वहां अग्नि समाप्त हो जायगी। उसी प्रकार भगवानके चितमें रहनेसे क्लिष्ट कर्मोंका विरोध होनेसे स्वतः नाश हो जाता है। जब भगवान चित्तमें होंगे क्लिष्ट कर्म नहीं रहेंगे।

इत्युचितानुष्ठानमेव सर्वत्र प्रधानमिति ॥५०॥(४१७)

मूलार्थ–इस प्रकार उचित अनुष्ठान ही सब जगह मुख्य है ॥५०॥

विवेचन–इसका भावार्थ पहले सूत्र २६ (३९३) में आ चुका है। उचित अनुष्ठान मुख्य है यह कैसे कहा जा सकता है? कहते हैं–

प्रायोऽतिचारासंभवादिति ॥५१॥ (४१८)

मूलार्थ-प्रायः उचित अनुष्ठानमें अतिचार संभव नहीं है। (अतः उचित अनुष्ठान मुख्य है) ॥५१॥

विवेचन-जो पुरुष अपना उचित कर्म करनेको तत्पर होता है उसमें उसे प्रायः अतिचार लगना संभव नहीं है। कर्म उचित होनेसे उसमें वह अतिचार लगने नहीं देता। प्रायः ऐसा ही होता है पर कभी कभी उस प्रकारके अनाभोग या अविचारके दोषसे अथवा न टूटनेवाले निकाचित क्लिष्ट कर्मोंके उदयसे कभी किसी पुरुषको जो ऐसे सन्मार्ग पर जाता है अतिचार हो सकता है वह उसी प्रकार है जैसे कि किसी पथिकको राहमें कांटा लगना, ज्वर आना अथवा दिशाभ्रम होना संभव है। इस तरह कभी अतिचार लग सकता है पर अधिकांशतः उचित अनुष्ठान करनेवालेको अतिचारका संभव कम हैं। अतिचार न लगे वह किस प्रकार? कहते हैं-

यथाशक्ति प्रवृत्तेरिति ॥५२॥ (४१९)

मूलार्थ-यथाशक्ति प्रवृत्ति करनेसे ॥५२॥

विवेचन-सब कार्योंमें जितना सामर्थ्य हो, जितनी शक्ति हो, उसी प्रकार प्रवृत्ति होती है। अतः उचित अनुष्ठानमें फिर अतिचार लगना संभव नहीं रहता। जितना वह कर सकता है उतना ही करता है और वह कर लेता है अतः अतिचार नहीं लगता।

सद्भावप्रतिबन्धादिति ॥५३॥(४२०)

मूलार्थ—सद्भावमें चित्त लगानेसे (यथाशक्ति प्रवृत्ति होती है) ॥५३॥

विवेचन—जो सत्यकार्य वह अपनी शक्तिसे कर सकता है ऐसे सत्कार्यमें अपना चित्त लगानेसे मनुष्य अपनी शक्तिके अनुसार कार्य कर सकता है यथाशक्ति कार्यमें चित्त रखनेसे वह प्रवृत्ति भी बराबर हो सकती है।

इतरथाऽऽर्त्तध्यानोपपत्तिरिति ॥५४॥ (४२१)

मूलार्थ—शक्ति उपरांत करनेसे आर्त्त ध्यानका प्रसंग आता है ॥५४॥

विवेचन—इतरथा-अनुचित कार्यके आरंभसे, उपपत्ति—प्रसंग आना।

अनुचित कार्यको प्रारंभ करनेसे, अपनी शक्तिसे अधिक काम करनेसे, वह नहीं कर सकनेसे आर्त्तध्यानका अवसर आता है। अनिच्छा या शक्ति उपरांत कार्यमे आर्त्तध्यानका प्रसंग आ जाता है। मनमे कुविचार उठते हैं।

अकालोत्सुक्यस्य तत्त्वतस्तत्त्वादिति ॥५५॥ (४२२)

मूलार्थ—अकाल उत्सुकता वस्तुतः आर्तध्यान ही है ॥५५॥

विवेचन—समय अनुकूल न हो तब कालके उचित कार्यका त्याग करके उत्सुक होकर जो कार्य किया जाय, उस कार्यमें व्यवहारसे धर्म ध्यान कहलाने पर भी वस्तुतः उसका स्वरूप आर्त्तध्यान ही होता है। जैसे जो अपनी इंद्रियोंको वशमें न कर सके वह

ब्रह्मचर्य अंगीकार करे तब केवल आर्त्तध्यान ही होता है। अतः उचित समय पर उचित कार्य करना ही अच्छा है अन्यथा योग्य समय न होने पर भी उत्सुक होकर कोई काम किया जावे तो आर्त्तध्यान होता है।

उत्सुकता रहित पुरुष प्रवृत्तिकाल कैसे प्राप्त कर सकता है? कहते हैं—

नेदं प्रवृत्तिकालसाधनमिति ॥५६॥ (४२३)

मूलार्थ-उत्सुकता प्रवृत्तिकालका साधन नहीं है ॥५६॥

विवेचन-इदम्- औत्सुक्य-उत्सुकता, **प्रवृत्तिकाल**-कार्यमें प्रवृत्ति करनेका समय, **साधनम्**-हेतु।

मनुष्य कोई काम करनेको उत्सुक हो उस परसे प्रवृत्तिका समय मिले, ऐसा नहीं होता। यदि प्रवृत्ति करनेका अवसर न हो तो उत्सुकतासे कुछ नहीं होता। धर्मसाधनका जो अवसर है उसके सिवाय धर्मसाधनकी कोई प्रवृत्ति करे तो वह निष्फल जाती है। जैसे बहुत भूखा मनुष्य भी समय या अवसर विना भोजन प्राप्त नहीं कर सकता। अतः उत्सुकता समय प्राप्त करनेका साधन नहीं है। इसका सार क्या है या क्या करना चाहिये? कहते हैं—

इति सदोचितमिति ॥५७॥ (४२४)

मूलार्थ--अतः निरंतर उचित कार्य करे ॥५७॥

विवेचन--उत्सुकताका त्याग करके जो उचित हो वही कार्य हमेशां है ऐसा सोचकर कार्य करे।

तदा तदसत्त्वादिति ॥५८॥ (४२५)

मूलार्थ - उस समय वह (उत्सुकता) असत् है ॥५ ॥

विवेचन—प्रवृत्ति कालके समय उत्सुकता आवश्यक नहीं है। पुरुष कार्यमे प्रवृत्ति करते समय उत्सुकताका आश्रय नहीं लेते। वे पुरुष अच्छे उपायद्वारा ही प्रवृत्ति करते हैं। सदुपाय कार्यको अवश्य सिद्ध करता है। कार्यमें भी उपाय या साधनका असर अवश्य प्रगट हो जाता है। जैसे घडेको बनानेका साधन मिट्टी है। वह कार्यकी प्रवृत्तिके समय अवश्य स्थित होती है अतः किसी भी कार्यकी प्रवृत्तिके समय उसके लिये साधनरूप कारण अवश्य प्रगट हो जाता है। बुद्धिमान जन कार्यमें प्रवृत्ति करनेके समय उत्सुकता नहीं दीखाते। अतः उत्सुकता कैसे साधनभाव हो सकता है? उत्सुकता प्रवृत्ति कालमें कार्यका साधन नहीं है। सदुपाय ही साधन है। उत्सुकता कार्यसाधनमें विघ्नरूप भी है। सदुपायसे उचित प्रवृत्ति करना ही कार्यसिद्धिका लक्षण है। कहा भी है कि—

"अत्वरापूर्वकं सर्वं, गमनं कृत्यमेव वा।
प्रणिधानसमायुक्तमपायपरिहारतः" ॥२०५॥

—सब प्रकारके कार्य अथवा गमन (जाना) त्वरारहित (शीघ्रता या उत्सुकता छोड कर) करना चाहिये क्योंकि कष्ट त्याग करके चित्तकी एकाग्रतासे किया हुआ कार्य सिद्ध होता है अतः उत्सुकता त्याग करके अपने उचित कार्यमें प्रवृत्ति करना। यदि उत्सुकता प्रवृत्तिकालका साधन नहीं है तो दूसरा कारण क्या है? कहते हैं—

प्रभूतान्येव तु प्रवृत्तिकालसाधनानीति ॥५९॥ (४२६)

मूलार्थ—प्रवृत्तिकालके बतानेवाले साधन (कारण) बहुत है ॥५९॥

विवेचन—किसी कार्यके प्रारंभ करनेका योग्य समय हो जानेकी सूचना देनेवाले, ऐसे समयको बतानेवाले एक दो नहीं, कई एक कारण हैं। वे बताते हैं—

निदानश्रवणादेरपि केषाञ्चत् प्रवृत्तिमात्र-दर्शनादिति ॥६०॥ (४२७)

मूलार्थ—निदान, श्रवण आदिसे भी कईयोंकी प्रवृत्ति होती दिखती है ॥६०॥

विवेचन—यहा निदान शब्द कारण-मात्रके लिये आया है। जैसे इस रोगका निदान, उत्पत्तिका कारण क्या है ? इस प्रयोगमें कहा है, जैसे ससारिक व स्वर्गीय सुख व भोगोंका कारण दान है ऐसा शास्त्रोंमें कहा है अत. प्रवृत्तिकालका एक-साधन नहीं है। जैसे-

"भोगा दानेन भवन्ति, देहिनां सुरगतिश्च शीलेन।
भावनया च विमुक्तिस्तपसा सर्वाणि सिद्ध्यन्ति" ॥२०५॥

—दान देनेसे प्राणियोको भोगकी प्राप्ति होती है। शील पालनसे देवगति मिलती है। भावसे मुक्ति मिलती है तथा तपसे सब कार्योंकी सिद्धि होती है।

ऐसा सुननेसे उसकी प्राप्तिके लिये प्राप्तिकी इच्छासे, स्वजनके आग्रहसे और बलात्कार आदि कारणोसे कई पुरुषोंने दीक्षा ली है।

जैसे गोविंद वाचक, सुन्दरानन्द, आर्य सुहस्ति आदिने किसी रंक पुरुष, भवदेव तथा करोटक गणि आदिको दीक्षा दी है। उन्होंने जब दीक्षा ली तब केवल प्रवृत्ति करनेके समय वे तात्त्विक उपयोग रहित थे। इस संबंधमे केवल दीक्षा लेना हीउनकी योग्यता थी। ऐसा शास्त्रमें उल्लेख है।

ऐसी दीक्षामे प्रवृत्ति मात्र सद्भावयुक्त दीक्षाकी प्राप्तिकालका कारण कैसे हैं? उत्तर देते हैं—

तस्यापि तथा पारम्पर्यसाधनत्वमिति ॥६१॥ (४९८)

मूलार्थ—वह प्रवृत्तिमात्र भी (तथा भव वैराग्य आदिसे) उस परंपराका साधन है ॥६१॥

विवेचन—तथा पारम्पर्येण—उस प्रकारकी परंपरासे, साधनत्वं— साधनभाव है।

प्रवृत्ति मात्र भी उस प्रकारकी परंपरासे दीक्षाका साधन या कारण है। भव वैराग्य आदि तो मुख्य कारण है ही। कई पुरुष उपरोक्त भोगाभिलाषासे अर्थात् दीक्षासे दैवी व मानवी सुख प्राप्त होंगे, ऐसा सुननेसे दीक्षित हुए। पर द्रव्य दीक्षाके अंगीकार करनेके बाद अभ्यास—सतत दीक्षा पालनेसे भोगाभिलाषाको त्याग करके यदि अतितीव्र चारित्र मोहनीय कर्मका उदय न हो तो, भाव-दीक्षा अंगीकार करनेके लायक बन जाते है। जैसे गोविंद वाचक आदि। अतः द्रव्य दीक्षा (प्रवृत्तिमात्र) भी भावदीक्षाका परंपरासे कारण है। तब तो प्रवृत्ति मात्रसे योग्यता हो गई? कहते हैं—

यतिधर्माधिकारश्चायमिति प्रतिषेध इति ॥६२॥ (४९२)

मूलार्थ-शुद्ध यतिधर्मके अधिकारमें इस (प्रवृत्तिमात्र)का निषेध है ॥६२॥

विवेचन-यतिधर्माधिकारः-शुद्ध साधुधर्मके अधिकारमें-वर्णनमें।

यहां उत्सर्ग और शुद्ध यतिधर्मके बारेमें कहा जा रहा है। अत' यहां शुद्ध यतिधर्मके बारेमें ही वर्णन करेंगे। अतः केवल दीक्षाकी प्रवृत्तिको ही योग्यता मानना-इसका निषेध है। हरेक पुरुष केवल दीक्षा ले लेनेसे ही भाव यतित्वके योग्य नहीं होता। लेकिन जैसे कीडा लकडी खाते खाते उसमें कोई अक्षर बना ले इससे कीडा अक्षर ही बनायेगा यह नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार गोविंद वाचक जैसा कोई द्रव्य दीक्षाके बाद भाव दीक्षाके योग्य भी होता है पर प्रत्येक ऐसा नहीं हो सकता। अत सब जगह उचितताका विचार आवश्यक है। केवल प्रवृत्ति मात्रका तो निषेध ही है।

न चैतत्परिणते चारित्रपरिणामेति ॥६३॥ (४३०)

मूलार्थ-चारित्रके परिणामकी उत्पत्ति होनेसे उत्सुकता नहीं होती ॥६३॥

विवेचन-जिसे चारित्रके भाव प्रगट हो गये हैं, जो चरित्रका यथार्थ स्वरूप समझ कर उसे लेनेमें तल्लीन हो गया है वह कभी उत्सुकता नहीं बतायेगा। उचित समय पर अकाल उत्सुकतासे कोई कार्य न करेगा।

तस्य प्रसन्नगम्भीरत्वादिति ॥६४॥ (४३१)

मूलार्थ—चारित्रके परिणामकी प्रसन्नता व गम्भीरतासे।

विवेचन—जैसे शरद् ऋतुमें सरोवरका जल निर्मल व प्रसन्न दीखता है वैसे जिसको वस्तुतः चारित्रके परिणाम उत्पन्न हुए हैं उसका हृदय वैसा ही निर्मल होगा। उसका मन समुद्रके मध्य भागके जैसा गंभीर होगा। ऐसा प्रसन्न व गंभीर पुरुष कभी अनुचित अनुष्ठान न करेगा या अकाल उत्सुकता न दिखायेगा।

हितावहत्वादिति ॥६५॥ (४३२)

मूलार्थ—चारित्रका परिणाम हितकारी है ॥६५॥

विवेचन—जिसमे शुद्ध चारित्रके लिये वस्तुतः भावना उत्पन्न हुई है उसका कार्य केवल हितकारी ही होगा। वह कभी भी अयोग्य समयमें उत्सुकतासे चारित्र ग्रहण करनेको तत्पर नहीं होगा।

यह चारित्र परिणामकी परिणति (उत्पत्ति) हो जाने पर वह प्रसन्न, गंभीर तथा हितकारी होता है तो चारित्रके भावकी प्राप्तिके बाद साधुको बार बार विभिन्न शब्दोंसे उपदेश क्यो दिया जाता है। जैसे—

"गुरुकुलवासो गुरुतंतया य, उचियविणयस्स करण च।
वसहीपमज्जणाइसु, जत्तो तह कालविक्खाए" ॥२०६॥

"अनिगूहणा बलम्मी, सव्वत्थ पवत्तणं च सत्तीए।
नियलाभचिंतणं सइ, अणुग्गहो मित्ति गुरुवयणे" ॥२०७॥

"संवरनिच्छिद्दत्तं, छज्जीवरक्खणासुपरिसुद्धं।
विहिसज्झाओ मरणाइवेक्खणं जइजणुवएसो" ॥२०८॥

—मुनि गुरुकुलमें वास करे, गुरुकी अधीनतामें रहे तथा

उचित विनय करे और कालकी अपेक्षा करके रहनेकी जगहकी प्रमार्जना आदि करे।

अपने बलको न छीपावे (धर्मकार्यमें पुरुषार्थ करे)। सब जगह शक्तिपूर्वक व्यवहार करे। अपने हितकारी वस्तुका चिंतन करे तथा गुरुकी आज्ञाको अपने पर किया गया उपकार माने। संवरमें अति-चार आदि दोषका निवारण करे, छकाय जीवकी रक्षा करे तथा शुद्धभाव रखे। विनय आदि विधिसे स्वाध्याय करे, शास्त्रोक्त मरण आदिका विचार करे तथा यतिजनोके पास उपदेश सुने।

यदि चारित्रके भाव साधुमें हो तो यह उपदेश देनेकी क्या आवश्यकता है? कहते हैं—

चारित्रिणां तत्साधनानुष्ठानविषय-स्तूपदेशः, प्रतिपात्यसौ, कर्म-वैचित्र्यादिति ॥६६॥ (४३३)

मूलार्थ—उपदेश चारित्र परिणामको साधनेवाला अनु-ष्ठान है, क्योंकि कर्मकी विचित्रतासे चारित्र परिणाम मिट सकते हैं अतः उपदेश आवश्यक है ॥६६॥

विवेचन—चारित्रिणां— चारित्रके परिणाम जिनको हुए हैं, **तत्साधन**— चारित्र परिणामको साधन करनेवाले, **अनुष्ठान**— गुरु-कुलवास आदि, **विषयः**— जिसके विषयमें ये अनुष्ठान बताना है, **उपदेशः**—उपदेष्टा या धर्मप्रवर्तकके वचनरूप जो शास्त्रमें कहे हुए हैं, **प्रतिपाती**—पतनशील, **कर्मवैचित्र्यात्**—कर्मकी विचित्रताके कारण।

जिसको चारित्र ग्रहण करनेके परिणाम उत्पन्न हुए हैं उनके चारित्र परिणामके साधनरूप जो अनुष्ठान है उनको बतानेवाला यह उपदेश है। अतः उपदेश देना उत्तम है। उपदेश देनेका कारण यह है कि कर्मकी विचित्रताके कारण चारित्रके परिणाम पतनशील हैं। कर्मकी विचित्रतासे सब कुछ हो सकता है। कहा है कि—

"कम्माइं नूणं घणचिक्कणाइं कढिणाइं वज्जसाराइं।
णाणड्ढ्यपि पुरिसं, पंथाओ उप्पहं नेंति" ॥२०९॥

—गाढ, चिकने, कठिन तथा वज्रसमान कर्म ज्ञानमार्गमें स्थिर पुरुषको भी उन्मार्गमें ले जानेमें समर्थ हैं।

अतः कर्मवश कभी किसीका चरित्रभाव समाप्त हो जाय तब भी गुरुकुल वास आदि साधनोंसे वह चारित्रभावमें स्थिर रह सकेगा। अतः उपदेश हितकारी है।

तत्संरक्षणानुष्ठानविषयश्च चक्रादिप्रवृत्त्यवसान-भ्रमाधानज्ञातादिति ॥ ६७ ॥ (४३४)

मूलार्थ– चारित्र परिमाणकी रक्षाके लिये अनुष्ठानवाला उपदेश इस प्रकार है; जैसे चक्र आदिकी गति मंद होने पर दंड आदिसे गति तीव्र की जाती है ॥६७॥

विवेचन– चारित्र भावकी जो उत्पत्ति हुई है उसका रक्षण करनेके लिये अनुष्ठान करना आवश्यक है और उन अनुष्ठानोंको बतानेवाला उपदेश बहुत लाभप्रद है। जैसे—

**"वज्जेजा संसग्गिं, पासत्थाईहिं पावमित्तेहिं।
कुज्जा उ अप्पमत्तो, सुद्धचरित्तेहिं च धीरेहिं ॥२१०॥"**

—अप्रमत्त पुरुष पापके मित्र जैसे असंयत पुरुषोंके संसर्गका त्याग करे और शुद्ध चारित्रवान धीर पुरुषोंका ससर्ग करे।

जैसे कुम्हारका चक्र घूमता है और उसकी गति मंद पड जाने पर कुम्हार दंड द्वारा उसे तीव्र करता है ऐसे ही उपरोक्त प्रकारके उपदेशोंसे चारित्र परिणामकी आई हुई मन्दताको हटा कर तीव्रता उत्पन्न की जाती है।

उपदेशकी निष्फलता कब होती है? कहते हैं—

माध्यस्थ्ये तद्वैफल्यमेवेति ॥ ६८ ॥ (४३५)

मूलार्थ- मध्यस्थतामें उपदेशकी निष्फलता है ॥६८॥

विवेचन- अप्रवृत्ति और प्रवृत्तिकी मंदता इन दोनोंके बीचकी मध्यस्थता हो अर्थात् जब चारित्र परिणाममें तीव्रता हो तब उपदेश वृथा है अर्थात् जिस पुरुषको चारित्रका तीव्र भाव है उसे उपदेशकी जरूरत नहीं है।

स्वयं भ्रमणसिद्धेरिति ॥ ६९ ॥ (४३६)

मूलार्थ- अपने आप ही भ्रमणकी सिद्धि है ॥६९॥

विवेचन- जैसे चक्र जब अपने आप चलता है तो उसे चलाने की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही जब आत्मामें स्वयं तीव्र चारित्र भाव हैं तो उपदेशकी जरूरत नहीं।

भावयतिर्हि तथा कुशलाशयत्वादशक्तोऽसमञ्जसप्रवृत्तावितरस्यामिवेतर इति ॥७०॥ (४३७)

मूलार्थ- भावयति कुशल आशयवाला होनेसे अयोग्य

प्रवृत्ति करनेमें असमर्थ है और जो भावयति नहीं वह योग्य प्रवृत्ति करनेमें असमर्थ है।७०॥

विवेचन– तथाकुशलाशय– चारित्रवृद्धिका हेतु रखनेवाला, शुद्ध भाव तथा आशयवाला।

जो भावयति या परमार्थतः साधु है वह चारित्रकी वृद्धिके शुद्ध भाव रखता है, अतः वह कदापि अनाचार सेवन नहीं कर सकता। जो भावयति नहीं है। केवल द्रव्ययति है वह भावसे संयमकी प्रवृत्ति करनेमें अशक्त है। उसी प्रकार उत्तम साधुके योग्य प्रवृत्ति करनेके लिये उपदेशकी अपेक्षा नहीं है।

इति निदर्शनमात्रमिति ॥ ७१ ॥ (४३८)

मूलार्थ– यह समानता केवल दृष्टांत मात्र कही है।७१॥

विवेचन– 'द्रव्ययति शुद्ध संयम पालनेमें अशक्त है' वह केवल दृष्टांत-मात्रके रूपमें कहा है इस परसे यह नहीं समझना कि द्रव्ययति संयमका पालन ही नहीं कर सकता।

न सर्वसाधर्म्ययोगेनेति ॥ ७२ ॥ (४३९)

मूलार्थ– उपरोक्त दृष्टांत सब प्रकारसे सादृश्य योगका नहीं है ॥७२॥

विवेचन– इस दृष्टांतमें जो समानता–सादृश्यता कही है वह सब प्रकारसे सर्वांशसे नहीं है केवल कुछ अंशोंमें ही समानता है।

यतेस्तदप्रवृत्तिनिमित्तस्य गरीय-
स्त्वादिति ॥ ७३ ॥ (४४०)

मूलार्थ- भाव यतिकी अनुचित कार्यमें प्रवृत्ति न होनेका निमित्त मुख्य है ॥७३॥

विवेचन- यतेः- भावसाधु, तदप्रवृत्ति-अनुचित कार्यमें प्रवृत्ति न होना, **निमित्तस्य-** सम्यग्दर्शन आदि परिणामका, **गरीयस्त्वात्-** महत्ता।

भाव साधु अनाचार सेवन आदि अनुचित कार्य नहीं करता। उसका कारण सम्यग्दर्शनका परिणाम है। वह सम्यग्दर्शन आदि अनुचित कार्यमें प्रवृत्ति करानेवाले मिथ्यात्व आदि कषायोंसे अधिक महत्त्वका है। मिथ्यात्व आदि उस प्रकारके कर्मके उदयसे उत्पन्न वस्तु हैं। सम्यग्दर्शन आदि आत्माके स्वाभाविक गुण हैं अतः वे ज्यदा महत्त्वके हैं। स्वाभाविक गुण अस्वाभाविकसे ज्यादा महत्त्ववाले हैं ही।

वस्तुतः स्वाभाविकत्वादिति ॥ ७४ ॥ (४४१)

मूलार्थ- वास्तवमें सम्यग्दर्शन आदि आत्माके स्वाभाविक गुण है॥७४॥

विवेचन- उचित प्रवृत्तिके कारणरूप जो सम्यग्दर्शन आदि हैं वे आत्माके वास्तवमें स्वाभाविक गुण है। आत्मस्वभावमय हैं (अतः मिथ्यात्व आदिसे महत्त्वके हैं) ॥

तथा सद्भाववृद्धेः फलोत्कर्षसाधना-
दिति ॥७५॥ (४४२)

मूलार्थ-और शुभ भावकी वृद्धि मोक्षरूप महाफलको देनेवाली है ॥७५॥

विवेचन-सद्भाव-शुभ परिणाम, फलोत्कर्षसाधनात्-महान् फलरूप मोक्षको देनेवाली-सम्यक्दर्शनसे शुद्ध भावकी वृद्धि होती है और शुद्ध भावकी वृद्धिसे मोक्षरूप सर्वोच्च फल मिल सकता है अतः सम्यग्दर्शन ज्यादा महत्त्वका है। मिथ्यात्व आदिसे कभी भी मोक्षफल नहीं मिल सकता। अतः मिथ्यात्व आदिसे सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है।

उपप्लवविगमेन तथावभासना-
दितीति ॥७६॥ (४४३)

मूलार्थ-राग-द्वेषादि उपद्रवका नाश होनेसे वैसा बोध होता है ॥७६॥

विवेचन-उपप्लवविगमेन-राग-द्वेष आदि आंतरिक उपद्रवोके अंत होनेसे, तथावभासनात्-उस प्रकारका ज्ञान, अनुचित कार्यमें प्रवृत्ति न करना ही ठीक है-ऐसा ज्ञान।

सम्यग्दर्शनसे शुद्ध भाव होते हैं। शुद्धभावसे राग-द्वेष आदि उपद्रव नष्ट होते हैं। उससे भाव यतिको सारा निर्मल प्रकाश मिलता है। उससे अनुचित कार्यमें प्रवृत्ति न करना ठीक है ऐसा विश्वास होता है। अत सम्यग्दर्शन महत्त्वका है। अत. पूर्वोक्त 'असाधु भाव संयम पालनमें असमर्थ है' केवल दृष्टान्त मात्र है।

अब इस प्रकरणको समाप्त करते हुए कहते हैं—

एवंविधयतेः प्रायो, भावशुद्धेर्महात्मनः।
विनिवृत्ताग्रहस्योच्चैः, मोक्षतुल्यो भवोऽपि हि ॥३४॥

मूलार्थ—दुराग्रह रहित इस प्रकार भावशुद्धिवाले उचित अनुष्ठानवाले महात्मा भाव यतिके लिये प्रायः यह संसार ही मोक्ष समान है ॥३४॥

विवेचन—**एवंविधस्य**—अपनी स्थितिके अनुकूल उचित अनुष्ठान प्रारंभ करनेवाले, **यते**—साधु, **प्राय**—अक्सर, **विनिवृत्ताग्रहस्य**—शरीर आदि संबंधी मूर्छादोष जिसका नाश हो गया है, **उच्चै**—बहुत—अति, **मोक्षतुल्य**—संसार भी मोक्षके बराबर है।

जो अपनी अवस्थाके अनुकूल उचित अनुष्ठान करनेमें तत्पर है, भावशुद्धिवाला है, शरीर आदि पर जिसकी मूर्च्छाका नाश हो गया है ऐसे भाव यतिको संसार भी मोक्षके समान है। यद्यपि वह संसारमें रहे तब भी मोक्षसुख ही भोगता है। कहा है कि—

"**निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।**
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥२११॥"

—जिसने अहंकार व कामदेवको जीत लिया है, जो मन, वचन, कायाके विकारोसे रहित है, जिसने दूसरी (पुद्‌गल भावकी इच्छा) आशाको छोड दिया है ऐसे सुविहित साधुको यह संसार भी मोक्ष है। संसार भी मोक्ष कैसे है? सो बताते हैं—

सद्दर्शनादिसंप्राप्ते, संतोषामृतयोगतः।
भावैश्वर्यप्रधानत्वात्, तदासन्नत्वतस्तथा ॥३५॥

मूलार्थ–सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्तिसे, संतोषरूपी अमृतको प्राप्त कर लेनेसे, भावरूपी ऐश्वर्यकी मुख्यतासे और मोक्षकी समीपतासे यहां ही मोक्ष कहा है ॥३५॥

विवेचन–सद्दर्शनादीनाम्–चिन्तामणि, कल्पवृक्ष और कामधेनु जैसी उपमाओंको भी न्यून बतानेवाले सम्यग्ज्ञान, दर्शन व चारित्र, संप्राप्त-लाभ, प्राप्ति–भावैश्वर्येण–क्षमा, मार्दव आदि भावोंका प्रधानत्वात्–उत्तम या मुख्यता, तदासन्न–मोक्षकी समीपता।

चिंतामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष आदि वस्तुओसे भी अधिक उत्तम सम्यग्दर्शन आदिको प्राप्त करके, संतोषरूपी अमृतको पाकर, भावरूपी ऐश्वर्यकी मुख्यतासे और मोक्ष समीप होनेसे भाव यतिके लिये यह संसार ही मोक्ष समान है।

उक्तं मासादिपर्यायवृद्ध्या द्वादशभिः परम्।
तेजः प्राप्नोति चारित्री, सर्वदेवेभ्य उत्तमम् ॥३६॥

मूलार्थ–मासादिक पर्यायकी वृद्धि करके बारह महिने तक चारित्रको धारण करनेवाला सर्व देवताओंसे उत्तम तेज–उत्कृष्ट सुखको प्राप्त करता है ॥३६॥

विवेचन–उक्तं–भगवतीसूत्रमे कहा हुआ, मासादिपर्यायवृद्ध्या–एक, दो, तीन आदि क्रमशः १२ महिने तक पर्यायवृद्धि करके, परं–उत्कृष्ट, तेजः–चित्तके सुखकी प्राप्तिवाला, प्राप्नोति–

पाता है, चारित्री–विशिष्ट चारित्रवाला (भाव यति); सर्वदेवेभ्यः– भवनवासीसे लेकर अनुत्तर विमानवासी देव तकके सर्व देवताओंसे अधिक सुख प्राप्त करता है।

कोई एक महिना, कोई दो महिना -इस प्रकार अनुक्रमसे जो बारह महिने तक उत्कृष्ट चारित्र पाले ऐसा उत्तम भावयति भवन-पतिसे प्रारंभ करके विमानवासी देवताओ तक सब देवोंके सुखसे अधिक-सुख प्राप्त कर सकता है।

भगवतीसूत्रमें इस बारेमें इस प्रकार कहा है—

इस वर्तमान कालमें विचरण करते हुए श्रमण निर्ग्रन्थ किससे अधिक चित्तको सुख देनेवाले तेजको धारण कर सकता है? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

एक मासका चारित्र पर्याय पालन करनेवाला साधु (श्रमण निर्ग्रन्थ) वाणव्यंतर देवताओंसे अधिक सुख प्राप्त करता है। दो मास तक चारित्र पर्याय पालनेवाला साधु असुरेंद्र बिना भवनपति देवताओंसे अधिक सुख प्राप्त करता हैं। तीन मास तक चारित्र पर्यायवाला साधु असुरेन्द्रसे अधिक सुख प्राप्त करता है। चार मास पर्यायवाला साधु चंद्र व सूर्यको छोडकर सब ग्रह, नक्षत्र और तारा-रूप ज्योतिष्क देवताओंसे अधिक सुख प्राप्त करता है। पांच मास-पर्यायवाला चंद्र व सूर्य ज्योतिष्क देवताओंसे अधिक सुख प्राप्त करता है। छ मास पर्यायवाला साधु सौधर्म व ईशानके देवताओंसे अधिक सुख प्राप्त करता है। सात मासवाला सनत्कुमार व माहेन्द्र

देवलोकोंके देवताओंसे अधिक सुख पाता है। नौ मासवाला महाशुक्र और सहस्रार देवलोकके देवताओंसे अधिक सुख पाता है। दस मास पर्यायवाला निर्ग्रन्थ मुनि आनत, प्राणत, आरण और अच्युत—चारों देवलोकके देवताओंसे अधिक सुख प्राप्त करता है। ग्यारह मास पर्यायवाला ग्रैवेयक देवताओंसे अधिक सुख प्राप्त करता है। उसके बाद शुक्ल और शुक्लाभिजात्य होकर सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, निर्वाण प्राप्त करते हैं और सब दुःखोंका अंत करते हैं। (अर्थात् अणिमादि ऐश्वर्य, केवली, भवोपग्रही कर्मसे मुक्त और सर्वथा कर्म रहित होकर सर्व दुःखोंका अंत करते हैं) ॥

मुनिचन्द्रसूरि विरचित धर्मबिन्दुकी टीकामें
यतिधर्म विषय विधि नामक छट्ठा
अध्याय समाप्त हुआ।

सातवां अध्याय ।

अब सातवां अध्याय प्रारंभ करते हैं, उसका यह प्रथम सूत्र है—

फलप्रधान आरम्भः, इति सल्लोकनीतितः ।
संक्षेपादुक्तमस्येदं, व्यासतः पुनरुच्यते ॥ ३७ ॥

मूलार्थ— सत्पुरुषोंकी नीति फलप्रधान कार्य आरंभ करनेकी है । अतः धर्मका यह फल है ऐसा संक्षेपमें पहले बताया है उसे विस्तारसे अब कहते हैं । ॥३७॥

विवेचन— **आरम्भः**— धर्म आदि संबंधमें प्रवृत्ति करना, **सल्लोकनीतितः**— शिष्टजनों द्वारा आचरण किया जाना, **व्यासतः**— विस्तारसे पुनः कहना ।

शिष्टजनोंका यह आचार है कि वे धर्मादिक ऐसी प्रवृत्ति करते है जिसमें फल प्रधान है । इस कारण ग्रन्थकारने 'धर्मका यह फल है, इस प्रकार संक्षेपमें ग्रन्थके शुरुमें 'धनदो धनार्थिनां प्रोक्तः' श्लोक द्वारा कहा है उसे (धर्मके फलको) अब विस्तारसे कहते हैं। यदि अब धर्मका फल विस्तारसे कहते हो तो पहले संक्षेपसे क्यो कहा ? कहते हैं—

प्रवृत्त्यङ्गमदः श्रेष्ठं, सत्त्वानां प्रायशश्च यत्।
आदौ सर्वत्र तद् युक्तमभिधातुमिदं पुनः ॥३८॥

मूलार्थ-सब कार्योंमें प्राणियोंकी प्रवृत्ति होनेका कारण प्रायः उसका फल है अतः उसे कहना श्रेष्ठ है अतः प्रारंभमें संक्षेपसे और अब विस्तारसे कहना युक्त है ॥३८॥

विवेचन-प्रवृत्त्यङ्ग-प्रवृत्तिका कारण, अदः-फल, सत्त्वानां-फलकी इच्छावाले प्राणी विशेषोके लिये, प्रायशः-अक्सर करके, आदौ-पहले ही, सर्वत्र-सब कामोंमें, तद्युक्तं-अतः उचित है, अभिधातुं-कहनेको।

फलकी इच्छावाले प्राणियोंको प्रवृत्ति करनेके लिये मुख्य कारण फल है अतः धर्ममें रुचि व प्रवृत्ति करानेके लिये पहले धर्मका फल कहा। यदि विस्तारसे धर्मका फल पहले कहा होता तो शास्त्रके सिद्धांत बहुत देर बाद कहने पडते, उससे कहनेमें नीरसता आती, अतः शास्त्र सुननेमें अनादर होनेका प्रसंग आता। इस कारण पहले संक्षेपमें कहा और अब विस्तारसे फलको कहते हैं।

यथा-

विशिष्टं देवसौख्यं, यच्छिवसौख्यं च यत्परम्
धर्मकल्पद्रुमस्येदं, फलमाहुर्मनीषिणः ॥३९॥

मूलार्थ-देव संबंधी महान् सुख तथा मोक्षरूपी उत्कृष्ट सुख धर्मरूपी कल्पवृक्षके फल हैं ऐसा बहुत बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं ॥३९॥

विवेचन-जिस प्रकार कल्पवृक्ष फल देता है उसी भांति भाव धर्मरूप यह कल्पवृक्ष भी फल देता है। एक फल उत्कृष्ट स्वर्ग सुख और दूसरा उत्तमोत्तम मोक्ष सुख है। ऐसा सुधर्मस्वामी आदि महान् मुनिराज कहते हैं।

इत्युक्तो धर्मः, सांप्रतमस्य फलमनु-
वर्णयिष्यामः ॥१॥ (४४४)

मूलार्थ-इस प्रकार गृहस्थ धर्म व यतिधर्म कहा अब उसके फलका वर्णन करते हैं ॥१॥

द्विविधं फलम्-अनन्तर-परम्परभेदादिति ॥२॥(४४५)

मूलार्थ-अनन्तर व परंपरा भेदसे फल दो प्रकारका है।

विवेचन-धर्मका फल दो प्रकारका है—एक अनन्तर-कार्यके साथ ही मिलनेवाला और क्रमशः मिलनेवाला अंतिम फल-परंपरा फल-अर्थात् समीपका व दूरका-ऐसे दो फल हैं।

तत्रानन्तरफलमुपप्लवह्रास इति ॥३॥ (४४६)

मूलार्थ-उसका अनन्तर फल तो रागादि उपद्रवका नाश है ॥३॥

विवेचन-तत्र-उन दोनों फलोमें, उपप्लवह्रास-रागादि दोषके उदय होनेके उपद्रवका सब प्रकारसे नाश।

धर्मके दो फल हैं उसमेंसे पहले अनन्तर फल बताते हैं। अनन्तर फलमें तुरंतका फल राग आदि दोषोंका सर्वथा नाश हो जाना है।

तथा-भावैश्वर्यवृद्धिरिति ॥४॥ (४४७)

मूलार्थ-और भाव ऐश्वर्यकी वृद्धि होना ॥४॥

विवेचन-भावैश्वर्य-उदारता, परोपकार, पापकर्मकी निंदा या तिरस्कार आदि गुण।

भावरूप समृद्धि, उदारता, परोपकार आदि सद्गुणोंकी प्राप्ति तथा वृद्धि होना।

तथा-जनप्रियत्वमिति ॥५॥ (४४८)

मूलार्थ-और लोकप्रिय होना ॥५॥

विवेचन-जो व्यक्ति वस्तुतः धार्मिक है, सदाचारी है तो सब लोग उस पर प्रेम रखते हैं। वह सब लोगोंके चित्तको आनंद ऊपजानेवाला लोकप्रिय पुरुष हो जाता है।

ये सब अनन्तर (समीपके) फल बताये अब परंपरा फल कहते हैं—

परम्परफलं तु सुगतिजन्मोत्तमस्थान-
परम्परानिर्वाणावाप्तिरिति ॥६॥ (४४९)

मूलार्थ-अच्छी गतिमें जन्म, उत्तम स्थानकी प्राप्ति तथा परंपरासे मोक्षकी प्राप्ति परंपरा फल है ॥६॥

विवेचन-धर्मका परंपरा फल तो देवगति व मनुष्यगतिमें जन्म लेना है और ऐसे उत्तम स्थानकी परंपरासे निर्वाण प्राप्ति है। स्वयं शास्त्रकार इस सूत्रका विवेचन आगे करते हैं—

सुगतिर्विशिष्टदेवस्थानमिति ॥७॥ (४५०)

मूलार्थ-उच्च देवलोकमें जन्म होनेको सुगति कहा है।

विवेचन-सौधर्म आदि देवलोकमें जन्म होनेको सुगति कहते हैं।

तत्रोत्तमा रूपसंपत्, सत्स्थितिप्रभावसुखद्युति-लेश्यायोगः, विशुद्धेन्द्रियावधित्वम्, प्रकृष्टानि भोगसाधनानि, दिव्यो विमाननिवहः, मनोहराण्युद्यानानि, रम्या जलाशयाः, कान्ता अप्सरसः, अतिनिपुणाः किङ्कराः, प्रगल्भो नाट्यविधिः, चतुरोदारा भोगाः, सदा चित्ताह्लादः, अनेकसुखहेतुत्वम्, कुशलानुबन्धः, महाकल्याणपूजाकरणम्, तीर्थङ्करसेवा, सद्धर्मश्रुतौ रतिः, सदा सुखित्वमिति ॥८॥ (४९१)

मूलार्थ-उस देवलोकमें उत्तम रूप संपत्ति, सुंदर स्थिति, प्रभाव, सुख, कांति व लेश्याकी प्राप्ति, निर्मल इन्द्रिय, और अवधिज्ञान, उच्च भोगके साधन, दिव्य विमानोंका समूह, मनोहर उद्यान, रम्य जलाशय, सुंदर अप्सराएं, अतिचतुर सेवक, अतिरमणीय नाटकविधि, चतुर उदार भोग, सदा चित्तमें आनन्द, अनेकोंके सुखोंका कारण, सुंदर परिणामवाले कार्योंकी परंपरा, महाकल्याणकोंमें पूजा करना, तीर्थंकरकी

सेवा, सद्धर्म सुननेमें हर्ष और निरंतर सुख—इन सबकी प्राप्ति होना धर्मके परंपराफल हैं ॥८॥

विवेचन-तत्र— देवलोकमें, रूपसंपत्— शरीरका संस्थान या बंधारण, सत्— सुंदर, स्थिति— पल्योपम व सागरोपमकी आयुष्यकी स्थिति, प्रभावः— निग्रह व अनुग्रह करनेकी शक्ति, सुखम्— चित्तकी समाधि या शांति, द्युति— शरीरके आभूषणादिकी कांति व चमक, लेश्या— तेजोलेश्या आदि, विशुद्ध इन्द्रियाणि— अपने अपने विषयका यथार्थ ज्ञान रखनेवाली निर्मल इन्द्रियें, अवधि — उनको अवधिज्ञानका होना, प्रकृष्टानि भोगसाधनानि— उत्कृष्ट भोगके साधन व सामग्रीयें, वे इस प्रकार बताते हैं— दिव्यः— अपनी कांति व तेज चमकसे अन्य तेजस्वी चक्रोंको हरा देनेवाला, विमाननिवहः— विमानोंका समूह, मनोहराणि उद्यानानि— मनको प्रमोद देनेवाले अशोक, चंपा, पुन्नाग, नागकेशर आदि पुष्प व लताओंसे भरे हुए उद्यान, रम्याः जलाशयाः— खेल व क्रीडा करनेके योग्य बावडी, तालाब व सरोवर आदि जलाशय (जलके स्थान), कान्ताः अप्सरसः— अतिशय कांति व रूपवाली अप्सरा व देवीयें, अतिनिपुणाः किङ्करा — शुद्ध विनय विधिको जाननेवाले चतुर सेवक या नोकरगण, प्रगल्भः नाट्यविधिः— तीर्थंकर आदि महान आत्माओंके चरित्रसे युक्त अभिनयवाले अनुपम व अति सुंदर नाटक, चतुरोदाराः भोगाः— मन व इंद्रियोंको तुरंत आकर्षित करनेमें कुशल व उत्तम शब्द तथा श्रवण आदि इंद्रियोंके विषय, सदा चित्ताह्लादः— निरंतर मनकी प्रसन्नता, अनेकेशां— अपनेसे भिन्न अनेक देव आदिको

विविध व उनके योग्य आचार सहित चतुराईके गुण सहित दूसरोंको, **सुखहेतुत्वम्**– संतोष देनेके निमित्त कारण, **कुशलानुबन्ध** – जिसका परिणाम निरंतर सुंदर व अच्छा आवे ऐसे कार्य करनेमें तत्पर, **महाकल्याणेषु पूजायाः करणं**– बडे कल्याणक याने श्री-तीर्थंकर देवके जन्म, महाव्रत अंगीकार करने आदिके समय उनका स्नान, पुष्प चढाना, धूप करना आदि प्रकारसे उनकी पूजा करना, **तीर्थंकराणां सेवा**– जिसने अपने प्रभाव द्वारा तीनो जगत्के सब जीवोंके मनको वश कर लिया है, और जिसने अमृतकी वर्षाके समान अपनी देशनासे भव्य प्राणियोंके मनके तापका हरण कर लिया है ऐसे पुरुषरत्न तीर्थंकरोंकी वंदना, नमस्कार, उपासना व पूजा द्वारा आराधना करना, **सतः धर्मस्य श्रुतौ रतिः**– पारमार्थिक श्रुत चारित्र लक्षणवाले धर्मको सुननेमें प्रेम रखनेवाले–स्वर्गमें उत्पन्न तुंबुरु आदि गन्धर्वों द्वारा प्रारंभ किये हुए पंचम स्वरके गीतको सुननेकी प्रीतिसे अधिक संतोष उत्पन्न करनेवाले रागवाले, **सदा सुखित्वम्**– हमेशां सब समयोंमें बाहरी सुखोसे जैसे शयन, आसन, वस्त्र, अलंकार आदिसे उत्पन्न शरीर सुखसे युक्त और मनको आनंद देनेवाले संयोगोसे युक्त वे स्वर्गीय सुख भोगते है–ये सब देव या सुगतिमें प्राप्त होते हैं।

देवलोकमें धर्मके प्रभावसे उत्पन्न होनेसे उपरोक्त सब विविध सुख भोगकी सामग्रीये प्राप्त होती हैं। ये सब धर्मके प्रभावसे प्राप्त होती हैं।

तथा–तच्च्युतावपि विशिष्टे देशे विशिष्ट एव काले स्फीते महाकुले निष्कलङ्केऽन्वयेन उदग्रे सदा-

चारेण आख्यायिकापुरुषयुक्ते अनेकमनो-
रथापूरकमत्यन्तनिरवद्यं जन्मेति
॥९॥ (४५२)

मूलार्थ-और देवलोकसे च्यवन होनेके बाद भी अच्छे देशमें, अच्छे कालमें, प्रसिद्ध महाकुलमें, वंशमें कलंकरहित, सदाचारसे बडा, और जिसके बारेमें कथा-वार्ता लिखी जावे ऐसे पुरुषयुक्त महाकुलमें, अनेक मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला ऐसा-अत्यन्त दोष रहित जन्म होता है ॥९॥

विवेचन- तच्च्युतावपि- देवलोकसे नीचे उतरने पर, विशिष्ट देशे- मगध आदिमें, विशिष्ट एव काले- सुखमदुखम आदि, निष्कलङ्क- असदाचार रूपी कलंक मलसे रहित, अन्वयेन- पिता, दादा आदि पुरुष परंपरासे, उदग्रे- उत्तम, सदाचारेण-देव, गुरु, स्वजन आदिकी उचित सेवारूप सदाचार, आख्यायिका-पुरुषयुक्ते- जिन पुरुषोंने उस प्रकारके असाधारण गुणोंके आचरणसे ऐसे पराक्रम किये हो जिनके नाम चरित्रोंमें आये हो ऐसे पुरुषों सहित, अनेकमनोरथापूरकं- स्वजन, परजन, परिवार आदिकी मनोकामनाकी पूर्ति करनेवाला, अत्यन्तनिरवद्यं--शुभ लग्न व शुभ ग्रह आदिमें विशिष्ट गुण सहित और एकात सब दोषोसे रहित समयमें, जन्म- उनका जन्म होता है।

जब वह धर्मिष्ठ पुरुष देवलोकमें अपना आयु पूर्ण कर लेता है तो वहांसे च्यव कर इस संसारमें जन्म लेता है, तब वह उत्तम देशमें, शुभ कालमें, निष्कलङ्क ऐसे उत्तम व प्रसिद्ध महाकुलमें जन्म

लेता है। उसके जन्मसे सबके मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं तथा उत्तम लग्न व ग्रहमें तथा सब दोष रहित उत्तम समयमें उसका जन्म होता है।

सुन्दरं रूपं आलयो लक्षणानां रहितमामयेन युक्तं प्रज्ञया संगतकलाकलापेन ॥ १० ॥ (४५३)

मूलार्थ- सुन्दर रूप व लक्षणों सहित, रोग रहित, बुद्धि-युक्त और कलाकलाप सहित (जन्म होता है)॥

विवेचन- **सुन्दरं रूपम्**- सुंदर अच्छे संस्थान (संहनन) तथा बंधारणवाला रूप सहित शरीर, **आलयो लक्षणानां**- चक्र, वज्र, स्वस्तिक, मत्स्य, कलश, कमल आदिके शुभ लक्षण उसके हाथ व पैरों पर दीखते हों, **रहितमामयेन**- ज्वर, अतिसार, भगंदर आदि रोगोंसे दूर (रहित), **युक्तं प्रज्ञया**-वस्तुओंके यथार्थ ज्ञानको ग्रहण करनेवाली वस्तुके बोधको जाननेवाली शक्ति (बुद्धि) सहित, **संगतं कलाकलापेन**- लिपि, शिक्षा आदिसे लेकर पक्षीकी बोली जानने तककी सब कलाओंके समुदाय सहित।

तथा जब वह ऐसा धर्मिष्ठ पुरुष देवलोकसे इस मनुष्य भवमें जन्म लेता है तब उसको सुंदर रूप मिलता है, कई लक्षणोंसे युक्त होता है वह रोग रहित, बुद्धि सहित और कलाओंका जानकार होता है।

तथा- गुणपक्षपातः, असदाचारभीरुता, कल्याण-मित्रयोगः, सत्कथाश्रवणं, मार्गानुगो बोधः, सर्वो-

चितप्राप्तिः, हिताय सत्त्वसंघातस्य, परितोष-
कारी गुरूणां, संवर्द्धनो गुणान्तरस्य,
निदर्शनं जनानां, अत्युदार आशयः,
असाधारणविषयाः, रहिताः संक्ले-
शेन, अपरोपतापिन, अमङ्गुला-
वसानाः ॥ ११ ॥ (४५९)

मूलार्थ- और मनुष्य जन्ममें उसे गुणके पक्षपात, असदाचारसे डर, पवित्र बुद्धि देनेवाले मित्रकी प्राप्ति, अच्छी कथाओंका श्रवण, मार्गको अनुकरण करनेका बोध, सब जगह (धर्म, अर्थ व काममें) उचित वस्तुकी प्राप्ति होती है। वह उचित वस्तुकी प्राप्ति प्राणी मात्रके हितके लिये, गुरुजनोंको संतोष देनेके लिये, दूसरे गुणोंको बढानेवाली और अन्य लोगोंके लिये दृष्टांत लायक होती है। वह बहुत उदार आशयवाला होता है और उसे असाधारण विषयोंकी प्राप्ति होती है, जो क्लेशरहित, दूसरोंको कष्ट न देनेवाले और परिणामसे सुंदर होते हैं।

विवेचन- गुणाः- शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरण किये जानेवाले गुण- (नीचे श्लोक २१२ है) पक्षपात- वे गुण अपनेमें आवे ऐसा गुणानुराग, उससे ही पैदा होनेवाली, असदाचारभीरुता- चोरी, परदारगमन आदि अनाचारसे रोग, विष तथा अग्निकी तरह डरना, कल्याणमित्रैः- शुद्ध बुद्धि देनेवाला पुरुष जो धर्मके प्रति

ले जावे उनसे, **योगः**– संबंध, **सत्कथाश्रवणं**– संत जन, सदाचारी गृहस्थ व यतियोंकी कथाओ व चरित्रोंको सुनना, **मार्गानुगो बोधः**– मुक्ति पथको ले जानेवाले रास्तेको समझना, सर्व वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना। **सर्वोचितप्राप्तिः**– धर्म, अर्थ, काम आदि सब वस्तुओमें उचित व योग्य वस्तुकी प्राप्ति– इसके चार विशेषण हैं– यह इस तरह चार प्रकारकी है, **हिताय सत्त्वसंघातस्य**– प्राणी मात्रके हित व कल्याणको करनेवाली, **परितोषकारी गुरूणां**– माता, पिता आदि लोगोंको संतोष व प्रमोद देनेवाली, **संवर्द्धनी गुणान्तरस्य**– अपने व दूसरोंके अन्य गुणोंको बढानेवाली, **निदर्शनं जनानां**– इस प्रकारके सुंदर आचरणमें शिष्ट लोगोके लिये दृष्टात-रूप, **अत्युदार**– तीव्र उदारतावाला, **आशयः**– मनका परिणाम, **असाधारणा विषयाः**– सामान्य लोगोंसे भिन्न– शालिभद्र आदिकी तरह शब्द आदि विषय, **रहिता संक्लेशेन**– अत्यन्त आसक्ति रहित, **अपरोपतापिन**– दूसरेको कष्ट न देनेवाला, **अमङ्गुलावसाना**– पथ्य वस्तुके खानेकी तरह सुंदर परिणामवाले असाधारण विषयोकी प्राप्ति।

जब धर्मी जीव देवगतिमेंसे च्युत होकर मनुष्य जन्ममे आवे तब उत्तम कुल, नीरोग शरीर आदि उपरोक्त वस्तुए मिलती हैं साथ ही वह स्वयं गुणानुरागी होता है। कैसे गुणो पर उसे पक्षपात होता है व कैसे गुणों पर उसे अनुराग होता है वह कहते हैं—

'असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः,
प्रिया वृत्तिर्न्याय्या मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्।

विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥२१२॥"

—दुर्जनोकी प्रार्थना न करना, थोडे धनवाले मित्र या स्वजनसे याचना नहीं करना, न्यायसे सुंदर निर्वाह करना, प्राणनाश हो तब भी मलिन काम नहीं करना, विपत्तिके समय भी उच्च भाव स्थिर रखना, और महान् पुरुषोंके मार्गका अनुसरण—इस प्रकार तलवारकी धाराके समान व्रत सज्जनोंके स्वभावमें ही हैं।

ऐसे गुणोका पक्षपात, चोरी, मदिराभक्षण आदिसे दूर धर्मिष्ठ व सदाचारी मित्र, सुंदर चारित्रका सुनना या पढना, मोक्ष मार्ग पर अनुसरण, सर्व उचित वस्तुओंका संयोग जो दूसरोंके हित, बडोंके संतोष, गुणोंको बढानेवाले तथा अन्योंको दृष्टांतरूप हो, साथ ही उदार आशय, और असाधारण विषयोंकी प्राप्ति जो आसक्ति रहित, दूसरोंको कष्ट न देनेवाली तथा पथ्य खानेके समान सुंदर परिणामवाले होते हैं—इन सब वस्तुओंकी प्राप्ति उस धर्मिष्ठ जीवको प्राप्त होती है।

तथा—काले धर्मप्रतिपत्तिरिति ॥१२॥ (४५५)

मूलार्थ—और योग्य समय पर धर्मको अंगीकार करे ॥१२॥

विवेचन—काले—विषयसे विमुखता होनेके समयका लाभ ऊठाकर, **धर्मप्रतिपत्तिः**—सब सावद्य व्यापारका त्याग करनेरूप धर्मका अंगीकार करना।

वह धर्मिष्ठ पुरुष इस जीवनमें उपरोक्त विषयसुख प्राप्त करता

है और समय आने पर विषयकी असारताका अनुभव होनेसे विरक्ति होकर सब सावद्य व्यापारके त्यागरूप साधुधर्मको अंगीकार करता है।

तत्र च-गुरुसहायसंपदिति ॥१३॥ (४५६)

मूलार्थ-उसमें भी गुरुकी सहायतारूप संपत्ति मिलती है।

विवेचन-दीक्षा अंगीकार करनेके समय योग्य गुरु मिलता है उससे दीक्षाके परिणाम वृद्धि पाते हैं और गुरुकी सहायतासे दीक्षामार्गमें वह आगे बढता है। इस प्रकार पुण्यवान जीव सर्वत्र सुखी होता है। सर्व दोषरहित गुरुगच्छकी संपत्ति मिलती है।

ततश्च साधुसंयमानुष्ठानमिति ॥१४॥ (४५७)

मूलार्थ-उससे अच्छी तरह संयमका पालन होता है ॥१४॥

विवेचन-साधु- सब अतिचार छोडनेसे शुद्ध, **संयमस्य**-प्राणातिपात आदि पापस्थान विरमणरूपका-पंच महाव्रतधारी, **अनुष्ठानं**-संयमका पालन।

अतिचार न लगे वैसा शुद्ध संयमका वह पालन करता है। पांचों महाव्रतका पालन करता है। और शुद्ध संयमका पालन करता है।

ततोऽपि परिशुद्धाराधनेति ॥१५॥ (४५८)

मूलार्थ-उसके बाद परिशुद्ध आराधना करता है ॥१५॥

विवेचन-परिशुद्धा-निर्मल-मल रहित, **आराधना**-जीवनके अंत तक संलेखना करना।

इस प्रकार शुद्ध और अतिचार रहित संयम पालनेके बाद

मृत्यु समय समीप जानकर वह यति संलेखना करता है, उसे आराधना कहते हैं।

तत्र च-विधिवच्छरीरत्याग इति ॥१६॥ (४५९)

मूलार्थ-तब विधिवत् शरीरका त्याग करता है॥१६॥

विवेचन-शास्त्रीय विधिके अनुसार उसे प्रधान समझकर शरीरका त्याग उसी प्रकार करता है जिस प्रकार अनशन आदि क्रियासे संलेखना करके शास्त्रविधिसे अपने शरीरका त्याग करता है।

ततो विशिष्टतरं देवस्थानमिति ॥१७।(४६०)

मूलार्थ-फिर अधिक उत्तम देवस्थानकी प्राप्ति होती है ॥१७॥

विवेचन-विशिष्टतरं-पहले प्राप्त हुए देवस्थानकी अपेक्षा अधिक सुंदर, स्थान-विमान वास।

पहले जो उसे देवताका स्थान मिला हो उससे अधिक उत्तम प्रकारका देवस्थान प्राप्त करता है और वहां वह विमानमें वास करता है।

ततः सर्वमेव शुभतरं तत्रेति ॥१८॥ (४६१)

मूलार्थ-और वहां अतिशय शुभ सब वस्तुएं मिलती हैं।

विवेचन-पहले जिस देवस्थितिका वर्णन किया है वहां जैसे रूप संपत्ति आदि वस्तुए मिली थी उससे इस समय अधिक उत्तम प्रकारकी सब वस्तुएं प्राप्त करता है।

परं गतिशरीरादिहीनमिति ॥१९॥ (४६२)

मूलार्थ-परंतु गति और शरीर आदि पूर्वकी अपेक्षा हीन होती है ॥१९॥

विवेचन-गति-देशांतर जानेकी गति, शरीरं-देह, परिवार तथा प्रवीचार आदि समझना-उन सबकी कमी या हीनता-उत्तरोत्तर देवस्थानमें पहले पहलेकी अपेक्षा गति, शरीर आदि शास्त्रमें कम कम बताये हैं।

जैसे जैसे ऊपरके देवलोक व विमानमें जाते हैं गति कम होती है तथा शरीर, परिवार तथा प्रवीचार आदि वस्तुएं छोटी, कम व हीन होती है।

तथा-रहितमौत्सुक्यदुःखेनेति ॥२०॥ (४६३)

मूलार्थ-और उत्सुकता दुःखसे रहित होता है ॥२०॥

विवेचन-रहितं-मन, वचन व कायाकी त्वरारूप कष्टसे रहित।

जो लोग देवलोकमें जन्म लेते है उन्हें उत्सुकता नहीं होती। मन, वचन व कायाकी उतावल या तेजीसे सामान्यतया मनुष्यको जो कष्ट होता है वे उससे रहित होते है या तो अपने कार्यके परिणामकी उत्सुकता भी नहीं होती।

अतिविशिष्टाह्लादादिमदिति ॥२१॥ (४६४)

मूलार्थ-और वह जन्म अतिशय आह्लादसे युक्त होता है ॥२१॥

विवेचन--अतिविशिष्ट-बहुत उत्कृष्ट, आह्लादादयः-आनंद कुशलानुबन्ध और महाकल्याणके समय पूजा करना आदि सुकृत युक्त।

और जिस देवलोकमे उत्पन्न होता है वहां उसे उच्च प्रकारका आह्लाद व आनंद होता है, वहां कुशल कार्यमें प्रवृत्ति होती है और तीर्थंकरकी पूजा आदिमें निरंतर तत्पर रहते है ।

ततः तच्च्युतावपि विशिष्टदेश इत्यादि समानं पूर्वेणेति ॥२२॥ (४६५)

मूलार्थ--वहांसे च्यवन होने पर अच्छे देश आदिमें जन्म (पहलेकी तरह) होता है ।।२२॥

विवेचन--पूर्वेण--इस ग्रन्थमें पहले कहे अनुसार 'विशिष्टे देशे' आदिमें जन्म होता हैं ।

विशिष्टतरं तु सर्वमिति ॥२३॥ (४६६)

मूलार्थ-पूर्वोक्तसे इस जन्ममें सब विशिष्ट प्रकारका होता है ॥२३॥

विवेचन--पहले जो सुंदर रूप व निर्दोष जन्म कहा था जो (४५२ व ४५३) में कहा है, उससे ज्यादा सुंदर रूप और निर्दोष जन्म समझना यह सब अधिक अच्छा मिलता है । विशेष उत्तम प्रकारके ये सब किससे मिलते हैं ? इसका उत्तर देते है—

क्लिष्टकर्मविगमादिति ॥२४॥ (४६७)

मूलार्थ-अशुभ कर्मका नाश होनेसे ॥२४॥

विवेचन-क्लिष्ट कर्म-दुर्गति, दुर्भाग्य और बुरा कुल ऐसे वेदनीय व अशुभ कर्म ।

ऐसे सब अशुभ कर्मके नाश होनेसे सद्गति, सौभाग्य व उत्तम कुल आदिकी प्राप्ति होती है। ऐसा वेदनीय कर्मके नाशसे होता है।

शुभतरोदयादिति ॥२५॥ (४६८)

मूलार्थ—अधिक शुभ कर्मके उदयसे ॥२५॥

विवेचन-शुभतराणाम्-अति प्रशस्त कर्मके, उदयात्-परिपाकसे।

अधिक शुभ कर्मोंके उदयसे अशुभ कर्म स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। अतिशय प्रशस्त कर्मके परिपाकसे बुरे कर्मोंका नाश हो जाता है।

प्रशस्त कर्मका उदय किस प्रकार होता है? उत्तर देते हैं—

जीववीर्योल्लासादिति ॥ २६ ॥ (४६९)

मूलार्थ— जीवके वीर्यकी अधिकतासे (शुभ कर्मोदय होता है ॥२६॥

विवेचन— जीववीर्यस्य—शुद्ध सामर्थ्यरूप जीवके वीर्यकी, उल्लासात्— अधिकतासे।

जीवकी शुद्ध शक्ति अतिशय बढनेसे शुभ कर्मका उदय होता है। आत्मा अनंत वीर्यवाला है पर वीर्य दब गया है। आत्मशक्ति शुभ मार्गमें लगानेसे शुभ कर्मोदय होता है।

परिणतिवृद्धेरिति ॥ २७ ॥ (४७०)

मूलार्थ— जीवकी परिणतिकी वृद्धिसे ॥२७॥

विवेचन— परिणतेः— उसके शुभ अध्यवसायकी, वृद्धेः— बढनेसे, उत्कर्षसे।

जीवके शुभ अध्यवसायकी बढतीसे जीवके वीर्यका उल्लास होता है। जहां आत्मामें शुभ विचारोकी वृद्धि हुई, वैसे ही विचारोंको कार्यरूपमें लानेकी वृत्ति होती है।

तत् तथास्वभावत्वादिति ॥२८॥ (४७१)

मूलार्थ-जीवको उस प्रकारका स्वभाव होनेसे ॥२८॥

विवेचन--तस्य जीवका, तथास्वभावत्वात्- परिणतिके वृद्धि स्वरूप।

जीवका शुभ अध्यवसाय होना जीवका स्वभाव है। आत्मा अनंत ज्ञानवाला है और उससे उच्च ज्ञान स्वरूप होनेसे आत्माका शुभ अध्यवसाय होना स्वभाविक है। जब भव्यता परिपक्व होती है तब जीवकी शुभ परिणति अतिशय वृद्धि प्राप्त करती है।

किञ्च-प्रभूतोदाराण्यपि तस्य भोगसाधनानि; अयत्नोपनतत्वात् प्रासङ्गिकत्वादभिषङ्गा-भावात् कुत्सिताप्रवृत्तेः शुभानुबन्धि-त्वादुदारासुखसाधनान्येव बन्धहेतु-त्वाभावेनेति ॥२९॥ (४७२)

मूलार्थ-और अतिशय उदार ऐसे भोगके साधन भी बन्धके कारणका अभाव होनेसे उदारता सुखका साधन होता है क्योंकि वे शुभ कर्मके अनुबन्धसे उत्पन्न होते हैं। उससे कुत्सित कर्ममें प्रवृत्ति नहीं होती और उससे उसमें असक्तिका

अभाव होता है। उससे वह प्रसंगोपात्त मिलता है और उसके लिये प्रयत्न नहीं करना पडता ॥२९॥

विवेचन–प्रभूतानि–प्रचुर, उदाराणि–बहुत उदार,–बहुलतासे, तस्य- पूर्वोक्त जीवके, भोगसाधनानि–नगर, परिवार, अंतःपुर आदि 'उदारसुखसाधनान्येव' जो बादमें आता है उससे संबंध है। अयत्नोपनतत्वात्–विना यत्नके बहुत तीव्र पुण्यके उदयसे वह अपने आप खींच कर आता है, वह विना पुरुष प्रयत्नके प्राप्त होता है। प्रासङ्गिकत्वात्–प्रसंगवश जैसे खेती करनेसे पराल उत्पन्न होता है उसी तरह भोग साधन अपने आप आते हैं। अभिष्वङ्गाभावात्–भरत आदिकी तरह अतिगाढ आसक्तिसे रहित, वह भी, कुत्सिताप्रवृत्ते–अनीतिमार्ग छोडकर नीतिमार्गमें प्रवृत्ति करते हैं, शुभानुबन्धित्वात् -मोक्ष प्राप्तिके निमित्तरूप आर्यदेश, दृढसहनन (शरीरकी बनावट) आदि कुशल व शुभ कार्यके अनुबन्धसे, उदारसुखसाधनान्येव -उदार व अतिशय सुखके साधन–शरीर व चित्तको आह्लाद देनेवाले पर इस लोक व परलोकमें दुःख न उपन्न करनेवाले, उनका तात्त्विकहेतु यह है—बन्धहेतुत्वाभावेन–बन्ध हेतुका अभाव होनेसे, कुगतिमें पडनेके निमित्तरूप जो अशुभ कर्मप्रकृतिके लक्षणवाले बन्धका हेतु, प्रकात भोग साधनोंके अभावसे –इनका तात्पर्य यह कि बहुत उदार भोग साधनोकी बंध हेतुताके अभावमे उदार सुखके साधन ही उस पुरुषको प्राप्त होते है। बंध हेतुका अभाव प्रयत्न विना मिलता है।

ऐसे धर्मिष्ठ पुरुषको अनेक सुखके साधन मिलते हैं। नगर,

परिवार आदि भोग साधन भी उसे सुखके साधन होते हैं, दुःखके कारणभूत नहीं। ये शुभ कर्मके उदयसे प्रयत्न विना खींचकर आते हैं। मोक्षका उद्यम करते हुए प्रसंगवश भोगके साधन ऐसे ही मिलते है जैसे गेहूंकी खेतीमे घास। राजा भरतकी तरह उसको आसक्ति नहीं होती। पुण्यानुबंधी पुण्यके उदयसे उसकी अशुभ मार्गमें प्रवृत्ति नहीं होती। इससे भोगके साधन उसे दुःखरूप न होकर सुखके कारणभूत ही होते हैं। कुगतिमें पडनेके कारणरूप अशुभ कर्मप्रकृतिरूप कर्मबंधका अभाव होनेसे भोगसाधन सुख साधन होते हैं क्योकि उसे पुण्यानुबंधी पुण्यका उदय है।

अशुभपरिणाम एव हि प्रधानं बन्धकारणम्, तदङ्गतया तु बाह्यमिति ॥३०॥ (४७३)

मूलार्थ–अशुभ परिणाम ही बंधका मुख्य कारण है उससे ही बाह्य (अंतःपुर आदि) कारण बंधके हेतु होते हैं ॥३०॥

विवेचन--प्रधान--मुख्य, **बन्धकारणं**–नारकादि फलवाले पापकर्मके बन्धनका निमित्त, **तदङ्गतया तु**–अशुभ परिणामके कारण ही, **बाह्यम्**--अंतःपुर आदि बंध कारण है।

अशुभ परिणाम ही पाप बन्धका मुख्य कारण है। पापकर्मका बन्धन मनके अशुभ परिणामसे विचार या परिणतिसे होता है और नगर, अंतःपुर आदि बाह्य भोगके साधन तो मात्र अशुभ परिणामके निमित्त मात्र बनते हैं अतः वे भी बंध कारण गिने गये है पर वस्तुतः अशुभ परिणाम ही बंधका कारण है।

तदभावे बाह्यादल्पबन्धभावादिति ॥३१॥ (४७४)

मूलार्थ-अशुभ परिणामका अभाव होने पर तो बाह्य (अशुभ कार्य)से अल्प बंध होता है ॥३१॥

विवेचन-तदभावे-अशुभ परिणामके अभावसे, **बाह्यात्**-जीवहिंसा आदि बाह्य अशुभ कार्योंसे, **अल्पबन्धभावात्**-तुच्छ बंधकी उत्पत्ति होती है।

यदि अशुभ परिणाम न हो और बाह्य कोई अशुभ कार्य जैसे जीवहिंसादि हो जाय तो उससे बहुत अल्प कर्मबन्ध होता है। भाव ही मुख्य है, कर्म गौण है।

वचनप्रामाण्यादिति ॥३२॥ (४७५)

मूलार्थ-आगमके वचन प्रमाणसे ॥३२॥

विवेचन-वचनस्य-आगमका, **प्रामाण्यात्**-प्रमाणभावसे।

तीर्थंकर प्ररूपित आगमके प्रमाणसे कहते हैं कि अशुभ परिणाम ही बंधका मुख्य कारण है। और अशुभ परिणाम बिना बाह्य अशुभ आचरणसे अल्प कर्मबन्ध होता है।

बाह्योपमर्देऽप्यसंज्ञिषु तथाश्रुतेरिति ॥३३॥ (४७६)

मूलार्थ-बाह्य हिंसा होने पर भी असंज्ञी जीवोंके लिये शास्त्रमें वैसा ही कहा है ॥३३॥

विवेचन-बाह्य-शरीर मात्रसे की हुई हिंसा, केवल शरीरसे बहुत जीवोंकी हिंसा करने पर भी, **असंज्ञिषु**-सम्मूर्छिम ऐसे महा-

मत्स्यादि द्वारा, तथा—अल्पबंध, श्रुतेः—'असंज्ञी जीव प्रथम नरक तक जाता है' ऐसे वचनोंसे सिद्धांतमें ऐसा कहा है।

केवल बाह्य हिंसा, शरीर मात्रसे की हुई असंख्य जीवोंकी हिंसा करने पर भी असंज्ञी जीवोंको पापकर्मका बंध अल्प होता है। जैसे महामत्स्यादि जो असंज्ञी है केवल पहली नरकमें ही जाते हैं। (असंज्ञी-बिना मनवाले प्राणी)।

शास्त्रमें कहा है कि—असंज्ञी मत्स्य आदिका शरीर एक हजार योजन तकका होता है वे स्वयंभूरमण महासमुद्रमें निरंतर डोलते हैं—घूमते हैं। वे पूर्वकोटि वर्षों तक जीवित रहते हैं और अनेक प्राणियोका संहार करते हैं तो भी पहली रत्नप्रभा पृथ्वी तक ही (नरकमें) उत्पन्न होते हैं। वह उत्कृष्टसे पल्योपमके असंख्येय भागके आयुष्यवाले और पहली नरकके चौथे प्रतरमें रहे हुए नारकी जीवोंके साथ जन्म प्राप्त करते हैं उससे आगे नहीं जाते। पर तंदुल नामक मत्स्य बाहरसे हिंसा न कर सकने पर भी निमित्त बिना बहुत तीव्र रौद्र ध्यान करनेवाले होनेसे अंतर्मुहूर्त आयुष्य पाल कर भी सातवीं नरकको प्राप्त होता है जहा तैंतीस सागरोपमकी आयु प्राप्त करता है अतः परिणाम ही प्रधान बंधका करण है ऐसा सिद्ध होता है। ऐसा होने पर भी दूसरी बात सिद्ध होती है—वह कहते हैं—

एवं परिणाम एव शुभो मोक्षकारण-मपीति ॥३४॥ (४७७)

मूलार्थ—ऐसे ही शुभ परिणाम मोक्षका कारण है ॥३४॥

विवेचन-**एवं**-जैसे अशुभ बंधनमें वैसे ही परिणामसे, **शुभः**-सम्यग्दर्शन आदि, **मोक्षकारणमपि**-मुक्तिका हेतु भी।

जैसे अशुभ परिणामसे पापबंध होता है वैसे ही मनके शुभ परिणामसे तथा शुभ अध्यवसायसे मोक्षकी भी प्राप्ति होती है। शुभ परिणामसे अशुभ कर्मबंध रुक जाते हैं और पापक्षय होकर मोक्ष प्राप्ति होती है। शुभ परिणाम बिना केवल क्रियासे मोक्ष नहीं मिलता।

तदभावे समग्रक्रियायोगेऽपि मोक्षा-
सिद्धेरिति ॥३५॥ (४७८)

मूलार्थ-शुभ परिणामके अभावमें संपूर्ण क्रियाका योग होने पर भी मोक्षसिद्धि नहीं होती ॥३५॥

विवेचन-**तदभावे**-शुभ परिणामके न होने पर, **समग्रक्रियायोगेऽपि**-श्रमणोचित संपूर्ण क्रिया व बाह्य अनुष्ठान करने पर भी, **मोक्षासिद्धेः**-निर्वाण प्राप्ति नहीं होती।

मुनिपनके उचित सब बाह्य अनुष्ठान साधु करे और चारित्रके सब बाह्य आचारका पालन करे तो भी आचार व अनुष्ठानमें शुभ भाव न हो तो मोक्ष नहीं मिल सकता। अतः सिद्ध होता है कि-शुभ परिणाम ही मोक्षका मुख्य कारण है। बाह्य क्रियाओंसे ऊंची स्थिति मिलती है पर शुभ परिणाम बिना मोक्ष नहीं मिलता।

सर्वजीवानामेवानन्तशो ग्रैवेयकोपपात-
श्रवणादिति ॥३६॥ (४७९)

मूलार्थ--सब जीवोंको भी अनंत बार ग्रैवेयकमें उत्पत्ति हुई है—ऐसा सुनते हैं ॥३६॥

विवेचन- सर्वजीवानामेव-व्यवहार राशिमें रहे हुए सब जीवोंकी, अनन्तशः—अनन्त बार, **ग्रैवेयकेषु**-ग्रैवेयक विमानमें, **उपपात**—उत्पत्ति, **श्रवणात्**—शास्त्रमे सुनते हैं।

शुभ परिणाम बिना बाह्य आचारसे सब जीव अनन्तवार ग्रैवेयक तक देवस्थिति प्राप्त करनेमें समर्थ हुए है पर शुभ परिणाम विना मोक्ष नहीं मिलता।

समग्रक्रियाऽभावे तदनवाप्तेरिति ॥३७॥ (४८०)

मूलार्थ—समस्त क्रियाके अभावमें नवमे ग्रैवेयककी प्राप्ति नहीं होता ॥३७॥

विवेचन--समग्रक्रियाऽभावे-श्रमणके उचित पूर्ण अनुष्ठानके न होने पर, **तदनवाप्तेः**-नवमें ग्रैवेयकमें उत्पत्ति नहीं होती।

परिपूर्ण साधुके आचार पालन विना नवमें ग्रैवेयककी प्राप्ति नहीं होती। अतः शुभ परिणाम विना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। कहते है कि—

"आणो हेणाणंता, मुक्का गेवेज्जगेसु य सरीरा।
न य तत्थाऽसंपुण्णाए साहुकिरियाइ उववाउ त्ति ॥२१३॥

—सामान्यतः सब जीवोंने ग्रैवेयकमें अनंत शरीर पाये है या अनंत बार उत्पन्न हुए हैं और इस ग्रैवेयकमें असंपूर्ण क्रियासे उत्पत्ति नहीं होती। अतः संपूर्ण साधु क्रिया होने पर भी सम्यग्दर्शन आदि

शुभ परिणाम न हो तो जीवको मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती अतः मोक्षका प्रधान कारण शुभ परिणाम ही है।

अब उपसंहार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

इत्यप्रमादसुखवृद्ध्या तत्काष्ठासिद्धौ निर्वाणावाप्तिरितीति ॥३८॥ (४८१)

मूलार्थ—इस प्रकार अप्रमाद सुखकी वृद्धिसे चारित्र धर्मकी बडी सिद्धि होने पर मोक्ष प्राप्ति होती है ॥३८॥

विवेचन—इति—इस प्रकार उक्त रीतिसे, **अप्रमादसुखवृद्ध्या**-अप्रमत्तता लक्षणकी वृद्धि होनेसे, प्रमादके मिटनेसे, अप्रमादकी वृद्धि होनेसे-**तत्काष्ठासिद्धौ**—चारित्र धर्मकी उत्कृष्ट सिद्धि होने पर शैलेशी अवस्थाकी प्राप्ति होनेसे, **निर्वाणस्य**—सब क्लेशके लेश मात्र भी न रहनेसे जीवका असली स्वरूपका मिलना ही निर्वाण है, **अवाप्ति**-मिलना।

मोक्ष प्राप्तिके लिये साधु अप्रमादी होवे। शुभ विचार निरंतर बढे पर अशुभ विचार उसमें न घुस सके और चारित्रपालनकी उच्चतर हद तक बढे तभी उसे निर्वाण मिल सकता है। वही आत्मस्वरूपको पा करके मोक्ष पाता है।

यत् किञ्चन शुभं लोके, स्थानं तत सर्वमेव हि।
अनुबन्धगुणोपेतं, धर्मादाप्नोति मानवः ॥४०॥

मूलार्थ—इस लोकमें जो कोई शुभ स्थान कहलाते हैं वे सब उत्तरोत्तर शुभ गुण सहित मनुष्य धर्मद्वारा प्राप्त करता है॥

विवेचन—यत् किञ्चन-सब कुछ, **शुभं**—सुंदर, **लोके**—तीनों

जगतमें, **स्थानं**-इन्द्र आदिकी अवस्था आदि शुभ स्थान, **अनुबन्ध-गुणोपेतं**-असली स्वर्णके घडेकी तरह उत्तरोत्तर शुभानुबन्ध सहित शुभ स्थान, **धर्मात्**-धर्मसे, **आप्नोति**-प्राप्त करता है, **मानवः**-मनुष्य, मनुष्य ही परिपूर्ण धर्मसाधन प्राप्त कर सकता है।

इस लोकमें जो उत्तमोत्तम स्थान हैं जैसे इंद्र आदिका, वे सब धर्मसे ही मनुष्यको मिलते हैं। उसमे भी उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि होती है। भावार्थ यह है कि अच्छी तरह सेवन करनेसे धर्मसे मनुष्य पुण्यानुबंधी पुण्य उपार्जन करता है और उससे शुभ मार्गमें उत्तरोत्तर बढता जाता है।

तथा-

धर्मश्चिन्तामणिः श्रेष्ठो, धर्मः कल्याणमुत्तमम्।
हित एकान्ततो धर्मो, धर्म एवामृतं परम् ॥४१॥

मूलार्थ-और धर्म श्रेष्ठ चिंतामणि रत्नके समान है, धर्म उत्तम कल्याणकारी है, धर्म एकान्त हितकारी है और धर्म ही परम अमृत है ॥४१॥

विवेचन-यहां वारवार धर्म शब्दको कहा है उसका कारण है कि धर्म अत्यंत आदरणीय है यह बतानेके लिये ही। अतः धर्मका आदर करे।

तथा-

चतुर्दशमहारत्नसद्भोगान्नृष्वनुत्तमम्।
चक्रवर्त्तिपदं प्रोक्तं, धर्महेलाविजृम्भितम् ॥४२॥

मूलार्थ–चौदह महारत्नोंके भोगसे मनुष्योंमें उत्तमोत्तम गिना जानेवाला चक्रवर्तीका पद भी धर्मकी लीलाका विलास मात्र है ॥४२॥

विवेचन–चौदह महारत्नोंके नाम–१ सेनापति, २ गृहपति, ३ पुरोहित, ४ हाथी, ५ घोडा, ६ वर्द्धकि (मिस्त्री), ७ स्त्री, ८ चक्र, ९ छत्र, १० चर्म (चामर), ११ मणि, १२ काकिणी, १३ खड्ग, १४ दंड–ये चौदह महारत्न हैं ॥ **सद्भोगात्**–सुंदर उपभोग, **नृषु**–मनुष्योंमें, **अनुत्तमम्**–सबमें प्रधान, मुख्य, अनुपम, **चक्रवर्तिपदम्**–चक्रधरकी पदवी, **प्रोक्तम्**–सिद्धांतमें कहा हुआ, प्रतिपादित किया हुआ, **धर्महेलाविजृम्भितम्**–धर्मकी लीलाके विलास समान।

इन चौदह महारत्नोका सुख चक्रवर्ती भोगता है। उसका सुख अनुपम गिना जाता है। ऐसा सुख भी धर्मके कारण लीला मात्र है, सहजमें ही प्राप्त होता है। अतः धर्मकी आराधना ही सार है।

मुनिचन्द्रसूरि विरचित धर्मबिन्दुकी
टीकाका धर्मफलविधि नामक
सातवां अध्याय समाप्त।

आठवां अध्याय।

अब आठवां अध्याय प्रारंभ करते हैं, उसका यह पहला सूत्र है—

किं चेह बहुनोक्तेन, तीर्थकृत्त्वं जगद्धितम्।
परिशुद्धादवाप्नोति, धर्माभ्यासान्नरोत्तमः ॥४३॥

मूलार्थ—अधिक कहनेसे क्या लाभ? उत्तम पुरुष अति-शुद्ध धर्मके अभ्याससे जगतके लिये हितकारी तीर्थंकर पदको प्राप्त करता है ॥४३॥

विवेचन—किं च— क्या अर्थ? **इह**— धर्मफलके बारेमें, **बहुनोक्तेन**— बहुत कहनेसे, **तीर्थकृत्त्वं**— तीर्थंकर पद, **जगद्धितं**— जगतके जन्तुओंके हितको करनेवाला, **परिशुद्धात्**— अतिनिर्मल व शुद्ध, **अवाप्नोति**— धर्माभ्याससे प्राप्त करता है, **नरोत्तमः**— स्वभावसे ही अन्य सामान्य पुरुषोंमे मुख्य।

धर्मके फलका बहुत वर्णन करनेसे क्या लाभ? मनुष्य जगत्के लिये हितकारी तीर्थंकर पद भी धर्मसे प्राप्त कर सकता है तो इंद्रादिकी विभूतिएं मिलना तो मामूली बात है। यह फल उत्तमोत्तम पुरुष ही प्राप्त कर सकता है। तीर्थंकर पद प्राप्त कर सकनेवालेके सामान्य गुण इस प्रकार हैं:—

वे परहितको ही उत्कृष्ट धर्म समझते हैं। अपने स्वार्थको गौण (या हलका) स्थान देते हैं। उचित क्रियामें प्रवृत्ति करते हैं। सर्वदा अदीन भाव बताते हैं। उनका प्रत्येक कार्यका प्रारंभ सफलतापूर्वक ही होता है या प्रत्येक आरंभ किये हुए कार्यमें सफलता ही मिलती है। पश्चात्ताप नहीं करते या पश्चात्ताप करनेका कोई अवसर ही नहीं आता। कृतज्ञताके स्वामी, विक्षोभ रहित चित्तवाले, देवगुरुका बहुमान करनेवाले तथा गंभीर आशयवाले होते हैं ये सामान्य गुण हैं।

यदि तीर्थंकरपद धर्मसे प्राप्त होता है तो वह धर्मका उत्कृष्ट फल है—ऐसा कैसे कहा? कहते हैं—

नातः परं जगत्यस्मिन्, विद्यते स्थानमुत्तमम्।
तीर्थकृत्त्वं यथा सम्यक्, स्व-परार्थप्रसाधकम् ॥४४॥

मूलार्थ—स्व और परके कल्याणको करनेवाला जितना उत्तम यह तीर्थंकर पद है वैसा उत्तम स्थान इस जगतमें दूसरा एक भी नहीं है ॥४४॥

विवेचन—न अतः— तीर्थंकर पदसे- नहीं, परम्—कोई दूसरा, **जगत्यस्मिन्**—इस चराचर स्वभावके जगत्में मिलना, **विद्यते**—होना, **स्थानं**— पद, **उत्तमं**— उत्कृष्ट, **सम्यक्**— ठीक प्रकारसे, **स्वपरार्थसाधकं**— अपने तथा दूसरेके हितको करनेवाला।

तीर्थंकर पद ही ऐसा है जिसमें अपना तथा दूसरेका हित उत्तमोत्तम रूपसे साधा जा सकता है। इस सारे जगत्में अन्य कोई

वस्तु स्थान या पद नहीं जिसमें इससे अधिक स्व-परका हित साधन हो सके। तीर्थंकरका अर्थ ही जगदुद्धारक होता है। संसार समुद्र तैरना ही तीर्थ हैं, तीर्थको करे वही तीर्थंकर। तीर्थंकर नामकर्म ही विश्वका उपकार करनेवाला है, जैसे-विश्वोपकारकीभूततीर्थकृत्कर्मनिर्मितिः।

पञ्चस्वपि महाकल्याणेषु त्रैलोक्यशङ्करम्।
तथैव स्वार्थसंसिद्ध्या, परं निर्वाणकारणम् ॥४५॥

मूलार्थ-तीर्थंकरपद पांचों महाकल्याणकोंके अवसर पर तीनों लोकोंका कल्याण करनेवाला है और स्वार्थसाधनमें मोक्ष प्राप्ति ही उत्कृष्ट कारण है ॥४५॥

विवेचन-पञ्चस्वपि- पांचों समयो पर, महाकल्याणेषु- तीर्थंकरके महाकल्याणकोंके अवसर पर, जैसे-गर्भाधान (या च्यवन) जन्म, दीक्षा आदि। केवलज्ञान प्राप्ति व निर्वाण चौथे व पांचवें कल्याणक हैं। त्रैलोक्यशङ्करम्- तीनों लोकोंको सुख करनेवाले, तथैव- तीनों लोकोको सुख देने पूर्वक, स्वार्थसंसिद्ध्या- क्षायिक सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रकी सिद्धिसे, परं-मुख्य, निर्वाणकारणं- मुक्तिका हेतु है।

प्रत्येक तीर्थंकरके पांच कल्याणक (उपरोक्त) होते है। इन पांचों कल्याणकोंके समय तीनों लोकोंमें सब जगत्के जीव मात्रको आनंद होता है। अतः यह परोपकार करनेवाला तीर्थंकरपद है। और क्षायिक सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रके लाभसे मोक्षकी प्राप्ति होती है जो स्वयं या आत्माका उत्कृष्ट अर्थसाधन है। इस प्रकार तीर्थंकर स्वार्थ व परार्थ साधक है।

इत्युक्तप्रायं धर्मफलम्, इदानीं तच्छेषमेव उदग्रमनुवर्णयिष्याम इति ॥१॥ (४८२)

मूलार्थ-इस प्रकार प्रायः धर्मफल कहा है अब बाकी रहा हुआ (धर्मफल) उत्कृष्ट फलका वर्णन करते हैं ॥१॥

विवेचन-धर्मका फल पिछले अध्यायमें वर्णन किया है। उसका जो बचा हुआ है और जो धर्मका उत्कृष्ट फल है उसका अब शास्त्रकार वर्णन करते है—

तच्च सुखपरम्परया प्रकृष्टभावशुद्धेः सामान्यं चरमजन्म तथा तीर्थकृत्त्वं चेति ॥२॥ (४८३)

मूलार्थ-सुखकी परंपरासे उत्कृष्ट भावकी शुद्धि होनेसे सामान्यतः आखिरी जन्म और तीर्थंकरपद ये धर्मके उत्कृष्ट फल हैं ॥२॥

विवेचन-परम्परया- उत्कृष्ट भावशुद्धि होने तक उत्तरोत्तर क्रमश बढते हुए सुखसे, **सामान्यं**- जो तीर्थंकर और दूसरे मोक्ष-गामी जीवोंके लिये जो तीर्थंकर नहीं है- समान है, **चरमजन्म**- अंतिम बारका जन्म, जिसके बाद देहधारण करना न पडे, **तीर्थ-कृत्त्वं**- तीर्थंकर।

धर्मका सामान्य फल पूर्व वर्णित देव तथा मनुष्योंके सुख हैं। उत्कृष्ट फल तो उत्तरोत्तर सुखवृद्धि तथा भावकी क्रमशः उत्तमता प्रगट होना है इससे अंततः उत्कृष्ट फल चरम देह है जिससे सीधे मुक्तिमें जाते है तथा दुबारा जन्म-मरणके कष्टसे तथा देह धारण

करनेसे छूटकारा हो जाता है। पर तीर्थंकरका उत्कृष्ट फल कुछको ही होता है। यद्यपि चरमदेह तो सब केवली होनेवाले भव्य जीवोंको मिलती है।

तत्राक्लिष्टमनुत्तरं विषयसौख्यं हीनभावविगमः, उदग्रतरा संपत्, प्रभूतोपकारकरणं, आशय-विशुद्धिः, धर्मप्रधानता, अवन्ध्यक्रिया-त्वमिति ॥३॥ (४८४)

मूलार्थ-उस चरम देहमें क्लेशरहित अनुपम विषय सुख मिलता है। हीन भावका नाश होता है। अत्यंत महान् संपत्ति प्राप्त होती है। बहुत उपकार किया जाता है अतः कारणकी शुद्धि या आशय-शुद्धि होती है। धर्म ही प्रधान विषय होता है। तथा सब क्रियायें सफल होती हैं ॥३॥

विवेचन-अक्लिष्टं-सुंदर परिणामवाले, क्लेश रहित, अनुत्तम-अन्य भोगोमे मुख्य सुख, विषयसौख्यं-शब्द आदि विषयोंका सुख, हीनभावविगमः-जाति, कुल, वैभव, उम्र, अवस्था आदि सबकी कमी या न्यूनतारूप जो हीनता होती है वह सब इसमें नहीं होती। अर्थात् इन सबकी या किसी एककी हीनता रहित, सब बातें अच्छी हीन नहीं), उदग्रतरा संपत्-पूर्वभवोंसे अत्यत उच्च संपत्ति, जैसे-द्विपद, चतुष्पद आदि संपत्तिकी प्राप्ति है। प्रभूतोप-कारकरणं-अपना व परायेका अतिशय भला व काम करनेका मौका मिलना, इससे ही, आशयविशुद्धिः-चित्तकी निर्मलता, निर्मल भाव,

धर्मप्रधानता–धर्म ही सार है, अवन्ध्यक्रिया–बहुत निपुण विवेक-द्वारा प्राप्त सब वस्तुओंका यथार्थ तत्त्व जाननेसे क्रियाकी–धर्म आदिके आराधनरूप क्रियाका हमेशा सफल होना, निष्फल न जाना।

उपरोक्त सात बातें चरम जन्ममें प्राणीको मिलती हैं। इस स्थान पर चरम देहवाले, जिसे उस भवमें 'केवल' व मुक्तिकी प्राप्ति होती है, उसको मिलनेवाली वस्तुएं तथा उसकी आंतरिक व बाह्य स्थितिका वर्णन किया है। क्लेशरहित विषयसुखकी प्राप्ति होती है। वह प्रत्येक प्रकारसे अच्छा, पूर्ण व हीनतारहित होता है अर्थात् जाति, कुल, वैभव, अवस्था आदि सब उत्तम होते हैं। वह तन, मन व धनसे सबका उपकार करता है। उसका स्वभाव परोपकार-मय हो जाता है। उसमें स्व-परका भेद नहीं होता। 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'।

ममत्व-भावनारहित प्रेममय स्वभाव निर्मल चित्तवाला होता है। धर्मभावना ही उसमें मुख्य होती है तथा उसकी सब क्रियायें सफल होती हैं। चरमदेही ये प्राप्त करता है।

तथा-विशुद्ध्यमानाप्रतिपातिचरणावाप्तिः, तत्सात्म्यभावः, भव्यप्रमोदहेतुता, ध्यानसुखयोगः, अतिशयर्द्धिप्राप्ति-रिति ॥४॥ (४८९)

मूलार्थ–शुद्ध तथा नाश न होनेवाले चारित्रकी प्राप्ति होती है। चारित्रके साथ आत्माकी एकता होती है। वह

भव्य जनोंके लिये हर्षका कारण होता है। ध्यानके सुखकी प्राप्ति होती है और अतिशय ऋद्धिकी प्राप्ति होती है ॥४॥

विशुद्ध्यमानस्य–हीनता व क्लेशसे रहित तथा भिन्न अतः केवल शुद्ध, **अप्रतिपातिनः**–जिसका कभी भी नाश न हो, **चरणाप्ति**–चारित्रकी प्राप्ति, **तत्सात्म्यभावः**–ऐसे चारित्रके कारण ही उसके साथ आत्माकी एकता हो जाती है और ऐसा सुंदरभाव उत्पन्न होता है, चारित्रके साथ आत्मा मिलकर एकरस हो जाता है; (भाव-परिणति), **भव्यप्रमोदहेतुता**–भव्य जनोंको संतोष व हर्ष पैदा करनेवाला, **ध्यानसुखयोगः**–ध्यान सुखका, अन्य सब सुखोंसे अतिशय ज्यादा सुखवाला, चित्तका निरोध करनेवाला योग, **अतिशयर्द्धिप्राप्तिरिति**–अतिशय ऋद्धि, जैसे–आमर्षऔषधि आदि लब्धिओकी प्राप्ति होना, (उपर्युक्त सूत्रकी ७ बातोंमें ये ५ मिलानेसे १२ हुई)

इस चरम देहमे (अंतिम भवमें) अतिचार रहित, भावन्यूनता विना यथाख्यात चारित्रका पालन करता है। वह चारित्रसे कभी नहीं डिगता। चारित्रके साथ उसकी एकता हो जाती है। उसके उच्च विचार कार्यरूपमे आते हैं।

उसके (धर्मिष्ठ जीवके अतिम भवमें–चरम देहवालेके) आचार विचारसे मुमुक्षु व भव्य जीवोंको बहुत लाभ होता है तथा आनंद व संतोष भी। साथ ही ध्यानसे उत्पन्न होनेवाला अचिन्त्य सुख मिलता है। चित्तवृत्ति स्थिर होती है। चित्तके निरोधसे आत्मज्योति

चढकर ज्ञानकी वृद्धि होती है। यह ध्यानयोगका उत्तम सुख अवर्णनीय है। उस भवमें योग बलसे, आत्मबलसे उसे कई लब्धिओंकी प्राप्ति होती है।

अपूर्वकरणं, क्षपकश्रेणिः, मोहसागरोत्तारः, केवलाभिव्यक्तिः परमसुखलाभ इति ॥५॥ (४८६)

मूलार्थ-उपरोक्त गुणोंकी प्राप्तिके बाद समय आने पर अपूर्वकरण (आठवां गुणस्थान) पाता है। क्षपकश्रेणि चढता है, मोहरूपी सागरको तैरता है, केवलज्ञानी होता है और मोक्ष प्राप्त करता है ॥५॥

विवेचन-अपूर्वकरणं- मोक्ष प्राप्तिके लिये आत्मा धीरे धीरे चढता है। उसके लिये कुल चौदह गुणस्थानक कहे गये हैं। एक पर्वत शिखर जिसके ऊपर मोक्ष है तथा नीचे मिथ्यात्व है, उस पर चढनेके लिये चौदह विश्राम स्थान हैं। वे चौदह गुणके स्थानक हैं इसमे आठवां अपूर्वकरण कहलाता है। पहले किसी गुणस्थानकमें प्राप्त न होनेवाली पांच बातें यहां मिलती हैं-स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम तथा अपूर्व स्थितिबंध-इस गुणस्थानक पर आनेसे साधु कर्मोंका क्षय जल्दी जल्दी करने लगता है। इस क्रमशः क्षयको क्षपकश्रेणि कहते हैं। क्षपकश्रेणि- घातीकर्म व प्रकृतिको क्षय करनेवाला यत्न क्षपककी श्रेणि याने मोहनीय आदि कर्मोंको क्षय करनेकी क्रमशः प्रवृत्ति होना। क्षपक श्रेणिका क्रम इस प्रकार है-

इस चरमदेहमें, अंतिम भवमें जीवके सम्यग्दर्शन आदि गुण पूर्ण परिपक्व होते है। वह अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत, व अप्रमत्त-संयत नामक चार गुणस्थानकमेंसे किसीमें भी स्थित होकर अपने मनको अतिशय वृद्धि पाते हुए तीव्र शुभ ध्यानके आधीन करता है तथा क्षपकश्रेणि पर चढनेकी इच्छा करता है। वह अपूर्वकरण गुणस्थानकको पाकर पहले चारों अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ नामक कषायोंका एक साथ क्षय करने लगता है। अनंतानु-बंधी कषायोंका बल हीन हो जाने पर तथा कुछ बाकी रहनेके समय मिथ्यात्वका क्षय करने लगता है। तब बचे हुए कषायोंका तथा मिथ्यात्वका क्षय करता है। उनके क्षय होने पर क्रमशः सम्यक् (मिश्रपुंज) और सम्यक्त्व (शुद्धपुंज)का क्षय करता है। पहले मिश्रपुंज, बादमें शुद्धपुंजको खपाता है। उसके बाद जिसने आयु-बंध नहीं किया वह जीव सकल मोहको नाश करनेमें समर्थ अनि-वृत्तिकरण नामक नवमे गुणस्थानक पर चढता है। उस पर रहा हुआ जीव अपने चित्तको प्रतिक्षण शुद्ध करता हुआ इस गुणस्थान-कके कितने ही संख्यात भागके जाने पर अप्रत्याख्यानावरणीय और प्रत्याख्यानावरणीय नामक क्रोधादिक आठ कषायोका क्षय करना आरंभ करता है। उनका क्षय करते हुए शुभ अध्यवसाय द्वारा निम्न सोहल प्रकृतियोंका नाश करता है—

१ निद्रानिद्रा, २ प्रचलाप्रचला, ३ क्षीणद्धि निद्रा (Somnambulism), ४ नरक गति, ५ नरकानुपूर्वी, ६ तिर्यग् गति, ७ तिर्यगानुपूर्वी, ८ एकेन्द्रिय, ९ बेइद्रिय, १० तेइन्द्रिय, ११ चौरिन्द्रिय

जाति नामकर्म, १२ आतप नामकर्म, १३ उद्योत नामकर्म, १४ साधारण नामकर्म, १५ स्थावर नामकर्म और १६ सूक्ष्म नामकर्म।

इन सोलह प्रकृतियोको नाश करके उपरोक्त आठ कषायोंका संपूर्ण क्षय करता है। तब यदि वह जीव पुरुषवेदी हो तो क्रमशः नपुंसकवेद, स्त्रीवेद और हास्य, रति, अरति, भीति, जुगुप्सा और शोक—इन छका नाश करता है। और तब पुरुषवेदका क्षय करता है। यदि वह जीव स्त्री हो तो पहले नपुंसकवेद, फिर पुरुषवेद तथा अंतमें नपुंसकवेदका क्षय करता है। उसके वाद क्रमशः क्रोध, मान, माया—तीनो संज्वलन कषायोका क्षय करके बादर लोभका भी क्षय इसी गुणस्थानकमें करता है। फिर सूक्ष्म संपराय नामक गुण-स्थानक पाकर सूक्ष्म लोभको खपाता है। इस प्रकार कषायोका सर्वथा नाश करके सकल मोह विकारोसे निवृत्त होकर क्षीणमोह नामक गुणस्थानकको प्राप्त करता है। वहां समुद्र तैर कर बाहर नीकले हुए या रणक्षेत्रमें जीत कर आये हुए पुरुषकी तरह मोह निग्रहमें निश्चय अध्यवसायके कारण हुआ होनेसे उस बारहवे गुण-स्थानकमें अंतर्मुहूर्त विश्राम लेकर उस गुणस्थानकके अंतिम समयसे पहलेवाले समयमें निद्रा व प्रचला नामक दो प्रकृतियोंको खपाता है और अंतिम समयमें ज्ञानावरणकी पाच तथा अंतरायकी पांच और दर्शनावरणकी बची हुई चार, कुल चौदह प्रकृतियोका क्षय करता है। उपरोक्त वात उस जीवके लिये है जिसने आयुष्य नहीं बांधा। जिसने आयुष्य बांध लिया है वह चार अनंतानुबंधी और तीन दर्शन-मोहनीय—ऐसी सात प्रकृतियोंका क्षय करके विश्राम लेता है और

जैसा आयुबंध किया हो उसे भोग कर भवांतरमें क्षपकश्रेणि प्रारंभ करता है।

यहां अपूर्वकरणके बाद क्षपकश्रेणिकी बात कही है वह सैद्धांतिक पक्षकी अपेक्षासे कही है। इसके अनुसार अपूर्वकरण गुणस्थानमे रह कर दर्शन मोहनीयके सप्तकका क्षय करता है। कर्मग्रन्थके अभिप्रायसे ऐसा नही है। उसके अभिप्रायसे अविरत सम्यग्दृष्टि, विरत सम्यग्दृष्टि, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्त गुणस्थानक आदि चार गुणस्थानकोंमेंसे किसीमे रहा हुआ भी जीव क्षपकश्रेणिको प्रारंभ कर सकता है।

उसके बाद **मोहसागरोत्तारः**—मिथ्यात्व मोह आदिके सागरको जो स्वयंभूरमण सागरसे भी अधिक वेगवाला है वह पार ऊतरता है—दूसरे पार जाता है। उसके बाद **केवलाभिव्यक्तिः**—केवलज्ञान व केवलदर्शनकी जो जीवका गुण है–प्राप्ति होती है, जिसमें ज्ञानावरणीय आदि घातीकर्मके नष्ट हो जानेसे वह प्रगट होता है, और **तब परमसुखलाभः**— उत्कृष्ट सुखकी प्राप्ति करता है अर्थात् उत्कृष्ट देवताओंके सुखसे भी अधिक मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है। उसके बाद किसी अन्य प्रकारके आनंदकी इच्छा नहीं रहती। उसे परम आनंद मिलता है।

"यच्च कामसुखं लोके, यच्च दिव्यं महासुखम्।
वीतरागसुखस्येदं, अनन्तांशे न विद्यते ॥२१४॥"

—इस लोकमें जितना भी कामसुख है और देवताओं संबंधी जो भी महासुख है वह सब मिलकर भी वीतरागके सुखके अनंतवें

हिस्सेके समान भी नहीं है।

इस चरमदेहवाले पुरुषको जो वस्तुएं प्राप्त होती हैं उनका उपरोक्त तीन सूत्रोंमें विवेचन किया गया है—३ (४८४) से ५ (४८६) में, **अक्लिष्टमनुत्तरं विषयसौख्यं**-से लेकर **परमसुखलाभः**-तककी १७ वस्तुएं चरमदेहीको मिलती है और इस सूत्रकी पांचों वस्तुएं अपूर्वकरण गुणस्थानक मिलनेसे लेकर प्रारंभ होती हैं और मोक्षसुखकी प्राप्ति अंतमे उसे मिलती है। वहां वह जीव शाश्वत (सदा स्थिर रहनेवाला) आनंद पाता है।

सदारोग्याप्तेरिति ॥६॥ (४८७)

मूलार्थ—निरंतर आरोग्य रहता है ॥६॥

विवेचन—मोक्ष मिलनेके साथ मोक्षमें परम आनंद मिलता है उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि वहा हमेशां सतत आरोग्य अवस्था, भाव आरोग्य अवस्था ही रहती है।

भावसंनिपातक्षयादिति ॥७॥ (४८८)

मूलार्थ—भाव संनिपातका क्षय हो जानेसे ॥७॥

विवेचन—भाव आरोग्यके मिलनेका कारण यह है कि भाव संनिपात नामक रोग विशेष, हृदयके रोग तथा मनके विकार आदि सबका नाश हो जाता है। मनके दुर्जय विकार तथा वासनाएं भावरोग हैं उसके नाशसे आत्माकी स्वाभाविक स्थिति प्रगट होती है, केवलज्ञान प्राप्ति होती है। भावसंनिपातका रूप बताते हैं—

**रागद्वेषमोहादिदोषाः, तथा तथाऽऽत्म-
दूषणादिति ॥८॥ (४८९)**

मूलार्थ-उस उस प्रकारसे आत्माको दूषित करनेसे राग, द्वेष व मोह तीनों दोष हैं ॥८॥

विवेचन-दोषः-भावसंनिपातरूप त्रिदोष, **तथा तथा**-उस उस प्रकारसे असक्ति आदिसे (द्वेष व मोह पैदा करा कर)।

जैसे शरीरके रोगमें वात, पित्त व कफका त्रिदोष होता है वैसे ही आत्माके रोगके लिये राग, द्वेष व मोहका त्रिदोष है जो आत्माको आसक्ति आदि दोषोंद्वारा दूषित करते हैं, जीवमें विकार पैदा करते हैं। यह भावरोग आत्माको निर्बल बनाता है। रागादिके बारेमे 'तत्त्व (स्वरूप), भेद व पर्याय' से व्याख्या करके बताते हैं—

अविषयेऽभिष्वङ्गकरणाद् राग इति ॥९॥ (४९०)

मूलार्थ-अयोग्य विषयोंमें आसक्ति ही राग है ॥९॥

विवेचन-अविषये-स्वभावसे ही नाशवान स्त्री आदि, जिन पर बुद्धिमानोंको आसक्ति न करनी चाहिये, **अभिष्वङ्गकरणाद्**-मनकी आसक्ति करना।

आत्माको छोड कर सब वस्तुएं क्षणभंगुर है। स्त्री आदि तथा अन्य जड वस्तुओं पर जो स्वभावसे ही नाशवान है आसक्ति रखना राग है। अतः सब परसे राग-आसक्ति भाव हठाना। चाहिये केवल आत्मा अविनाशी है अन्य सब नाशवान है अतः उन परसे रागको हठावे और आत्मातत्त्वका चिंतन करे।

तत्रैवाग्निज्वालाकल्पमात्सर्यापादनाद्
द्वेष इति ॥१०॥ (४९१)

मूलार्थ-उसी नाशवान पदार्थ पर आसक्तिके कारण अग्निज्वाला समान मत्सर करना द्वेष है ॥१०॥

विवेचन-तत्रैव-स्त्री आदि पदार्थमें आसक्ति होनेसे अग्निकी ज्वाला समान जो सम्यक्त्व आदि सब गुणोंको जला देता है ऐसा मत्सर-दूसरेकी संपत्तिमें असहिष्णुता-सहन न करना, आपादनात्-होनेसे।

जब किसी वस्तु पर आसक्ति हो और उसे प्राप्त करनेमें कोई बाधा आवे तब उसे सहन न करना, और उस पर क्रोध करना ही द्वेष है। यह द्वेष प्रमोद भाव तथा सम्यग्दर्शन आदि शुभ गुणोका नाश करता है अत: अग्निसमान है। द्वेष मन व आत्माकी निर्मल वृत्तिओंका नाश करता है। दूसरोके प्रति असहिष्णु बनना व क्रोध ही द्वेष है। द्वेष आत्माकी वृद्धिको रोकता है अत: उसे छोडना चाहिये।

हेयेतरभावाधिगमप्रतिबन्धविधानान्मोह
इति ॥११॥ (४९२)

मूलार्थ-हेय व उपादेय भावके ज्ञानको रोकनेवाला मोह नामक दोष है ॥११॥

विवेचन-हेयानां-निश्चय नयसे त्याज्य, मिथ्यात्व आदि, इतरेषां-उपादेय या ग्राह्य जैसे सम्यग्दर्शन आदि, भावाधिगमः-इन भावोंका-या व्यवहार नयसे विष व कंटक आदि हेय तथा माला,

चंदन आदि उपादेय पदार्थोंके भावका ज्ञान या विवेक, **प्रतिबन्ध-विधानात्**-रोकना, इस विवेक या ज्ञानके उत्पन्न होनेमे विघ्नरूप-मोह दोष है।

मोह एक उन्माद है। वह अज्ञान नामक रोग है। त्याज्य और ग्राह्य वस्तुएँ तथा भावोंके योग्य ज्ञान व विवेकको रोकनेवाला यह अज्ञान है। इस मोहसे, इस अज्ञानसे अग्राह्य या त्याज्य वस्तुओंको प्राप्त करनेकी लालसा व्यक्तिमें होती है तथा वह ग्राह्य वस्तुओंको ग्रहण करनेकी ओर नहीं बढता। यह मोह नामक दोषके ही कारण है। मोहसे ही असत् मार्गमें प्रवृत्ति होती है। मोहसे बुद्धि निस्तेज होती है। विवेक बुद्धिसे ही, यथार्थ ज्ञानसे ही मोहका बल कम किया जा सकता है। राग द्वेष व मोहके भाव संनिपातको बताते हुए कहते हैं—

सत्स्वेतेषु न यथावस्थितं सुखं,
स्वधातुवैषम्यादिति ॥१२॥ (१९३)

मूलार्थ-इस त्रिदोषके होनेसे मूल प्रकृतिकी विषमतासे यथार्थ सुख नहीं मिल सकता ॥१२॥

विवेचन-सत्स्वेतेषु-राग आदि त्रिदोषके होनेसे, **न**-नहीं होता, **यथावस्थितं**-जीवका पारमार्थिक या यथार्थ सत्य सुख, **स्वधातु-वैषम्यात्**-जीव स्वरूपको धारण करनेवाली धातु, **धातवः**-आत्माके सम्यग्दर्शन आदि गुण, उनकी विषमता अर्थात् जीवका सत्य स्वरूप नहीं दीखता पर अन्यथारूप दीखता है।

रागादि त्रिदोषके उपस्थित रहनेसे आत्माका सत्य या यथार्थ सुख नहीं दीखता। इसका कारण यह है कि त्रिदोषसे आत्माका सत्य स्वरूप प्रगट होनेके बदले अन्यथारूप दीखता है। जैसे वात, पित्त व कफके त्रिदोषके कारण जब शरीरको संनिपात होता है तब शरीरकी सातों धातुएं रस आदि अपना कार्य छोड देती है और जो यथार्थ कामभोग, मनःसमाधि आदिका कोई सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार राग, द्वेष व मोहके त्रिदोषसे भावसंनिपात होता है। उसी प्रकार इस त्रिदोषसे सम्यग्दर्शनादि गुण मलिन हो जाते हैं और राग, द्वेष व मोहके मिटनेसे जो सुख होना चाहिये वह सुख प्राप्त नहीं होता। इस त्रिदोषसे आ माका वास्तविकरूप आच्छादित हेकर स्वाभाविक सुख नहीं मिलता।

क्षीणेषु न दुःखं, निमित्ताभावादिति ॥१३॥ (४९४)

मूलार्थ—त्रिदोष क्षयसे दु ख नहीं होता, क्योंकि दुःखके निमित्तका अभाव होता है ॥१३॥

विवेचन—रागादि त्रिदोषके क्षय हो जाने पर भाव संनिपातका होनेवाला दु'ख नहीं होता। इसका कारण यह है कि निमित्त या कारण जो रागादि दोष है वे नहीं होते। इस त्रिदोषके नाश होनेसे आत्माका स्वाभाविक गुण प्रगट होता है।

आत्यन्तिकभावरोगविगमात् परमेश्वरताऽऽप्ते-स्तत् तथास्वभावत्वात परमसुखभाव इतीति ॥१४॥ (४९५)

मूलार्थ-भावरोगके पूर्ण नाशसे परमेश्वर पद प्राप्त होता है और उससे स्वभावतः परम सुख मिलता है ॥१४॥

विवेचन-परमेश्वरतायाः आप्तिः-इन्द्र व चक्रवर्तीके ऐश्वर्यसे अतिशय अधिक केवल ज्ञान आदि लक्षणवाले परमेश्वरताकी प्राप्ति, तत् तथास्वभावत्वात्-परमेश्वरताके स्वभावसे ही परम सुखभाव पैदा होता है।

राग आदि तीनों दोषोके पूर्ण नाश हो जानेसे, भाव रोगके सर्वथा नाश हो जानेसे, इंद्र व चक्रवर्तीसे अधिक ऐश्वर्यवाला परमेश्वर पद मिलता है और उस स्थितिमें स्वभावतः उत्कृष्ट सुख और आनंद मिलता है। आत्मा परमानंदको प्राप्त करती है।

इस प्रकार तीर्थंकर व अन्य केवली या चरमदेहीको मिलनेवाले सामान्य अनुपम धर्मफलका वर्णन किया। अब तीर्थंकरके संबधमें असाधारण फलका वर्णन करते हैं—

देवेन्द्रहर्षजननम् ॥१५॥ (४९६)

मूलार्थ-(तीर्थंकरत्व) देवेन्द्रको हर्ष उत्पन्न करनेवाला है।

विवेचन-देवेन्द्राणां-चमरेंद्र, शक्रेंद्र आदिको, हर्षस्य-संतोषका, जननं उत्पन्न करनेवाला।

तीर्थंकरका जन्म होनेवाला है ऐसा जानकर सब देवताओं और इंद्रको हर्ष होता है।

तथा-पूजानुग्रहाङ्गतेति ॥१६॥ (४९७)

मूलार्थ-और पूजा द्वारा जगत्के उपकारका कारण है।

विवेचन-पूजया-तीर्थंकरके जन्म कालसे लेकर निर्वाणकी प्राप्ति तक उस उस प्रकारके निमित्तसे मेरु पर्वतके शिखर पर स्नान आदि द्वारा **पूजाके** रूपमें जो **अनुग्रह**-मोक्षकी प्राप्तिरूप तीन जगत् पर जो उपकार होता है उसकी **अंगता**-कारणभाव।

जबसे प्रभुका जन्म होता है तबसे लेकर निर्वाणप्राप्ति तक (तथा बादमें भी) भिन्न भिन्न समयों पर देवेन्द्र, देव, राजाओ तथा सामान्य मनुष्योंद्वारा प्रभुकी पूजा की जाती है। इस प्रकार प्रभु समझ कर ये लोग जो सेवा करते हैं उससे उनको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है जो मोक्षकी प्राप्तिका कारण बनता है। इस प्रकार तीर्थंकर तीनो जगत्का उपकार करते है। भगवानको देखकर मोक्षकी प्राप्तिकी इच्छावाले और उनकी भक्तिके समूहसे भरी हुई इंद्रादि देवो द्वारा की हुई पूजासे बहुतसे भव्य प्राणियोंको मोक्षको देनेवाला सम्यत्तव आदि महान गुणका लाभ होकर महान उपकार होता है।

तथा-प्रातिहार्योपयोग इति ॥१७॥ (४९८)

मूलार्थ-और आठ प्रातिहार्योंका उपयोग होता है ॥१७॥

विवेचन-धर्मके उत्कृष्ट फल तरीके तीर्थंकरको आठ प्रातिहार्य मिलते हैं। सभा या घरके बाहर जो द्वारपाल रहता है उसे प्रतीहारी कहते हैं। भगवान जहां भी जाते है वहां उनके साथ निम्न आठ प्रातिहार्य जाते हैं—

"अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः, दिव्यो ध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं,सत्प्रातिहार्याणि जनेश्वराणाम्॥२१५॥"

—१ अशोकवृक्ष, २ देवोंद्वारा की हुई पुष्पवृष्टि, ३ दिव्य-

ध्वनि, ४ चामर, ५ सिंहासन, ६ भामण्डल, ७ दुन्दुभि, और ८ छत्र–ये तीर्थंकरके आठ महाप्रातिहार्य है।

ततः परमपरार्थकरणमिति ॥१८॥ (४९९)

मूलार्थ–और उत्कृष्ट परार्थ करनेवाला है ॥१८॥

विवेचन–परम–उत्कृष्ट, **परार्थस्य**–दूसरोंका कल्याण करनेवाला। दूसरोका कल्याण करनेका उत्तम मार्ग उपदेश है। तीर्थंकर अपना उपदेश अपनी अमृत तुल्य वाणी द्वारा सबको आनंद देनेवाली वाणीमें देते है। सब प्राणी उसे अपनी अपनी भाषामें समझ जाते हैं। वह चारों तरफ एक योजन प्रमाण तक रहे हुए सब प्राणियोंको सुनाई देती है। वाणीसे तथा भिन्न भिन्न विचित्र उपायों द्वारा दूसरोको मोक्ष दिलानेका उपकार करनेवाला तीर्थंकरपद है। उन उपायोको निम्न सूत्रोंसे बताते हैं:—

अविच्छेदेन भूयसां मोहान्धकारापनयनं हृद्यैर्वचनभानुभिरिति ॥१९॥ (५००)

मूलार्थ–यावज्जीव मनोहर वचन किरणोंसे प्राणियोंके मोहान्धकारको नष्ट करते हैं ॥१९॥

विवेचन–अविच्छेदेन– यावज्जीव-जीवन पर्यंत, **भूयसाम्**– अनेक लाखो, करोडो भव्य प्राणियोंको, **मोहान्धकारस्य**– मोहके अज्ञानरूपी अंधकारका, **अपनयनं**– नाश करना, **हृद्यैः**– हृदयंगम होनेवाले मनोहर, **वचनभानुभिः**– वचनरूप सूर्यकी किरणोसे।

श्रीतीर्थंकर प्रभुके शुभ व मनोहर वचनोंसे, जैसे सूर्य किरणोंसे

अंधकार नष्ट होता है, मोहरूपी अज्ञानताका नाश होता है। वे यावज्जीव कई करोड़ों भव्य प्राणियोंके मोहको नाश करते हैं। भगवानका उपदेश लोगोंके हृदय पर सीधा असर करता है अतः उनके मोहान्धकारको नष्ट करता है।

सूक्ष्मभावप्रतिपत्तिरिति ॥२०॥ (५०१)

मूलार्थ-सूक्ष्म भावका ज्ञान होता है ॥२०॥

विवेचन-सूक्ष्माणाम्-अनिपुण बुद्धि या सामान्य बुद्धिसे नहीं जाने जा सकनेवाले, **भावानां**-जीवादि।

जब लोगोंका मोहांधकार नष्ट हो जाता है तो वे लोग सूक्ष्म पदार्थोंको भी विवेक सहित शीघ्र समझ लेते हैं। ऐसा जीवादि भाव तत्त्वोंका उनको बोध होने लगता है।

ततः श्रद्धामृतास्वादनमिति ॥२१॥ (५०२)

मूलार्थ-और श्रद्धामृतका आस्वादन होता है ॥२१॥

विवेचन-सूक्ष्म भावोंका ज्ञान होनेसे उनमें श्रद्धा होती है और उस श्रद्धाके अमृतको, यथार्थ तत्त्वको समझनेसे अमृत समान उसका पान कर आनंद लेते हैं। वे उसे हृदयरूपी जिह्वासे ग्रहण करते हैं और सत्य मानते हैं तथा श्रद्धा रखते हैं।

ततः सदनुष्ठानयोग इति ॥२२॥ (५०३)

मूलार्थ-तब अनुष्ठानका संबंध होता है ॥२२॥

विवेचन-जब लोग यथार्थ तत्त्वका ग्रहण कर लेते हैं तो उसके अनुसार आचरण करने लगते हैं इससे साधु व गृहस्थके

धर्मका शुभ आचरण करनेमें प्रवृत्त होते है। उस धर्माभ्याससे उनका संबंध होता है और गृहस्थ धर्म या यतिधर्म पालन करने लगते है।

ततः परमापायहानिरिति ॥२३॥ (५०४)

मूलार्थ-तब उत्कृष्ट, अनर्थकी हानि होती है ॥२३॥

विवेचन-परमा-उत्कृष्ट, **अपायहानिः**-नरक व तिर्यंचकी कुगतिमें जानेके महान अनर्थकी हानि।

वे मनुष्य धर्मको पा जाते है उससे उनकी तिर्यंच व नरककी कुगति नष्ट हो जाती है। इससे वे इन गतियोंसे होनेवाले अनर्थसे बच जाते हैं।

तब जितना उपकार प्रभु करते हैं और इन भव्य प्राणियोंको जो लाभ होता हैं वह कहते हैं—

सानुबन्धसुखभाव उत्तरोत्तरः प्रकामप्रभूतसत्त्वोपकाराय अवन्ध्यकारणं निवृत्तेरिति ॥२४॥ (५०५)

मूलार्थ-उत्तरोत्तर विशेष अविच्छिन्न सुखभाव उन प्राणियोंके उपकारके लिये होता है और उससे वह मोक्षका अवन्ध्य (सफल) कारण है ॥२४॥

विवेचन-उत्तरोत्तरः- क्रमशः अच्छेसे अच्छा, **प्रकाम**-प्रौढ, **अवन्ध्यकारणं** -सफल हेतु।

सदनुष्ठानसे मनुष्यको सुख मिलता है और अन्योंका कल्याण करते रहनेसे उत्तरोत्तर क्रमशः अधिक सुख मिलता जाता है और अंततः मोक्ष मिलता है। निरंतर उत्कृष्ट सुखभावसे, निरंतर अन्य प्राणियोंका उपकार करते रहनेसे अवश्य मोक्ष मिलता है। परोपकारसे

ही विशेष सुख मिलता है अतः सुखका साधन ही परोपकार है।

इति परम्परार्थकारणमिति ॥२५॥ (५०६)

मूलार्थ—अतः तीर्थंकरपद उत्कृष्ट परोपकार करनेवाला है।

विवेचन—तीर्थंकरके वचनसे मोहांधकार मिट कर सूक्ष्मभाव समझे जाते हैं, सदनुष्ठानकी प्राप्ति होती है, कुगति मिट कर सुख-लाभ होता है। उससे उत्तरोत्तर अधिक परोपकार करते हुए मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होती है। इस तरह विभिन्न प्राणियोको उत्कृष्ट सुख प्राप्त करानेमें तीर्थंकरपद विशेष लाभदायक होता है। वह दूसरोका उत्कृष्ट कल्याण करनेवाला है।

अब फिरसे दोनोंका (तीर्थंकर व अन्य चरमदेहका) साधारण धर्मफल कहते हैं—

भवोपग्राहिकर्मविगम इति ॥२६॥ (५०७)

मूलार्थ—भवोपग्राही कर्मका नाश होता है ॥२६॥

विवेचन— **भवोपग्राहिकर्म**— वेदनीय, आयु, नाम व गोत्रके चार कर्म, **विगमः**— नाश।

भवको मददरूप, जन्मके सहायकरूप चारों कर्म वेदनीय, आयु, नाम व गोत्रके अघाती कर्मोका चौदहवें गुणस्थानकके अंतमें पूर्वकोटि आदि परिणाममें सयोगिकेवली पर्यायका पालन करनेके बाद नाश हो जाता है।

ततः निर्वाणगमनमिति ॥२७॥ (५०८)

मूलार्थ—तब निर्वाणप्राप्ति होती है ॥२७॥

विवेचन—देहधारी प्राणी देह आदिसे निवृत्त होकर निर्वाणको चला जाता है। जीव सिद्धिक्षेत्रमें प्रवेश करता है। सब उपाधि व देहसे मुक्त होकर आत्माको अपने असली स्वरूपका ज्ञान होता है उस अवस्थाको निर्वाण अवस्था कहते हैं। चरमदेही व तीर्थंकर इन सब कर्मोंको नाश कर सिद्धिक्षेत्रमें जीवके अपने स्वरूपमें रहनेके लिये जीव वहां चला जाता है।

तत्र च पुनर्जन्माद्यभाव इति ॥२८॥ (५०९)

मूलार्थ—मोक्षप्राप्ति पर पुनर्जन्मका अभाव होता है ॥२८॥

विवेचन—मोक्ष हो जाने पर निर्वाण पाने पर जीवका दूसरी तीसरीवार जो बराबर जन्म होता है वह जन्म, जरा, मृत्यु आदि सब अनर्थोंका पूर्णतः विच्छेद हो जाता है।

बीजाभावतोऽयमिति ॥२९॥ (५१०)

मूलार्थ—वह बीजके अभावसे होता है ॥२९॥

विवेचन—पुनर्जन्म आदि न होनेका कारण बताते हैं। जैसे बीजके बिना अंकुर नहीं होता वैसे ही कर्मबीजके सर्वथा नष्ट हो जाने पर मुक्त आत्माका पुनर्जन्म आदि नहीं होता।

कर्मविपाकस्तदिति ॥३०॥ (५११)

मूलार्थ—कर्मविपाक ही बीज है ॥३०॥

विवेचन—**कर्मणां**—ज्ञानावरण आदि कर्मोंका, **विपाकः**—उदय, **तत्**— पुनर्जन्म आदिका बीज।

ज्ञानावरण आदि कर्मोंका उदय ही पुनर्जन्मका बीज है। कर्मोंके होनेसे ही बार बार जन्म लेना पड़ता है। जब सब कर्मोंका नाश हो जाता है तो जन्म कैसे हो सकता है?

अकर्मा चासाविति ॥३१॥ (५१२)

मूलार्थ-वे जीव कर्मरहित होते हैं ॥३१॥

विवेचन-जो जीव निर्वाण प्राप्त करते हैं वे कर्मोंसे रहित होते हैं। उनको पुनः कोई कर्म नहीं लगता।

वह भले अकर्मा हो पर उसे पुनर्जन्म आदि होता है? उसका उत्तर देते हैं—

तद्वत एव तद्ग्रह इति ॥३२॥ (५१३)

मूलार्थ-कर्मवालेको ही पुनर्जन्म आदि होते हैं ॥३२॥

विवेचन-तद्वत एव- कर्मवाले जीवोंको ही, **तद्ग्रहः**- पुनर्जन्म आदि होना।

जो जीव कर्मसहित हैं वे ही पुनः जन्म धारण करते हैं। जो जीव कर्मरहित हैं उनको जन्म मरण नहीं होता। अतः निर्वाणप्राप्त जीवको जन्म मरण नहीं होता।

यदि कर्मवालेको ही जन्म मरण होता है तो प्रथम जीवने कर्म कब किया जिससे जन्म धारण करना पड़ा? उसके उत्तरमें कहते हैं-

तदनादित्वेन तथाभावसिद्धेरिति ॥३३॥ (५१४)

मूलार्थ-कर्मके अनादिपनसे उपरोक्त भाव (जन्म ग्रहण आदि) की सिद्धि होती है ॥३३॥

विवेचन–द्वितीय अध्यायमें विस्तारसे यह सिद्ध किया है कि कर्म भी आत्माके साथ ही अनादि है, उससे 'कर्मवालेको ही पुनर्जन्म आदि होता है'–यह भाव सिद्ध होता है। कर्मरहित सिद्ध आत्माओंको पुनर्जन्मादि नहीं होता।

कोई शंका करे कि निम्न वचनके प्रमाणसे अकर्मा भी जन्म लेता है—

"ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम्।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः ॥२१६॥"

—धर्मतीर्थको करनेवाले ज्ञानी पुरुष मोक्षमें जाकर तीर्थका उच्छेद देखकर पुनः इस संसारमें आते हैं"। तो अकर्मा कैसे जन्म नहीं लेता ? कहते हैं—

सर्वविप्रमुक्तस्य तु तथास्वभावत्वान्निष्ठितार्थत्वान्न तद्ग्रहणे निमित्तमिति ॥३४॥ (५१५)

मूलार्थ–सर्वथा कर्ममुक्त जीव स्वभावतः ही कृतकृत्य होनेसे पुनः जन्म नहीं लेते क्योंकि पुनः जन्म लेनेका कोई निमित्त ही नहीं होता ॥३४॥

विवेचन–**निष्ठितार्थत्वात्**–उन्होंने सब प्रयोजन पूर्ण किया हुआ है, **तद्ग्रहणे**–जन्मादिका होना, **निमित्त**–हेतु या कारण।

वे मोक्षगामी जीव सब कर्मोंसे सब प्रकारसे मुक्त हैं। वे अपना सब प्रयोजन पूर्ण कर चुके हैं। उनका साध्य सिद्ध हो चुका

है । अतः उन जीवोंको जन्म आदि ग्रहण करनेका कोई कारण नहीं है । कहनेका तात्पर्य यह है कि कर्म व कारण विशेषके न रहने पर जन्म ग्रहण नहीं हो सकता । जो जीव सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त है उसे जन्मादि लेनेका कोई निमित्त नहीं । सब प्रयोजनकी समाप्ति हो जानेसे जन्मादि ग्रहण करानेवाले स्वभावका अभाव है । किसीने जो तीर्थके उच्छेद करनेके लक्षणवाले कारणकी कल्पना की है वह हेतु भी योग्य नहीं । वह तो कषाय हेतुसे पैदा होता है और मोक्ष-गामी जीवको तीर्थके प्रति राग या उसके उच्छेदके प्रति कोई द्वेष नहीं है । वीतराग मोक्षगामीको यह नहीं होता ।

नाजन्मनो जरेति ॥३५॥ (५१६)

मूलार्थ-जिसे जन्म नहीं उसे जरा नहीं ॥३५॥

विवेचन-जिस जीवकी उत्पत्ति हो नहीं होती, जो अजन्मा है उसे जरा या वृद्धावस्था नहीं होती ।

एवं च-न मरणभयशक्तिरिति ॥३६॥ (५१७)

मूलार्थ-और मृत्युका भय भी नहीं रहता ॥३६॥

विवेचन-जब तक जन्म होता है तभी तक जरा होती है और मृत्यु होती है अत. जन्मवालेको ही मृत्युका भय होता है । जब जन्म ही नहीं तो मृत्यु तथा मृत्युका भय क्या ? ।

तथा-न चान्य उपद्रव इति ॥३७॥ (५१८)

मूलार्थ-और सिद्ध जीवको अन्य उपद्रव भी नहीं होता ॥३७॥

विवेचन-भूख, प्यास, रोग आदि अन्य उपद्रव जो संसारीको

होता है वे सब सिद्ध जीवको नहीं होते। तब वहां क्या होता है?
उत्तरमें कहते हैं—

विशुद्धस्वरूपलाभ इति ॥३८॥ (५१९)

मूलार्थ—अति शुद्ध आत्मस्वरूप प्राप्त होता है ॥३८॥

विवेचन—कर्ममलसे रहित निर्मल आत्माके स्वरूपका लाभ है। आत्मा आनदमय और सर्वज्ञ होता है।

तथा—आत्यान्तिकी व्याबाधानिवृत्तिरिति ॥३९॥ (५२०)

मूलार्थ—और दुःखकी अत्यंत निवृत्ति होती है ॥३९॥

विवेचन—व्याबाधानिवृत्तिः—शरीर व मनकी व्यथासे रहित।

आधि, व्याधि व उपाधिके त्रिविध ताप दूर हो जाते हैं। शरीर व मन संबंधी सब दुःखोका पूर्णतः अंत हो जाता है। इस पीडाका पूर्ण उच्छेद होता है।

सा निरूपमं सुखमिति ॥४०॥ (५२१)

मूलार्थ—वह दुःखनिवृत्ति अनुपम सुख है ॥४०॥

विवेचन—मोक्षमें मन व शरीरकी पीडासे सर्वथा जो निवृत्ति होती है वही ऐसा सुख है जिसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती। वही परम सुख है उस सुखकी प्राप्तिके बाद कोई तृष्णा नहीं रहती। दुःखका पूर्ण विच्छेद ही पूर्ण सुख होता है। उसका कारण—

सर्वत्राप्रवृत्तेरिति ॥४१॥ (५२२)

मूलार्थ-सब जगह प्रवृत्ति रहित होनेसे ॥४१॥

विवेचन-हेय व उपादेय आदि किसी भी वस्तुमें सर्वथा प्रवृत्तिका त्याग होता है।

समाप्तकार्यत्वादिति ॥४२॥ (५२३)

मूलार्थ-सब कार्योंकी समाप्ति हो चुकी है ॥४२॥

विवेचन-उनके लिये जो भी साध्य कार्य थे वे सब पूर्ण हो चुके। उनके योग्य सब पदार्थ व सब कार्य वे पूरे कर चुके हैं। अतः उन मोक्षके सिद्ध जीवोंको कोई काम व कोई प्रवृत्ति नहीं है।

न चैतस्य क्वचिदौत्सुक्यमिति ॥४३॥ (५२४)

मूलार्थ-उनको किसी कार्यके करनेमें उत्सुकता नहीं रहती ॥४३॥

विवेचन-किसी भी कार्यके लिये इन निवृत्त प्राणियोंको आकांक्षा या उत्सुकता होती ही नहीं।

दुःखं चैतत् स्वास्थ्यविनाशनेनेति ॥४४॥ (५२५)

मूलार्थ-स्वस्थताका नाश करनेसे उत्सुकता दुःख है॥४४॥

विवेचन-एतत्-उत्सुकता, **स्वास्थ्यविनाशनेन**-स्वास्थ्य जो सब सुखका मूल है उसका हरण करनेसे।

सुखका मूल स्वस्थता या शांति है, उत्सुकतासे शांति नहीं रहती अतः दुःख होता है।

यदि उत्सुकतासे स्वस्थताकी हानि होती है तब भी वह दुःख-रूप कैसे हैं? कहते हैं—

दुःखशक्त्युद्रेकतोऽस्वास्थ्यसिद्धेरिति ॥४५॥ (५२६)

मूलार्थ-दुःखके बीजरूप उत्सुकतासे अस्वस्थता सिद्ध होती है ॥४५॥

विवेचन-दुःखशक्तेः-दुःखके बीजरूप, उद्रेकतः-उत्पन्न होनेसे, सिद्धेः-सिद्ध होती है।

दुःखका बीज या कारण उत्सुकता है। जो तृष्णावाले है या उत्सुक रहते हैं उनके चित्तको शाति नहीं रहती। उत्सुकतासे आत्मा अस्वस्थ रहती है अतः उत्सुकता ही दुःख है।

अस्वस्थताकी सिद्धि होना कैसे जाना जाता है? कहते हैं—

अहितप्रवृत्त्येति ॥४६॥ (५२७)

मूलार्थ-अहितकर प्रवृत्तिसे (अस्वस्थता जानी जाती है)।

विवेचन-जब मनुष्य हितकारी मार्गको छोडकर अहितकर राहकी ओर प्रवृत्ति करता है तो जानना कि वह मनकी अस्वस्थताके कारण है। अस्वस्थता उत्सुकता-तृष्णासे पैदा होती है। तृष्णा ही मनुष्यको अहितकर मार्गमें ले जाती है। आत्माकी अस्वस्थतासे मनको प्रीति देनेवाली वस्तुओंमें प्रमादसे प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्त्री आदिकी ओर अहितकर प्रवृत्तिसे अस्वस्थता प्रगट होती है।

अब स्वस्थताका स्वरूप कहते हैं—

स्वास्थ्यं तु निरुत्सुकतया प्रवृत्तेरिति ॥४७॥ (५२८)

मूलार्थ-उत्सुकता रहित प्रवृत्ति ही स्वस्थता (शांति है) ॥४७॥

विवेचन-सब कार्योंमें उत्सुकता या चपलताको छोडकर प्रवृत्ति करनेसे स्वस्थता प्रगट होती है। तृष्णा या उत्सुकतासे चित्तकी स्वस्थता नष्ट हो जाती है। कर्मफल की आशा रखे विना निष्काम प्रवृत्ति ही स्वस्थता देती है।

परमस्वास्थ्यहेतुत्वात् परमार्थतः
स्वास्थ्यमेवेति ॥४८॥ (५२९)

मूलार्थ-उत्कृष्ट स्वस्थताका कारण होनेसे उत्सुकता रहित प्रवृत्ति ही स्वस्थता है ॥४८॥

विवेचन-**परमस्वास्थ्यहेतुत्वात्**-चित्तके उद्वेगको छोडकर उत्कृष्ट स्वभावमें, अपने स्वरूपमें रहनेके कारणसे, **परमार्थतः**-तत्त्ववृत्तिसे, **स्वास्थ्यमेव**-(निरुत्सुक प्रवृत्ति ही) स्वस्थता है।

जो लोग उत्सुकता रहित प्रवृत्ति करते हैं वे परम स्वस्थता पाते हैं। अतः निरुत्सुक प्रवृत्ति ही परम स्वस्थता है। वह निरुत्सुक प्रवृत्ति केवलज्ञानी भगवानकी है। केवली भगवानको किसी जगह उत्सुकता नहीं है। संसार व मोक्षमें एकांत निःस्पृह ऐसे केवली भगवानके योग्य प्रवृत्ति और अयोग्यसे निवृत्ति कैसे होती है? उत्तरमें कहते हैं कि-वह केवल द्रव्यसे होती है। वह जैसे कुम्हारका चक्र गति देनेके बाद विना चलाये भी कुछ समय अपने आप घूमता है वैसे ही पूर्व संस्कार वश केवलीकी भी प्रवृत्ति निवृत्ति होती है, वे भावसे प्रवृत्ति निवृत्ति नहीं करते।

भावसारे हि प्रवृत्त्यप्रवृत्ती सर्वत्र प्रधानो व्यवहार
इति ॥४९॥ (५३०)

मूलार्थ—भावसहित प्रवृत्ति निवृत्ति ही वस्तुत: प्रवृत्ति निवृत्ति है ऐसा सब जगह मुख्य व्यवहार है ॥४९॥

विवेचन—भावसारे—मनके संकल्प विकल्प सहित, सर्वत्र—करने योग्य या न करने योग्य सब कार्योंमें, प्रधान:—भावरूप, व्यवहार:—लोकव्यवहार या आचार।

मनके भावसहित जो प्रवृत्ति निवृत्ति होती है वही तत्त्वतः प्रवृत्ति या निवृत्ति गिनी जाती है। द्रव्यसे प्रवृत्ति या निवृत्ति वस्तुतः प्रवृत्ति निवृत्ति नहीं है। जो द्रव्यसे चारित्र पाले पर उसमें भाव न हो तो वह क्रिया करनेवाला शास्त्रमें चारित्रधारी नहीं गिना जाता। ऐसे ही असंज्ञी प्राणी बड़े मत्स्य घोर कर्म करने पर भी ज्यादा बुरा आयु नहीं बांधते। वे सातवीं नरकका आयु बांधनेका पाप करने पर भी भावरहित होनेसे वैसा कर्म नहीं बांधते। ऐसे ही केवली भगवान जिनको संसार व मोक्ष समान होता है और जो किसीकी भी स्पृहा नहीं रखते ऐसे सयोगी केवली पूर्व संस्कार वश ही शास्त्रविहित अनुष्ठानमें प्रवृत्ति करते है और अन्य कार्योंसे निवृत्त रहते हैं। वे भावसे प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं करते अत उसे व्यवहारमें प्रवृत्ति निवृत्ति नहीं गिना जाता।

प्रतीतिसिद्धश्चायं सद्योगसच्चेतसामिति ॥५०॥ (५३१)

मूलार्थ—सद्ध्यान योगसहित सावधान मनवाले मुनियोंको उपरोक्त अनुभव सिद्ध है ॥५०॥

विवेचन—प्रतीतिसिद्धः—अपने अनुभवसे सिद्ध है, अयं—पूर्वोक्त

वस्तु, सद्योगेन–शुद्ध ध्यानके लक्षणवाले, सचेतसां–शुद्ध चित्तवाले।

शुद्ध ध्यानसे जिनका हृदय पवित्र हो गया है ऐसे महामुनि उपरोक्त बातको यथार्थ अनुभव सिद्ध समझते हैं। केवलज्ञानी स्वभावतः निष्काम वृत्तिसे शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करते हैं। जो ध्यानी हैं, उससे जिनका हृदय पवित्र हो गया है, जिसे महामुनियोंकी इस बातका अनुभवसिद्ध ज्ञान है, वे स्वयं ही फलकी आशा बिना स्वभावतः ऐसी प्रवृत्ति करते रहते हैं। वे स्वयं इस अर्थको अंगीकार करते हैं। उन्हें परोपदेशकी अपेक्षा नहीं है।

सुस्वास्थ्यं च परमानन्द इति ॥५१॥ (५३२)

मूलार्थ–अतिशय स्वस्थता ही परम आनंद है ॥५१॥

विवेचन–निरुत्सुक या निष्काम प्रवृत्ति ही स्वस्थता है। वही शांति या आनंद है। ऐसी अनंत शांति ही शाश्वत शांति है, वही परम आनंद है। वही मोक्षका स्वरूप है। मोक्ष सुख परम आनंद है। उसके बाद प्राप्तव्य कुछ नहीं रहता।

तदन्यनिरपेक्षत्वादिति ॥५२॥ (५३३)

मूलार्थ–आत्माको अन्य वस्तुकी अपेक्षा न रहनेसे ॥५२॥

विवेचन–आत्माको अपनेसे भिन्न किसी भी अन्य वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती। इससे मोक्ष ही परम आनंद है। आत्माका सुख, बाह्य पुद्गल या अन्य वस्तुके बिना भी आनद ही है। सासारिक सुखमें तो हमेशां बाह्य वस्तुका आधार रहता है। अतः आत्माका आनंद ही परम आनंद है।

अपेक्षाया दुःखरूपत्वादिति ॥५३॥ (५३४)

मूलार्थ—अपेक्षा ही दुःखरूप है (अतः निरपेक्षता सुख है)।

विवेचन—दूसरे पर आधार रखनेसे वास्तविक सुख होता ही नहीं। दूसरेका आधार रखना ही दुःखमूलक है। अतः आत्माका आनंद ही दूसरेकी अपेक्षा विना सुख है।

अर्थान्तरप्राप्त्या हि तन्निवृत्तिर्दुःखत्वेना-
निवृत्तिरेवेति ॥५४॥ (५३५)

मूलार्थ—अन्य विषयोंकी प्राप्तिसे इच्छाकी निवृत्ति होने पर भी दुःखरूप होनेसे अनिवृत्ति ही है ॥५४॥

विवेचन—इन्द्रियोंके विषय सुखकी प्राप्तिसे दुःखकी या इच्छाकी निवृत्ति होती है। पर वह वस्तुतः क्या है? दुःखरूप ही है। बाह्य पदार्थोंकी इच्छा होने पर उनके मिलनेसे कुछ सुख तो मिलता है तब भी वह वास्तवमें दुःख ही है। वह तृप्ति देनेवाला नहीं है, क्षणिक है, दुःख ही है। अतः आत्माके आनंदके सिवाय अन्य पदार्थोंकी प्राप्तिका सुख शाश्वत नहीं है।

न चास्यार्थान्तरावाप्तिरिति ॥५५॥ (५३६)

मूलार्थ—मोक्षके जीवको अन्य पदार्थकी प्राप्ति नहीं रहती।

विवेचन—न च—फिरसे नहीं, अस्य—सिद्ध जीवको, अर्थान्तरावाप्ति—अपनेसे भिन्न भावसे संबंध।

मोक्षमें गये हुए जीवको अपनेसे भिन्न अन्य पुद्गल आदि भावसे कोई संबंध नहीं रहता। अतः आत्माको दुःख नहीं है, वह परम आनंद पाता है।

स्वस्वभावनियतो ह्यसौ विनिवृत्तेच्छाप्रपञ्च इति ॥५६॥ (५३७)

मूलार्थ-जिसने इच्छा समूहका नाश कर दिया है ऐसा सिद्ध जीव अपने स्वभावमें ही रहता है ॥५६॥

विवेचन-स्वस्वभावनियत -अपने स्वरूपमात्रमें ही रहनेवाला, **असौ**-जिस सिद्ध भगवानने, **विनिवृत्तेच्छाप्रपञ्च**-सर्व पदार्थोंके प्रति इच्छाका नाश कर दिया है।

तीनों भुवनके सब पदार्थोंकी ओरसे अपनी अभिलाषाको खत्म कर दिया है। क्योंकि वे उसे शाश्वत सुख देनेवाली नहीं है ऐसा अनुभवसिद्ध है अतः वह अपने आत्मामें ही रहता है वहीं उसे शाश्वत शांति मिलती है। बाह्य पदार्थोंकी अभिलाषा नहीं है। सिद्ध क्षेत्र गत आकाशके साथ भी सिद्ध जीवका संबंध नहीं है ऐसा बताते हैं—

अतोऽकामत्वात् तत्स्वभावत्वान्न लोकान्तक्षेत्राप्तिराप्तिः ॥५७॥ (५३८)

मूलार्थ-निष्काम होनेसे, निष्काम स्वभाव होनेसे लोकांतस्थित सिद्धक्षेत्रमें जाने पर भी उसकेसाथ संबंध नहीं है ॥५७॥

विवेचन-अत- सब इच्छाओंके नाश हो जानेसे, **अकामत्वं**-जो निष्कामपना या निरभिलाषता, **तत्स्वभावत्वं**- उससे आत्मासे भिन्न वस्तुओंकी अपेक्षा न होनेसे, **लोकान्तक्षेत्राप्ति**- लोकांतक्षेत्रकी प्राप्ति होने पर भी, **आप्ति** - आत्मासे भिन्न आकाशसे संबंध।

सिद्ध जीवकी आशातृष्णाएं नष्ट हो चुकी है अतः वह निष्काम होना सिद्ध जीवका स्वभाव है। इस कारण यद्यपि वह सिद्ध-क्षेत्रमें जाते हैं तव भी उनका व सिद्धक्षेत्रका कोई संबंध नहीं है। उसका कारण यह है कि—

औत्सुक्यवृद्धिर्हि लक्षणमस्याः, हानिश्च समयान्तरे इति ॥५८॥ (५३९)

मूलार्थ—एक समयमें उत्सुकताकी वृद्धि और दूसरे समय नाश (अन्य वस्तु प्राप्तिका) लक्षण है ॥५८॥

विवेचन—लक्षणमस्याः— अर्थांतर (आत्मासे भिन्न) प्राप्तिका स्वरूप, हानिश्च—उत्सुकता नाश होना, समयान्तरे—प्राप्ति समयके बादके समयमें।

सिद्ध जीव सिद्धिक्षेत्रमें जाता है फिर भी सिद्धिक्षेत्रसे उनका कोई संबध नहीं है। किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेके लिये जो उत्सुकता होती है वह प्राप्तिके बाद ही नष्ट हो जाती है यह अर्थांतर प्राप्तिका स्वरूप है और यह दुःख मूलक है अतः सिद्धको ऐसी उत्सुकता नहीं होती। सिद्धको यह उत्सुकता लक्षण क्यों नहीं है? कहते हैं—

न चैतत् तस्य भगवतः, आकालं तथावस्थितेरिति ॥५९॥ (५४०)

मूलार्थ—भगवानको यह उत्सुकता नहीं है क्योंकि यावत् काल वे उसी स्थिति मे रहते हैं ॥५९॥

विवेचन–**एतत्**–कहा हुआ अर्थान्तर प्राप्तिका स्वरूप, **तस्य**–सिद्ध भगवानको, **आकालं**–आनेवाले सदा काल तक, सारे समय तक, **तथावस्थितेः**–उसी प्रकार रहना।

सिद्ध जीवको कोई अन्य पदार्थ प्राप्त करनेकी उत्सुकता नहीं है। वे सदा काल तक उसी अपने स्वरूपमें रहनेवाले हैं। सर्व कर्मसे मुक्त होकर ऊर्ध्व गति करके सिद्ध होनेके प्रथम समयसे लेकर जहां तक काल रहेगा अर्थात् अनत समय तक प्रथम समयमें रही हुई उनकी अपनी स्थितिमे स्वस्वरूपमें रमण करनेकी स्थितिमें रहेंगे।

कर्मक्षयाविशेषादिति ॥६०॥ (५४१)

मूलार्थ–कर्मक्षयमें विशेषता न होनेसे ॥६०॥

विवेचन–जिस क्षणमे सिद्धत्वकी प्राप्ति हुई उसी प्रथम क्षणमें सकल कर्मक्षय हो चुके थे या हो जाते हैं अतः उनका सब क्षणोमें–सब समयमें एकरूपता है, भेद नहीं। अतः सिद्ध भगवान सदा काल उसी स्थितिमें रहते है। कर्मक्षयसे जो अपना स्वरूप प्रगट हुआ है सर्व समयमे उसी स्वरूपमें रहते हैं। कोई विशेष कर्मक्षय करनेके लिये बचे ही नहीं है कि उनका विशेष स्वरूप प्रगट हो।

इति निरुपमसुखसिद्धिरिति ॥६१॥ (५४२)

मूलार्थ–इस प्रकार सिद्ध भगवानको निरुपम सुख है ऐसा सिद्ध हुआ ॥६१॥

विवेचन-इस प्रकार उत्सुकताका पूर्ण नाश हो जाने पर सिद्ध जीवोको निरुपम (उपमा रहित) सुखकी प्राप्ति होती है यह बात सूत्र परंपरासे सिद्ध हुई। ऐसी ही श्रद्धा रखना।

अब उपसंहारमें उसे कहते हैं—

सद्ध्यानवह्निना जीवो, दग्ध्वा कर्मेन्धनं भुवि।
सद्ब्रह्मादिपदैर्गीतं, स याति परमं पदम् ॥४६॥

मूलार्थ-शुक्ल ध्यानरूप अग्निसे कर्मरूपी इंधनको जलाकर 'सत् ब्रह्म' आदि पदों द्वारा जीव शास्त्रमें वर्णित परम पदको पाता है ॥४६॥

विवेचन-**सद्ध्यानवह्निना**-शुक्ल ध्यानके जलते हुए अग्निद्वारा, **जीवः**- भव्य प्राणी, **दग्ध्वा**-जलाकर, **कर्मेन्धनं**-भवोपग्राही कर्मरूप काष्ठको, **भुवि**- मनुष्य क्षेत्र-पृथ्वीमें, **सद्ब्रह्मादिपदैः**- सुंदर ऐसे ब्रह्म, लोकांतवासी आदि शब्द और पदोंसे वर्णित, **सः**- शुद्ध साधुधर्मका आराधन करनेवाला जीव, **याति**-पाता है।

इस मनुष्यक्षेत्र पृथ्वी पर रहा हुआ शुद्ध धर्मको आराधन करनेवाला जीव शुक्ल ध्यानकी अग्निसे सब कर्मरूप इंधनको जला देता है। शास्त्रोमे सद् या ब्रह्मपदेसे कहा हुआ परम पद वह प्राप्त करता है। मनुष्य ही यह पद पा सकता है। वह लोकांत या सिद्धक्षेत्र इस चौदह राजलोकके उपर आया हुआ है। कर्म रहित जीवकी ऊर्ध्व गति होकर वहां कैसे जाता है? कहते हैं—

पूर्वविधवशादेव, तत्स्वभावत्वतस्तथा।
अनन्तवीर्ययुक्तत्वात्, समयेनानुगुण्यतः ॥४७॥

मूलार्थ-पूर्व संस्कार वश कर्मरहित होने पर भी ऊर्ध्व-गमन करता है। और उस प्रकारके स्वभावसे तथा अनंत वीर्य युक्त होनेसे एक समयमें समश्रेणिके आयसे परम पदको पाता है ॥४७॥

विवेचन-**पूर्वविधवशात्**-पूर्व संसार अवस्थाके गमन आवेशसे **तत्स्वभावत्वतः**-यह ऊर्ध्वगमनके स्वभावसे बन्धनयुक्त होकर अरंडीके बीजकी तरह ऊपर जानेका उसका स्वभाव होनेसे, **अनन्तवीर्ययुक्तत्वात्**-अपार सामर्थ्यसंपन्न होनेसे, **समयेनानुगुण्यतः**-शैलेशी अवस्था पाकर एक ही समयमें आकाशरूप क्षेत्रमें समश्रेणिद्वारा (परम पदको जाता है)।

संसार अवस्थामें गमन करनेका समय होनेसे कर्म रहित जीव भी गमन करता है। कर्ममल रहित होकर जीव अपने स्वभावसे ही ऊर्ध्वगमन करता है तथा सारे लोकालोकके आकाशको पार करके लोकांत तक पहुंचता है। उसे अनंत सामर्थ्य होनेसे भी वह एक ही समयमें समश्रेणिमें परमपद मोक्षको पहुंच जाता है।

स तत्र दुःखविरहादत्यन्तसुखसंगतः।
तिष्ठत्ययोगो योगीन्द्रवन्द्यस्त्रिजगदीश्वरः ॥४८॥

मूलार्थ-दुःखके विरहसे, अत्यंत सुखसहित, योगीन्द्रों द्वारा वंदनीय तीन जगतके परमेश्वर अयोगी सिद्ध भगवान मोक्षमें स्थित है ॥४८॥

विवेचन-सः-वह जीव, तत्र-सिद्धक्षेत्रमें, दुःखविरहात्-शरीर व मनको होनेवाले सब कष्टोसे रहित, अत्यन्तसुखसंगतः-आत्यंतिक व ऐकान्तिक सुखरूप सागरके बीचमें मग्न होकर (रहते हैं), अयोगः-मन वचन व कायाके व्यापारसे रहित, योगीन्द्रवन्द्यः-योगीन्द्रो द्वारा वन्दन करने योग्य, उससे भी त्रिजगदीश्वरः-द्रव्य तथा भाव दोनोंकी अपेक्षासे सब लोगोंके ऊपर रहनेवाले तीनों जगत्के परमेश्वररूप।

वहां सारे दुःखका नाश हो जाता है, अत्यन्त सुख होता है, मन, वचन, व कायाके सब काम बंध हो जाते हैं या होते ही नहीं। अतः अयोगी है। और तीन जगत्के परमेश्वर बनते हैं। सब योगी जन उनको वदन करते हैं तथा सिद्ध भगवानका ध्यान करते हैं। वे शाश्वत आनंदमे सदाकाल रहते हैं।

यहां 'विरह' शब्द आया है वह ग्रन्थके कर्ता हरिभद्रसूरिको बताता है। वे अपने सब ग्रन्थोंके अन्तमें 'विरह' शब्दका प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार मुनिचन्द्र सूरि द्वारा धर्मबिन्दुकी टीकाका
धर्मफल विशेष विधि नामक
आठवां अध्याय समाप्त हुआ।

टीकाकार मुनिचन्द्रसूरि ग्रन्थ समाप्ति पर लिखते हैं—

नाविःकर्त्तुमुदारतां निजधियो वाचां न वा चातुरी,
मन्ये नापि च कारणेन न कृता वृत्तिर्मयाऽसौ परम्।

तत्त्वाभ्यासरसादुपात्तसुकृतोऽन्यत्रापि जन्मन्यह,
सर्वादीनवद्दाजितोऽमलमना भूयासमुच्चैरिति ॥१॥

—मैंने यह टीका अपनी बुद्धिकी उदारता या वाणीकी चतुराई प्रगट करने या अन्य किसी कारणसे नहीं की पर तत्त्वके अभ्यासके रससे पुण्य उपार्जन करके अन्य जन्ममे भी सव दु खोंका नाश होनेसे निर्मल मनवाला बनूं ऐसी शुभ इच्छासे यह टीका की है।

मुनिचंद्रसूरि विरचित धर्मबिन्दुवृत्ति समाप्त ॥

प्रत्यक्षरं निरूप्यास्या ग्रन्थमानं विनिश्चितम् ।
अनुष्टुभां सहस्राणि त्रीणि पूर्णानि बुद्धयताम् ॥

ग्रन्थके मानको निश्चित करनेके लिये प्रत्येक अक्षरके हिसावसे पूर्ण तीन हजार अनुष्टुभ श्लोकके बराबर प्रमाण है ऐसा जाना जाता है ॥

॥ संपूर्ण ॥